ब्रज का इतिहास

द्वितीय खण्ड

सम्पादक
श्री कृष्णदत्त वाजपेयी
अध्यक्ष, पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा

अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मंडल
मथुरा
सं० २०१५

प्रकाशक
अ० भा० ब्रज साहित्य मण्डल
मथुरा

प्रथम संस्करण ११८० प्रतियाँ
चैत्र शुक्ला १, सं० २०१५
१६५८ ई०

मूल्य आठ रुपए

मुद्रक
बैजनाथ दानी
लोक साहित्य प्रेस
मथुरा

प्राक्कथन

ब्रज का इतिहास, प्रथम खंड, फाल्गुन, सं० २०११ वि० (१९५५ ई०) में प्रकाशित हुआ था। दूसरे खंड की हस्तलिपि उसी वर्ष तैयार हो गई थी, परंतु अनिवार्य कारणों से उसका मुद्रण शीघ्र न पूरा किया जा सका।

जब इतिहास के सम्पादन का भार मुझे सौंपा गया तब मुझे यह भान न था कि यह कार्य इतना श्रमसाध्य होगा। पहले खंड में चौदह अध्याय थे। उनके लिखने का कार्य विभिन्न विद्वानों को सौंपा गया था। परंतु उनमें से एक अध्याय को छोड़ कर शेष मुझे ही लिखने पड़े। सौभाग्य से इतिहास के द्वितीय खंड में यह बात नहीं रही और अन्य विद्वानों का भी सहयोग मुझे प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत द्वितीय खड में छह बड़े अध्याय हैं। पहले में ब्रज में धर्म और दर्शन का कालक्रमानुसार विवेचन किया गया है। इसमें जैन, बौद्ध आदि धर्मों के अतिरिक्त भागवत धर्म के प्रारंभिक विकास तथा तज्जनित मध्यकालीन वैष्णव संप्रदायों का कुछ विस्तार से विवरण उपस्थित किया गया है। दूसरे अध्याय में ब्रज की कला के अंतर्गत स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीत के विविध रूपों का परिचय कराया गया है। तीसरे अध्याय में ब्रज की प्राचीन भाषाओं की चर्चा करने के बाद ब्रजभाषा के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। चौथे अध्याय में पश्चिमी अपभ्रंश-साहित्य की पृष्ठ-भूमिका के पश्चात् भक्ति और रीतिकालीन ब्रजभाषा-साहित्य का सोदाहरण वर्णन है। इस अध्याय के अंत में ब्रजभाषा के प्राचीन गद्य-साहित्य का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। पाँचवाँ अध्याय ब्रज-भाषा के आधुनिक साहित्य पर प्रकाश डालता है। साहित्य-विषयक इन दोनों अध्यायों में ब्रजभाषा के वृहत्तर स्वरूप पर दृष्टिपात किया गया है और इसलिए ब्रजक्षेत्र के बाहर विकसित इस साहित्य को

भी अनिवार्यतः लिया गया है । अंतिम छठा अध्याय ब्रज के लोक-जीवन और लोक-साहित्य से संबंधित है । इस अध्याय के बाद क्रमशः दो परिशिष्ट, सहायक ग्रन्थ-सूची तथा नामानुक्रमणिका दी गई हैं। अन्त में ब्रज की कुछ कलाकृतियों के चित्र तथा एक भौगोलिक मानचित्र दिया गया है।

ब्रज जनपद का इस रूप में इतिहास प्रस्तुत करने का यह प्रथम प्रयास कहा जा सकता है । ग्रन्थ में ऐसी कुछ नवीन सामग्री मिलेगी जो अभी तक अज्ञातप्राय थी । ब्रज से संबंधित विविध विषयों पर अनुसंधान करने वालों तथा इस जनपद की सम्यक् जानकारी चाहने वालों के लिए यह ग्रन्थ थोड़ा-बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। इसमें जिन विषयों का परिचय दिया गया है वे इतने बड़े हैं और प्रायः सभी पर इतनी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है कि प्रत्येक पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं । कुछ कार्य इस दिशा में सम्पन्न किया जा चुका है, परन्तु अभी बहुत करना शेष है । इस इतिहास में कुछ बातें ऐसी भी मिलेंगी जिनके संबंध में अनेक विवाद प्रचलित हैं । उन पर अधिक अन्वेषण अपेक्षित है ।

यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि ब्रज के इतिहास का केवल जनपदीय महत्व नहीं, उसका व्यापक महत्व भी है । भारतीय धर्म-दर्शन, कला, भाषा और साहित्य को ब्रज की विशेष देन है। ब्रज-भूमि एक दीर्घ काल तक भारतीय संस्कृति का उल्लेखनीय केंद्र रही है और इस दृष्टि से ब्रज के इतिहास का महत्व बढ़ जाता है। प्रस्तुत इतिहास को भारतीय इतिहास की व्यापक पृष्ठभूमि में समझना अधिक उपयोगी होगा ।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन संभव न था यदि उत्तर प्रदेश शासन की आर्थिक सहायता और उसके मुख्य मंत्री डा० संपूर्णानंदजी का प्रोत्साहन ब्रज साहित्य मंडल को प्राप्त न होता रहता । 'मंडल' इसके लिए शासन, मान्य मुख्य मंत्रीजी तथा प्रदेश के शिक्षा विभाग का

अत्यंत आभारी है । जिन विद्वानों ने कृपापूर्ण सहयोग देकर इस ग्रन्थ के लिखने में हाथ बटाया उनके प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ । सर्वश्री जगन्नाथ अहिवासी, चुन्नीलाल 'शेष', चद्रभान रावत, प्रभुदयाल मीतल, रामनारायण अग्रवाल, भगवानदत्त चतुर्वेदी तथा शत्रुघ्नदत्त दुबे ने उन्हें सौपे गए विभिन्न अंशों को लिखने मे पर्याप्त श्रम किया है । पुस्तक के अंत में नामानुक्रमणिका श्री शिवविलास वाजपेयी ने तैयार की है ।

ग्रंथ के आरंभ में दिया गया वृन्दावन-गमन-संबंधी काँगड़ा चित्रशैली का १८वीं श० का चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली की कृपा से प्राप्त हुआ है । इसके लिए मै उक्त संग्रहालय के अधिकारियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । फलक एक से सात तक प्रकाशित चित्र पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा की कृपा से उपलब्ध हुए हैं । फलक आठ पर ब्रज के प्रसिद्ध चित्रकार श्री जगन्नाथ अहिवासी की कृति है । ब्रज तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र का मानचित्र श्री रामसिंह रावत द्वारा तथा ग्रंथ के आवेष्टन पर गोवर्द्धनधारी कृष्ण-मूर्ति का रेखा-चित्र श्री ब्रजकिशोर द्वारा तैयार किया गया है । इन दोनों सज्जनों को मैं धन्यवाद देता हूँ ।

उन विद्वानों के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना मेरा कर्त्तव्य है जिन्होंने अपने संप्रदायों के संबध में मुझे आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करने की अत्यंत कृपा की । इनमें अधिकारी श्रीब्रज-वल्लभशरणजी, श्री किशोरीशरण 'अलि', बाबा कृष्णदासजी, श्री गोविंददास तथा श्री छबीलेवल्लभ गोस्वामी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । उन विद्वानों के प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ जिनकी रचनाओं से मुझे अनेक स्थलों पर सहायता प्राप्त हुई । उनके नाम ग्रंथ में यथास्थान दे दिए गए हैं ।

ब्रज साहित्य मंडल के प्रधान मंत्री श्री बनवारीलाल शर्मा, अर्थ-मंत्री श्री चिरंजीलाल जैन, प्रकाशन-मंत्री श्री मदनलाल जैन

तथा पूर्व-अर्थमंत्री श्री शर्मनलाल अग्रवाल से मुझे इस ग्रंथ के मुद्रण के संबंध में बराबर सहयोग प्राप्त होता रहा। लोकसाहित्य प्रेस, मथुरा के प्रबंधक श्री बैजनाथ दानी ने मुद्रण-कार्य में व्यक्तिगत रुचि ली इस पुस्तक की छपाई में विलम्ब का एक लाभ अवश्य हुआ कि इधर ब्रज के संबंध में अन्यत्र जो नए प्रकाशन हुए उनमें से कई का उपयोग किया जा सका।

प्रस्तुत प्रकाशन में जो कमियाँ रह गईं हैं उनके संबंध में, आशा है, विद्वानों के सुझाव मुझे प्राप्त होंगे, जिससे अगले संस्करण में उन्हें दूर किया जा सके।

मथुरा,
नववर्ष (चैत्र शु० १, सं० २०१५)

—कृष्णदत्त वाजपेयी

संकेत-सूची

अ० = अध्याय

अथर्व० = अथर्ववेद

अष्ट० = अष्टछाप

अष्ट० और व० सं० = अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय

आ० स० रि० = आर्केओलाजिकल सर्वे रिपोर्ट

आर्के० = आर्केओलाजिकल

ई० पू० = ईसवी पूर्व

उदा० = उदाहरण

चै० च० = चैतन्य चरितामृत

छांदोग्य० = छांदोग्य उपनिषद्

जि० = जिल्द; जिला

जे० बी० बी० आर० ए० एस० = जर्नल आफ़ बम्बई ब्रांच आफ़ रायल एशियाटिक सोसायटी

तै० उप० = तै० उपनिषद्

दे० = देखिए

द्र० = द्रष्टव्य

द्वि० = द्वितीय

ना० प्र० प० = नागरी प्रचारिणी पत्रिका

पृ० = पृष्ठ

प्रका० = प्रकाशित

पो० अ० ग्र० = पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ

प्रा० प्र० = प्राकृत प्रकाश

मनु० = मनुस्मृति

रामा० = रामायण

संग्रहा० = संग्रहालय

सै० बु० ई० = सैक्रेड बुक्स आफ़ दि ईस्ट

संपा० = संपादक

सं० = सम्वत्

हिं० सा० = हिन्दी साहित्य

हे० प्रा० व्या० = हेमचन्द्र-कृत प्राकृत-व्याकरण

❁ विषय-सूची ❁

द्वितीय खण्ड

पृष्ठ

अध्याय १—धर्म और दर्शन १—६४

[लेखक श्री कृष्णदत्त वाजपेयी]

अध्याय ३–ब्रज में भाषा का विकास १२९–१९६

[लेखक श्री चन्द्रभान रावत, एम० ए०, प्राध्यापक
किशोरीरमण डिग्री कालेज, मथुरा]

अध्याय ४–ब्रज का साहित्य १९७–३५६

[लेखक श्री चन्द्रभान रावत तथा श्री कृष्णदत्त वाजपेयी]

अध्याय ६—ब्रज का लोक-जीवन और लोक-साहित्य ४०९-४८६

[लेखक श्री चन्द्रभान रावत एम० ए०]

परिशिष्ट १

परिशिष्ट २

चित्रसूची

—

नंदादि का गोकुल छोड़कर वृन्दावन-गमन
(कापीराइट : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)

अध्याय १

धर्म और दर्शन

'ब्रज का इतिहास', प्रथम खण्ड,[1] में ब्रज जनपद के धार्मिक महत्व की ओर इङ्गित किया जा चुका है। इस द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय में हम उन धार्मिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे जो इस जनपद में समय-समय पर विद्यमान रहीं। ब्रज-भूमि को यह गौरव प्राप्त है कि यहाँ जैन, बौद्ध, भागवत, शैव, शाक्त आदि भारत के प्रायः सभी प्रमुख प्राचीन मतों का विकास हुआ। इतिहास के विभिन्न युगों में अनेक धर्मों के बड़े केन्द्र ब्रज में स्थापित हुए। इन केन्द्रों में एक दीर्घ काल तक धर्म, दर्शन, साहित्य और कला की उन्नति होती रही, जिसका न केवल ब्रज के इतिहास में, अपितु भारतीय इतिहास में उल्लेखनीय महत्व है।

यहाँ हम ब्रज के धार्मिक इतिहास का अध्ययन, सुविधा के लिए, निम्नलिखित काल-विभागों में प्रस्तुत करेंगे—

१—ई० पूर्व छठी शती के पहले की स्थिति
२—ई० पूर्व ६०० से २०० ई० तक
३—२०० से १४०० ई० तक
४—१४०० से १६०० ई० तक
५—आधुनिक प्रवृत्तियाँ

(१) ई० पूर्व छठी शती के पहले की स्थिति

इस लंबे काल का विस्तृत इतिहास उपलब्ध नहीं है। परन्तु इतना निश्चित है कि चंद्र वंश की प्रसिद्ध शाखा यादव वंश का अधिकार

१. प्रका० ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा, सं० २०११।

शूरसेन जनपद पर प्रायः अक्षुण्ण रहा। इस जनपद की राजधानी मथुरा रही। पुराणों में उशनस्–जैसे कुछ यादव राजाओं के संबंध में मिलता है कि उन्होंने अनेक अश्वमेध यज्ञ किए। शूरसेन की तरह उसके पड़ोसी राज्य पंचाल में भी वैदिक यज्ञों का प्रचलन था। वहाँ के अनेक शासकों द्वारा अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञ करने और ब्राह्मणों को प्रभूत दक्षिणा देने के उल्लेख मिलते हैं। पंचाल के लोगों की यज्ञ-प्रणाली को वैदिक साहित्य में बहुत उत्तम कहा गया है। वहाँ की भाषा को भी श्रेष्ठ बताया गया है। पंचालों ने अपने समीपवर्ती कुरु लोगों के साथ मिलकर संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों को अन्तिम रूप प्रदान किया[1]। शूरसेन जनपद में भी इस काल के आरम्भ में वैदिक कर्मकांड का प्राधान्य रहा होगा।

मथुरा में श्रीकृष्ण के आविर्भाव से एक नए युग का प्रवर्तन हुआ। उन्होंने अपने समय में प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं में समन्वय स्थापित कर निष्काम कर्म का महत्व प्रतिपादित किया। उनका तथाकथित गीता-उपदेश भारतीय चिंतन का शीर्ष विंदु है, जिसमें प्रमुख विचारधाराओं की व्याख्या के साथ व्यावहारिक जीवन-दर्शन का विवेचन मिलता है। यद्यपि जिस रूप में वर्तमान गीता उपलब्ध है उसे बाद की रचना माना जाता है, परन्तु इसका मूल विवेच्य विषय वही है जिसे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कुरुक्षेत्र में मौखिक रूप से बताया और जिसे उन्होंने अपने लम्बे जीवन में व्यवहृत भी किया। श्रीकृष्ण उस भागवत धर्म के प्रवर्तक हुए जिसने शुद्ध सात्विक भक्ति को अपना अवलम्ब बनाकर कोटि-कोटि जन को कल्याणमय जीवन का मार्ग बताया। यही भागवत धर्म कालांतर में भारत का एक प्रमुख धर्म बना, जिसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ पल्लवित-पुष्पित हुईं। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा।

---

१. ब्रज का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० ६१–६३।

श्रीकृष्ण के पश्चात् कुरु-पंचाल जनपद के उच्च वर्ग में दार्शनिक प्रवृत्ति बढ़ी। कुरुवंशी राजा अश्वमेधदत्त के समकालीन पंचाल के शासक प्रवाहण जैबलि हुए। उपनिषदों में उन्हें एक महान् दार्शनिक कहा गया है[1]। उनकी विद्या-परिषद् में श्वेतकेतु अपने ज्ञान की परीक्षा देने गए। उसमें असफल होने पर श्वेतकेतु ने अपने पिता ऋषि आरुणि के साथ प्रवाहण जैबलि से आत्म-विद्या का उच्च ज्ञान प्राप्त किया।

तत्त्व-चिंतन की यह प्रवृत्ति तत्कालीन शूरसेन जनपद में भी रही होगी। हो सकता है कि यहाँ भी ब्राह्मण तथा आरण्यक साहित्य के कुछ अंशों का संकलन हुआ हो और कतिपय उपनिषद् ग्रन्थ भी लिखे गए हों।

परन्तु विवेच्य काल में शूरसेन तथा उसके समीपवर्ती प्रमुख जनपदों में वैदिक कर्मकांड का ही प्राधान्य रहा। यज्ञों के अनेक क्रिया-कलाप इस समय में प्रचलित थे। ब्राह्मणों का पद ऊँचा माना जाता था। प्रायः वे ही यज्ञ कराने के अधिकारी होते थे। पुरोहितों को यज्ञ-कर्ताओं से प्रभूत दक्षिणा प्राप्त होती थी। परवर्ती वैदिक साहित्य में इस सम्बन्ध में जो प्रचुर उल्लेख प्राप्त हैं उनसे इसकी पुष्टि होती है।

प्राचीन बौद्ध साहित्य से भी उत्तर भारत में महात्मा बुद्ध के पहले की धार्मिक स्थिति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इस साहित्य से पता चलता है कि यक्षों तथा नागों की भी पूजा उस काल में प्रचलित थी। यक्षों के अनेक बड़े केन्द्र मथुरा, आलवी आदि स्थानों में थे। ये यक्ष महान् शक्तिशाली तथा धन के अधिपति माने जाते थे। यक्षों तथा यक्षियों की पूजा में लोगों का विश्वास बढ़ चला था। उनके अनेक रूपों की कल्पना की गई थी। यक्षों के पराक्रमी रूप के प्रति लोगों में भयजनित श्रद्धा उत्पन्न हुई। यक्षियों

---

१. द्रष्टव्य बृहदारण्यक उपनि०, ६, १, १, ७; छांदोग्य उपनि०, १,८,१ तथा ५, ३, १।

की साधना प्रायः उनके कल्याणप्रद, सुन्दर-मोहक रूप में की जाती थी। उनका दूसरा रूप भयावना होता था।

महाभारत में यक्ष द्वारा युधिष्ठिर से अनेक प्रश्न पूछने की बात प्रसिद्ध है। इस 'यक्ष-प्रश्न' की वैदिक संज्ञा 'ब्रह्मोद्य'[1] थी। उत्तर भारत में यक्ष-पूजा का बहुत अधिक प्रचार हो गया था। इसका विशेष पता हमें बौद्ध और जैन साहित्य से चलता है, जिसमें उबरदत्त, सुरंवर, मणिभद्र, भंडीर, शूलपाणि, सुरप्रिय, घंटिक, पूर्णभद्र आदि कितने ही शक्तिशाली यक्षों के नाम मिलते है। इसी प्रकार कुन्ती, नटा, भट्टा, रेवती, तमसुरो, लोका, मेखला, आलिका, बेन्दा, मघा, तिमिसिका आदि अनेक यक्षियों के नाम भी प्राप्त होते हैं[2]। इनसे लोग बहुत भय खाते थे। अन्तिम चारों यक्षियाँ मथुरा की थीं। बुद्ध ने उन्हें दुष्प्रवृत्तियों से निवृत्त किया। मथुरा में गर्दभ नामक यक्ष बड़ा शक्तिशाली था। उसका दमन कर बुद्ध ने मथुरा के निवासियों का कष्ट दूर किया[3]। उसी प्रकार आलवी का दुर्दांत यक्ष भी बुद्ध द्वारा विनम्र बनाया गया।

नागों की पूजा भी मथुरा और उसके आसपास प्रचलित थी। वे जल के देवता तथा शक्ति एवं समृद्धि के प्रतिनिधि माने जाते थे। संतान की इच्छा वाली स्त्रियां विशेष रूप से इनकी पूजा करती थीं।

---

१. यजुर्वेद, ३२, ६ तथा ४५। यक्ष के लिए वैदिक साहित्य मे 'ब्रह्म' नाम प्रायः मिलता है। इसकी पूजा का प्रचलन 'बरम' तथा 'बरमदेव' नाम से आज तक विद्यमान है। बीर, जखैया आदि की पूजा भी प्राचीन यक्ष-पूजा के आधुनिक रूप हैं। इसी प्रकार यक्षिणी-पूजा के प्रकार माता, जोगिनी, डाकिनी आदि की पूजा में देखे जा सकते हैं।

२. द्रष्टव्य डा० मोतीचन्द्र, 'सम ऐस्पेक्ट्स आफ यक्ष कल्ट' (बुलेटिन आफ दि प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई, १९५४), पृष्ठ ४३ तथा आगे।

३. इस यक्ष के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिए देखिए नलिनाथ दत्त, गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३, भाग १, पृ०१४-१७।

विवेच्य काल की अनेक लौकिक मान्यताओं तथा अंध-विश्वासों का भी पता चलता है। इनमें से कुछ इस प्रकार थे—हस्त-ज्योतिष, दैव-कथन, दैवी घटनाओं से फलों का कथन, स्वप्न-फल, मूषकों द्वारा काटे हुए कपड़े का फल-कथन, अग्नि-वलि, विभिन्न प्रकार के देवों को वलि-प्रदान, भाग्यप्रद, स्थानों का अभिज्ञान, मंत्र-तंत्र, प्रेत विद्या, सर्प तथा विविध पशु-पक्षियों का वशीकरण, फलित ज्यौतिष, विविध प्रकार की भविष्यवाणियां, किसी लड़की में देव को बुला कर या दर्पण की सहायता से रहस्य का उद्‌घाटन, गुप्त धन खोजने की विद्या, सर्वशक्तिमान की उपासना, 'सिरि' या लक्ष्मी देवी का आह्वान, देवों की आन या सौगन्ध, वशीकरण और इन्द्रजाल की विद्याएँ[1]।

इस प्रकार लोक में अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण क्रियाओं एवं तन्त्र-मन्त्रों में अंध श्रद्धा विद्यमान थी। अग्नि, इन्द्र आदि वैदिक देवताओं की पूजा भी प्रचलित थी। परन्तु उसके साथ मातृदेवियों, वृक्ष-देवताओं, यक्षों, नागों तथा असुरों की पूजा भी होती थी। इन लौकिक देवी-देवताओं में कुछ तो दयालु थे और कुछ कठोर और क्रोधी। अनेक देवता वायु, मेघ, गर्मी, प्रकाश आदि के प्रतीक माने जाते थे और कुछ मानसिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते थे।

अनेक मत-मतान्तर फ़ल-फल रहे थे। इस संक्रांति काल में धार्मिक मान्यताओं के सम्बन्ध में लोगों को विचार-स्वातन्त्र्य प्राप्त था। कुछ आधुनिक विद्वानों का यह विचार कि बुद्ध के पूर्व भारतीय समाज ब्राह्मणों द्वारा पैदा की गई धार्मिक रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था, युक्तिसंगत नहीं है। वास्तव में इस काल के लोग धार्मिक विषयों में प्रायः स्वतंत्र थे, जिसके फलस्वरूप चिंतन की कितनी ही धाराएँ एवं संप्रदाय अस्तित्व में आ गए थे। पाली साहित्य के

---

१. द्रष्टव्य रिज डैविड्स, बुधिस्ट इण्डिया (कलकत्ता १९५०), पृ० १४३-४४।

अनुसार उत्तर भारत में बुद्ध के धर्म-प्रचार के पूर्व ६२ संप्रदाय विद्यमान थे। ये आजीवक, परिव्राजक, जटिलक, मुण्डश्रावक, तेदंडिक आदि थे। जैन ग्रन्थों में इन सम्प्रदायों की संख्या ३६३ दी हुई है। धीरे-धीरे इनमें से कितने ही वैदिक धर्म में या जैन एवं बौद्ध धर्मों में समा गए। बुद्ध के समय में विभिन्न धर्मों के अनेक विद्वान् प्रचारक मौजूद थे। इनमें पुराण कस्सप, मक्खलि गोषाल, निगंठ नाटपुत्त अजित केशकंबलिन्, असित ऋषि, पकुद्ध कच्चायन, मोग्गलान, संजय वेलट्ठपुत्त, आड़ार कालाम, उद्दक रामपुत्त आदि विद्वानों के नाम मिलते हैं। इनमें से अनेक अपने मतों के आचार्य थे। महात्मा बुद्ध द्वारा उनसे मिलने तथा उनकी दार्शनिक मान्यताओं के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने के उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलते हैं।

(२) ई० पूर्व ६०० से २०० ई० तक

महात्मा बुद्ध का समय (ई० पू० ६२३–५४३) उत्तर भारत के धार्मिक इतिहास में उल्लेखनीय हैं। उनके समय में हुए धार्मिक आन्दोलन का व्यापक प्रभाव पड़ा। स्वयं बुद्ध और उनके समकालीन अन्तिम जैन तीर्थङ्कर महावीर जी इस आन्दोलन के प्रमुख कर्णधार थे। धीरे-धीरे मथुरा नगर बौद्ध एवं जैन धर्मों का केंद्र बना और एक दीर्घ काल तक यहाँ इन दोनों मतों का विकास होता रहा। विवेच्य काल में भागवत मत ने भी मथुरा और उसके आसपास के प्रदेश में अपनी जड़ें जमाईं। यहाँ इन तीनों धर्मों के विकास का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

बौद्ध धर्म

बुद्ध के समकालीन मथुरा के शासक अवंतिपुत्र (अवंतिपुत्तो) का उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है। उसे अवंती राज्य के प्रतापी शासक चड प्रद्योत का दौहित्र कहा गया है 'मज्झिम निकाय' आदि बौद्ध ग्रंथों में अवंतिपुत्र द्वारा बौद्ध धर्म को अङ्गीकार करने

का उल्लेख मिलता है[1]। मूल सर्वास्तिवाद के 'विनयपिटक', 'अशोकावदान' के चीनी संस्करण तथा 'दिव्यावदान' आदि ग्रंथों में बुद्ध के मथुरा-आगमन, उनके द्वारा यक्षों के दमन तथा सद्धर्म-प्रचार का संकेत मिलता है[2]। इन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि मथुरा में बुद्ध के आगमन-समय में यक्षों का बड़ा जोर था और लोग उनसे घबड़ाते थे, बुद्ध ने बड़ी सावधानी के साथ यहाँ के दुर्दांत यक्षों और यक्षियों का दमन कर लोगों का भय दूर किया। इनमें सबसे प्रबल ५०० परिवार वाला गर्दभ या गर्दभक यक्ष था, जो छोटे बच्चों को मार कर खा जाता था और जिससे मथुरा-वासी बहुत त्रस्त थे। उक्त बौद्ध साहित्य के अनुसार महात्मा बुद्ध ने सबके सामने गर्दभ यक्ष से बात की और उसे विनीत बनाया। उन्होंने शर तथा वन नामक अन्य यक्षों तथा आलिका, बेंदा, मघा, तिमिसिका आदि यक्षियों को भी सन्मार्ग पर प्रवृत्त किया। इन यक्षियों में तिमिसिका ५०० परिवार वाली थी। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार मथुरा नगर और उसके बाहर कुल मिलाकर ३,५०० यक्ष भगवान् बुद्ध द्वारा सद्धर्म में प्रवृत्त किए गए। इन यक्षों के लिए मथुरा के नागरिकों ने नगर के बाहर मकान बनवा दिए।

शूरसेन जनपद में बुद्ध का विरोधी यहाँ का ब्राह्मण-वर्ग भी था। बौद्ध ग्रंथों में आया है कि मथुरा में बुद्ध के आने पर यहाँ के ब्राह्मणों ने, जिनका नेता नीलभूति था, उन्हें अपमानित करना चाहा। परन्तु बुद्ध के शील और सौजन्य ने उन पर विजय पाई और नीलभूति आदि कितने ही ब्राह्मण उनके प्रति श्रद्धा-नत हो गए। मथुरा में जिन दोषों का अनुभव तथागत ने किया वे ये थे—

---

१. ब्रज का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० ६५—६७।

२. द्रष्टव्य कृष्णदत्त वाजपेयी, 'प्राचीन मथुरा में यक्ष', 'ब्रजभारती', वर्ष १३, अङ्क २, पृ० ३७–४१ तथा 'डेवलेपमेंट आफ़ बुद्धिज्म इन उत्तर प्रदेश', (लखनऊ, १९५९), पृ० २६०–६२।

यहाँ के लोगों में ऊँच-नीच का भाव था, यहाँ की भूमि ऊबड़-खाबड़ और कँटीली थी, स्त्रियों का आधिक्य था तथा अधिकांश लोग रात्रि के अंतिम प्रहर में भोजन करते थे।

मथुरा से बुद्ध ओतला होते हुए वैरंभ[1] पहुँचे, जहाँ उन्होंने अपने पाँच सौ अनुयायिओं के साथ वर्षा व्यतीत की। इस समय वहाँ अकाल के कारण सबको नितांत कष्ट हुआ। वहाँ से वे समीपवर्ती जनपद पंचाल में गए।

पाली साहित्य में मथुरा में बुद्ध के आने का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि उसमें वेरंज (वैरंभ) तक जाने का कथन उपलब्ध है। संभवतः सर्वास्तिवादियों ने अपनी प्राचीनता दिखाने के उद्देश्य से बुद्ध के मथुरा जाने तथा उनके द्वारा उपगुप्त के सम्बन्ध में भविष्यवाणी आदि करने की चर्चा जान-बूझ कर नहीं की।

मथुरा में बुद्ध के आगमन से तथा महाकात्यायन-जैसे उनके कर्मठ अनुयायिओं के प्रचार-कार्य से शूरसेन जनपद में बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ा। यहाँ के पुराने रूढ़िवादी ब्राह्मणों का एक वर्ग भी बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धालु हो गया।

बुद्ध की मृत्यु के एक शती पश्चात् बौद्ध संघ दो भागों में बँट गया—१. थेर (स्थविर)–वाद २. महासंघिक। थेरवाद प्राचीन परम्परा वाला या रूढ़िवादी हुआ और दूसरा प्रगतिशील। दूसरे कों बाद में 'महायान' संज्ञा प्रसिद्ध हुई। मथुरा में या उत्तर प्रदेश के अन्य स्थानों में महायान का विस्तार नहीं के बराबर हुआ। इसके प्राचीन केन्द्र दक्षिण में आन्ध्र देश में थे। कालांतर में गंधार, काश्मीर और मध्य एशिया में उसके केन्द्र स्थापित हुए।

उत्तर प्रदेश में रूढ़िगत थेरवाद से किंचित् भिन्न सर्वास्तिवाद (संस्कृत हीनयान) का विकास हुआ। महायान के दार्शनिकों

---

१. इसका नाम 'वेरंज' भी मिलता है। यह स्थान मथुरा नगर के पश्चिम में कुछ दूर पर स्थित प्रतीत होता है।

नागार्जुन, असंग, वसुबंधु आदि ने इसे शून्यवाद, आदर्शवाद, (विज्ञप्ति-मातृका) आदि नामों से कहकर उसकी खिल्ली उड़ाई।

मथुरा को सर्वास्तिवादियों ने अपना मुख्य केन्द्र बनाया। यहाँ से वे गंधार, कश्मीर में और फिर मध्य एशिया तथा चीन में फैले। मथुरा में इनके जमने की कथा इस प्रकार है—सिंहली बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि सम्राट् अशोक अपने भतीजे निग्रोध सामणेर के द्वारा दीक्षित किया गया। अशोक ने भारत में कुल ८४,००० स्तूप बनवाए। पाटलिपुत्र में उसने अशोकाराम बनवाया। अन्य स्थानों की भाँति पाटलिपुत्र में थेरवादियों और महायानियों में झगड़े पैदा हो गए। अशोक ने बौद्ध धर्म की एक संगति बुलाई, जिसमें थेरवादी ही उपस्थित हुए; उनके विरोधी पाटलिपुत्र से बाहर चले गए। हुएनसांग ने लिखा है—

"पाटलिपुत्र में ५०० अर्हत् और ५०० अनर्हत् थे। द्वितीय में एक मथुरा-वासी महादेव भी था, जो बड़ा विद्वान् और बुद्धिमान था। अशोक का संरक्षण उसे प्राप्त था। दूसरे विद्वान् उससे सहमत न थे। वे लोग वस्तुस्थिति से पूर्णतया असंतुष्ट हो कश्मीर चले गए। अशोक को बाद में यह मालूम हुआ कि अच्छे विद्वान् कश्मीर चले गए, क्योंकि उसने एक धूर्त भिक्षु का पक्ष लिया उसने कश्मीर में अनेक विहार बनवाए[1]।"

उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि मथुरा-वासी महादेव प्रभावशाली व्यक्ति था। महावंश (अ० १२) के अनुसार मज्झांतिक अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ गंधार और कश्मीर भेजा गया। इस मज्झांतिक (मध्यांतिक) को आनंद का शिष्य कहा गया है।

तिब्बती अनुवाद के अनुसार मध्यांतिक का बनारस में बड़ा जोर था। उसके इतने अनुयायी हो गए कि बनारस के लोग इसे अनुचित समझने लगे। इस पर मध्यांतिक अपने शिष्यों सहित

---

१. वाटर्स, 'आन युवान च्वांग', जिल्द १, पृ० २६७।

बनारस छोड़कर मथुरा चले आए और उसके निकट उशीर पर्वत[1] पर रहने लगे।

'दिव्यावदान'[2] में आया है कि महात्मा बुद्ध परनिर्वाण के कुछ पहले मथुरा आए। यहाँ उन्होंने अपने प्रिय शिष्य आनंद को बताया कि एक सौ वर्ष के पश्चात् मथुरा में एक गंधी (इत्र बेचने वाला) पैदा होगा। उसका पुत्र उपगुप्त बुद्ध के समान कार्य सम्पन्न करेगा और उसके उपदेश से कितने ही भिक्षु अर्हत्-पद को प्राप्त करेंगे।

उक्त ग्रंथ से यह भी पता चलता है कि शाणकवासी नामक भिक्षु के उपदेश से उपगुप्त ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। यह शाणकवासी श्रावस्ती के जेतवन वाला सानवासिक ज्ञात होता है, जो सर्वास्तिवाद का बड़ा प्रभावशाली उपदेशक था। मथुरा-निवासियों के आमन्त्रण पर वह यहाँ आया और उसने उन यक्षों का उपद्रव बन्द किया जो पुनः शक्तिशाली हो गए थे। 'दिव्यावदान' में मथुरा के रुरुमुण्ड पर्वत पर दो बौद्ध विहारों के निर्माण का भी उल्लेख है—पहले की स्थापना शाणकवासी द्वारा और दूसरे की मथुरा के दो सेठ-बन्धुओं नट और भट द्वारा की गई। 'दिव्यावदान' में मथुरा की एक महार्घ गणिका वासवदत्ता और उपगुप्त के प्रति उसके प्रेम की भी रोचक कथा मिलती है। उपगुप्त गणिका के भौतिक प्रेम को ठुकराता रहा। एक बार मथुरा के राजा ने रुष्ट होकर वासवदत्ता के नाक-कान कटवाकर उसे श्मशान पर छुड़वा दिया। तब उपगुप्त वासवदत्ता से मिला और उसे उसने सद्धर्म का

---

१. यह गोवर्धन पर्वत होगा, जहाँ प्राचीन बौद्ध कलावशेष मिलते हैं। बौद्ध ग्रंथों में जिस रुरुमुंड या उरुमुंड पर्वत का उल्लेख मिलता है वह भी संभवतः गोवर्धन ही था।

२. दिव्यावदान, कावेल का संस्करण (कैंब्रिज, १८८६), पृ० ३४८–४६।

३. दूसरी बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार उपगुप्त के दीक्षा-गुरु मध्यांदिन थे।

उपदेश दिया। ज्ञान-प्राप्ति के बाद उसे अपना पूर्व रूप और स्वास्थ्य प्राप्त हुआ और अब वह धार्मिक जीवन बिताने लगी।

बौद्ध धर्म के प्रचारकों में उपगुप्त का स्थान बहुत ऊँचा है। मौर्य सम्राट् अशोक को प्रभावित करने में उपगुप्त का निस्संदेह बड़ा हाथ रहा। अशोक की इच्छा थी कि वह बुद्ध के चरणों से पवित्र स्थानों पर स्तूप तथा अन्य स्मारक बनवाए। इस संबंध में वह उपगुप्त का परामर्श चाहता था। उपगुप्त गङ्गा-मार्ग से पाटलिपुत्र गए और वहाँ अशोक से मिले। उन्होने सम्राट् को उन सब स्थानों का विवरण बताया जो भगवान् बुद्ध और उनके प्रधान शिष्यों की मुख्य जीवन-घटनाओं से संबंधित थे। अनेक स्थानों पर उपगुप्त स्वयं सम्राट् के साथ गए। उनके सुझाव के अनुसार अशोक ने सभी स्थानों पर स्तूपादि स्मारकों का निर्माण कराया। मथुरा में भी यमुना-तट पर विशाल स्तूप बनाए गए। इन स्तूपों को सातवीं शती में मथुरा आने वाले चीनी यात्री हुएनसांग ने स्वयं देखा और अपने यात्रा-विवरण में उनका उल्लेख किया।

उपगुप्त बहुत आयु तक जिया। अनेक लोगों को उसने दीक्षा देकर अर्हत्-पद प्राप्त कराया। हुएनसांग ने उसकी कोठरी का, जहाँ लकड़ी के टुकड़े भर गए थे, वर्णन किया है।

तारानाथ के अनुसार उपगुप्त का उत्तराधिकारी धीतिक हुआ। यह उज्जैन के एक धनी ब्राह्मण का पुत्र था और बहुशास्त्रज्ञ था। वह ५०० ब्राह्मण शिष्यों का गुरु था। मथुरा में आने पर वह उपगुप्त से मिला और उसका शिष्य हुआ। उसने मथुरा से कश्मीर और गंधार तक बौद्ध मत का प्रचार किया। उस समय गंधार में मेनेंडर राजा था। वह धीतिक को बहुत मानता था।

उपगुप्त ने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया और अपने शिष्यों से भी कराया। सर्वास्तिवाद या वैभाषिक शाखा का वह एक महान् स्तम्भ था। सर्वास्तिवाद का प्रधान केन्द्र मथुरा हुआ।

इसका मुख्य श्रेय शाणकवासी तथा उपगुप्त-जैसे विद्वान् एवं कर्मठ व्यक्तियों को दिया जा सकता है।

मौर्य-शासन के बाद शुंगकाल में भी एक या अधिक बौद्ध स्तूपों का निर्माण मथुरा में हुआ। इस काल के जो वेदिका-स्तम्भ तथा अन्य बौद्ध अवशेष मिले हैं उनसे इस बात की पुष्टि होती है। शक-क्षत्रपों के समय में मथुरा में यमुना-किनारे उस स्थान पर जिसे सप्तर्षि टीला कहते हैं प्रसिद्ध 'गुहा विहार' तथा एक स्तूप का निर्माण महाक्षत्रप राजुवुल की पटरानी कमुइअ (कंबोजिका) द्वारा सर्वास्तिवादी बौद्धों के लिए कराया गया[१]। उसके पुत्र शोडास ने अपने राज्यकाल में उक्त विहार के लिए कुछ भूमि दान में दी। सप्तर्षि टीले से प्राप्त सिंह-शीर्ष-अभिलेखों से पता चला है कि उस समय महासंघिक लोग भी मथुरा में थे और उनमें तथा सर्वास्तिवादियों में धार्मिक वाद-विवाद हुआ करते थे।

ईसवी प्रथम दो शताब्दियों में मथुरा पर कुषाण-वंशी शासकों का अधिपत्य रहा। इनमें कनिष्क (७८–१०१ ई०) सबसे अधिक प्रतापी हुआ। उसके समय में बौद्ध धर्म की बड़ी उन्नति हुई। मथुरा और उसके आसपास अनेक बौद्ध स्तूपों, चैत्यों तथा संघारामों का निर्माण कनिष्क ने कराया। मानुषी रूप में बुद्ध-प्रतिमा का निर्माण इसी के राज्यकाल से आरम्भ हुआ, जो धार्मिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। धीरे-धीरे मथुरा में बुद्ध, बोधिसत्व आदि की सैकड़ों मूर्तियों का निर्माण किया गया। ये प्रतिमाएँ दूर-दूर तक भेजी जाने लगीं। सर्वास्तिवादियों ने बाहर अपने प्रचार का माध्यम इन प्रतिमाओं को भी बनाया[२]।

बौद्ध धर्म के व्यापक प्रसार के लिए कनिष्क ने अथक

---

१. द्र० ब्रज का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० ८१–८२।

२. मथुरा, सारनाथ और श्रावस्ती में 'बोधिसत्व' की विशालकाय प्रतिमाएँ सर्वास्तिवादी बौद्ध भिक्षु बल के नामोल्लेख सहित प्राप्त हुई हैं।

प्रयत्न किए। उसने एक बड़ी सभा का आयोजन कश्मीर में किया, जिसका सभापति वसुमित्र तथा उपसभापति अश्वघोष बनाया गया। इस सभा में लगभग ५०० विद्वान् सम्मिलित हुए। सभा के प्रस्ताव के अनुसार तत्कालीन उपलब्ध बौद्ध साहित्य को ताम्रपत्रों पर खुदवा कर उन्हें एक स्तूप में रख दिया गया। इस साहित्य में से त्रिपि-टक का भाष्य 'महाविभाषा' चीनी भाषा में उपलब्ध है।

कनिष्क ने अपने जो सिक्के जारी किए उनमें अन्य भारतीय देवों के साथ बुद्ध की मूर्ति भी मिलती है। कनिष्क के उत्तराधिकारियों ने भी बौद्ध धर्म की उन्नति में योग दिया। सम्राट् हुविष्क (१०६–३८ ई०) ने मथुरा में एक विशाल बौद्ध विहार की स्थापना की, जिसका नाम 'हुविष्क विहार' रखा गया। इसके तथा परवर्ती कुषाण शासकों के राज्य-काल में बौद्ध मूर्तियों का निर्माण बड़ी संख्या में हुआ। अनेक मूर्तियाँ अभिलिखित मिली हैं, जिनसे सर्वास्तिवादियों के अतिरिक्त सम्मितीय, महासंघिक आदि बौद्ध मत की अन्य शाखाओं का भी मथुरा में अस्तित्व प्रमाणित होता है।

मथुरा में सर्वास्तिवाद का प्रारम्भ ई० पू० ३०० के लगभग ही हो गया था। उस समय से यहाँ इसका जोर बढ़ता गया। शक-क्षत्रप और कुषाण-काल के कतिपय अभिलेखों से ई० दूसरी शती तक मथुरा, श्रावस्ती और सारनाथ में सर्वास्तिवाद के अस्तित्व का पता चलता है। मथुरा इसका एक बड़ा केन्द्र हो गया था। सप्तर्षि टीला से प्राप्त सिंह-शीर्ष-लेख से ज्ञात होता है कि सर्वास्तिवादी आचार्य बुद्धिल ने महासंघिकों को शास्त्रार्थ में पराजित कर बड़ा यश कमाया। सर्वास्तिवाद के अन्य आचार्य बुद्धदेव, बल, बुद्धमित्र आदि थे। मथुरा तथा उपर्युक्त अन्य दोनों स्थानों में ई० दूसरी शती तक सर्वास्तिवादियों का प्राधान्य रहा।

सर्वास्तिवाद की व्याख्या करते हुए बुद्धदेव ने लिखा है कि सापेक्ष सत्ता के रूप में (अन्यथान्यथात्व) सबका अस्तित्व है,

इसीलिए इसका नाम 'सर्वास्तिवाद' पड़ा[१]। कात्यायनोपुत्र ने अपने 'ज्ञान-प्रस्थान-सूत्र' में लिखा है कि पदार्थों का अस्तित्व अतीत, वर्तमान एवं भविष्य–सभी कालों में रहता है। यही सर्वास्तिवाद का सिद्धांत है[२]।

थेरवादियों ने अपना त्रिपिटक पाली में लिखा था। सर्वास्तिवाद का संपूर्ण त्रिपिटक संस्कृत में लिखा गया। इसके पाँच भाग थे—दीर्घागम, मध्यमागम, संयुक्तागम, एकोत्तरागम और क्षुद्रकागम। त्रिपिटक का चीनी अनुवाद इन्हीं के आधार पर किया गया। पाली त्रिपिटक से इसमें बहुत अन्तर है। संस्कृत त्रिपिटक के कुछ अंश ही इस समय उपलब्ध हैं।

मथुरा में सम्मितीय मत का आरम्भ भी लगभग उसी समय हुआ जब कि सर्वास्तिवाद का। सम्मितीयों की तीन शाखाएँ हुईं—कुरुकुल्लक, आवन्तक तथा वात्सीपुत्रीय। इनमें से तीसरी शाखा अधिक प्रबल हुई। मथुरा से प्राप्त ई० दूसरी शती के एक लेख में धर्मक के शिष्य एक भिक्षु द्वारा बोधिसत्व की प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने और उसे 'सिरि' विहार के सम्मितीय भिक्षुओं को समर्पित करने का उल्लेख मिलता है।

सम्मितीयों का मुख्य सिद्धांत 'पुद्गलवाद' है। यह एक प्रकार से बुद्ध के अनात्म-सिद्धांत के विरुद्ध है। इससे अन्य बौद्ध संप्रदाय वालों ने इसकी कड़ी आलोचना की है। सम्मितीयों के अनुसार पुग्गल (पुद्गल) भावात्मक वस्तु है, परन्तु वह परमार्थतः सत्य नहीं। मनुष्य और देवलोक में वह भौतिक रूप में विद्यमान रहता है; उच्च कोटि के देवों के लोक में वह अरूपी है। पुद्गल

---

१. कोश व्याख्या (जापानी संस्करण), पृ० ४७० ।

२. इस सिद्धांत के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए नलिनाक्ष दत्त तथा कृष्णदत्त वाजपेयी, 'उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास' (लखनऊ, १९५६), पृ० २०८–२२० ।

प्राणियों के शरीर में सत्व या जीव का स्थानी है, परन्तु वह शरीर से न अभिन्न है और न भिन्न[1]।

जैन धर्म

विवेच्य काल में मथुरा नगर जैन धर्म का भी एक प्रमुख केन्द्र बना। प्राचीन जैन साहित्य में शूरसेन जनपद और मथुरा नगर के सम्बन्ध में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। गत शताब्दी में मथुरा के प्रसिद्ध कंकाली टीला की खुदाई से अन्य महत्वपूर्ण सामग्री के साथ ई० दूसरी शती का एक लेख भी मिला, जिसमें इस टीले पर 'देव-निर्मित वोद्व' नामक स्तूप का उल्लेख है।

विद्वानों के अनुसार इस स्थान पर प्राचीनतम स्तूप का निर्माण ई० पू० छठी शती में या इसके भी कुछ पहले हुआ होगा। जैन अनुश्रुति से भी यह बात पुष्ट होती है। इस अनुश्रुति के अनुसार सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ के समय में ही मथुरा में एक रत्नजटित स्तूप का निर्माण कुबेरादेवी नामक महिला द्वारा किया गया था। तेईसवें तीर्थङ्कर भ०पार्श्वनाथ के समय में स्वर्ण स्तूप को ईंटों से आवेष्टित कर सुरक्षित बनाया। बाद में भी इस स्तूप का जीर्णोद्धार होता रहा और ई० दसवीं शती तक 'देव निर्मित स्तूप' उत्तर भारत का एक प्रमुख जैन केन्द्र रहा।

जैन ग्रंथों में वर्णित है कि अन्तिम जैन तीर्थङ्कर भगवान् महावीर (५९९–५२७ ई० पू०) भी मथुरा आए[2]। तत्कालीन मथुरा-शासक का नाम उदितोदय या भीदाय मिलता है। महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य गणधर इन्द्रभूति के शिष्य सुधर्माचार्य हुए। उनके उत्तराधिकारी जम्बू स्वामी की तपस्या और निर्वाण-स्थल मथुरा का वर्तमान चौरासी नामक स्थान माना जाता है।

---

१. विस्तृत दार्शनिक विवेचन के लिए देखिए वही, पृ० २२३–२२।

२. द्रष्टव्य डा० ज्योतिप्रसाद जैन, 'मथुरा में जैन धर्म का उदय और विकास' (ब्रजभारती, वर्ष, १५, अङ्क २), पृ० १–५।

उनके अनंतर इस स्थान पर जबू स्वामी का मन्दिर बना। कहते हैं कि जबू स्वामी के प्रभाव से मथुरा के ५०१ चोर साधु बन गए और उनकी मृत्यु के बाद उनके अवशेषों पर ५०१ स्तूपों का निर्माण हुआ।

नंद-मौर्य काल में मथुरा में जैन धर्म की स्थिति के संबंध में विशे पता नहीं चलता। परवर्ती मौर्य शासक संप्रति के समय में अन्य कतिपय स्थानों की तरह मथुरा में भी जैन धर्म की उन्नति हुई होगी।

शुंग तथा शक-कुषाण काल में मथुरा और उसके आसपास जैन मत का पर्याप्त विकास हुआ, जिसकी पुष्टि तत्कालीन पुरातत्त्व अवशेषों से होती है। कंकाली टीला इस काल में उत्तर भारत का एक प्रमुख जैन केन्द्र बना। यहाँ ई० पूर्व प्रथम शती से लेकर विवेच्य काल के अंत तक के जो प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं उनमें आयागपट्ट (पूजा के प्रायः वर्गाकार शिलापट्ट), तीर्थङ्कर एवं देवी प्रतिमाएँ तथा लोक-जीवन के विविध कलात्मक चित्रण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आयागपट्टों के मध्य में प्रायः पद्मासन पर ध्यान-मुद्रा में अवस्थित तीर्थङ्कर-प्रतिमा मिलती है और प्रतिमा के चारों ओर अष्ट मांगलिक चिह्न, स्तूप तथा अन्य अलंकरण बड़े कलापूर्ण ढङ्ग से आलेखित मिलते हैं। तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं। उनमें से सबका ठीक अभिज्ञान कठिन है। आदिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर की प्रतिमाएँ अपेक्षाकृत अधिक मिली हैं। नेमिनाथ, सुव्रतनाथ[1] संभवनाथ, अरिष्टनेमि आदि अन्य कई तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। कुछ सर्वतोभद्रिका मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें चारों ओर एक-एक

---

१. बोद्ध स्तूप का उल्लेख करने वाले प्रसिद्ध शिलापट्ट पर मुनि सुव्रतनाथ का नाम मिला है। ब्यूलर, स्मिथ आदि विद्वानों ने इस नाम को भूल से अरनाथ पढ़ा था।

प्रतिमा खड़ी हुई (खड्गासन में) दिखाई गई है। देवियों में सरस्वती, आर्यवती, नैगमेषी तथा अंबिका की मूर्तियाँ मुख्य हैं।

शक-कुषाण-काल की बहुसख्यक जैन प्रतिमाएँ अभिलिखित हैं। ये लेख ब्राह्मी लिपि मे तथा मिश्रित संस्कृत-प्राकृत भाषा में लिखे हैं। इन लेखों से मथुरा के तत्कालीन जैन संप्रदाय के विभिन्न गणों, गच्छों, कुलों, शाखाओं आदि के नामों का पता चलता है। अनेक मुनियों, श्रावकों, तथा उनके भक्त शिष्यों के नामों का पता भी इन लेखों से चलता है।

उक्त लेखों से ज्ञात होता है कि जैन धर्म के प्रति स्त्रियों की आस्था पुरुषों से कहीं अधिक थी और धर्मार्थ दान देने में वे सदा पुरुषों से आगे रहती थीं। उदाहरणार्थ, 'माथुरक' लवदास की भार्या तथा फल्गुयश नर्तक की स्त्री शिवयशा ने एक-एक सुन्दर आयागपट्ट बनवाए, जो इस समय लखनऊ संग्रहालय में हैं। इसी प्रकार का एक अत्यन्त मनोहर आयागपट्ट (मथुरा संग्र० क्यू० २) वसु नाम की वेश्या ने, जो लवणशोभिका की लड़की थी, दान में दिया। वेणी नामक एक श्रेष्ठी की धर्मपत्नी कुमारमित्रा ने एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की स्थापना करवाई और सुचिल की स्त्री ने शांतिनाथ भगवान् की प्रतिमा दान में दी। मणिकार जयभट्टि की दुहिता तथा लोहवणिज फल्गुदेव की धर्मपत्नी मित्रा ने वाचक आर्यसिंह की प्रेरणा से एक विशाल जिन-प्रतिमा का दान लिया। आचार्य बलदत्त की शिष्या 'तपस्विनी' कुमारमित्रा ने एक तीर्थङ्कर-मूर्ति की स्थापना करवाई। ग्रामिक जयनाग की कुटुम्बिनी तथा ग्रामिक जयदेव की पुत्र-वधू ने सं० ४० (११८ ई०) में एक शिलास्तम्भ का दान किया। गुहदत्त की पुत्री तथा धनहस्त की पत्नी ने धर्मार्थ नामक एक श्रमण के उपदेश से एक शिलापट्ट का दान किया, जिस पर स्तूप-पूजा का दृश्य अंकित है। श्राविका दत्ता ने सं० २० (९८ ई०) में वर्धमान प्रतिमा को प्रतिष्ठापित

किया। राज्यवसु की स्त्री तथा देविल की माता विजयश्री ने एक मास का उपवास करने के बाद सं० ५० (१२८ ई०) में भगवान् वर्धमान की प्रतिमा की स्थापना कराई। इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि प्राचीन मथुरा में जैन धर्म की उन्नति में महिलाओं का बहुत बड़ा भाग था।

शुंग-काल में या उसके कुछ पहले मगध के जैन संघ की प्रमुख शाखा दक्षिण चली गई थी और धीरे-धीरे वह अनेक जनपदों में फैल गई थी। पहली शती में एक बड़ी जैन परिषद् का आयोजन दक्षिण में वेण्या नदी पर स्थित महिमानगरी में किया गया। इसकी अध्यक्षता अर्हद्बलि ने की। परिषद् में मूल जैन संघ को नंदि, देव, सेन, सिंह आदि कई संघों में विभक्त किया गया। इसके कुछ वर्ष बाद ही वलभी (सौराष्ट्र) में दिगम्बर तथा श्वेतांबर, इन दो मुख्य मतों का प्रादुर्भाव हुआ[1]। मथुरा में भी ये दोनों मत अस्तित्व में तो आ गए, परन्तु बहुत समय तक उनमें विशेष भेद-भाव नहीं मिलता।

वास्तव में ई० पूर्व २०० से लेकर विवेच्य काल के अन्त तक मथुरा के जैन संघ का भारत में महत्वपूर्ण स्थान रहा। यहाँ के सुसंगठित जैन संघ के अपने गण, कुल और शाखा थे। यहाँ के संघाचार्यों, उपाध्यायों, वाचकाचार्यों आदि को बाहर के लोग भी अपने गुरु एवं पथ-प्रदर्शक मानते थे। मथुरा के इन समदर्शी महानुभावों द्वारा प्राचीन जैन समाज को सुसगठित करने एवं विरोधी भावों में समन्वय स्थापित करने का उल्लेखनीय कार्य निष्पन्न किया गया।

महावीर स्वामी के कई सौ वर्ष बाद तक जैन सिद्धान्तों को लिपिबद्ध नहीं किया गया। मौर्य-काल से भारत का पश्चिमी

---

१. श्वेतांबर अनुश्रुति के अनुसार यह बात दक्षिण के रहवीरपुर स्थान में ८२ ई० में घटित हुई।

सभ्य देशों के साथ जो सम्पर्क बढ़ा उससे जैन समाज भी अप्रभावित न रहा। दर्शन, साहित्य ज्योतिष और कला के क्षेत्रों में भारत, यूनान तथा ईरान की संस्कृतियों में आदान-प्रदान आरम्भ हो गए थे। भारत के तत्कालीन प्रमुख धर्मों ने इसका लाभ उठाया और धर्म के व्यापक, सर्वग्राही रूप को कल्याणकारी माना गया। धार्मिक क्षेत्र में एक नई चेतना जागृत हुई। मथुरा-जैसे भारत के प्रमुख केन्द्रों में यह चेतना फलवती हुई। यहाँ के जन सघ ने भी बौद्ध एवं भागवत धर्म की तरह अपने सिद्धांतों को लिपिबद्ध करना प्रारम्भ किया। प्राचीन जैन ग्रन्थ प्राकृत भाषा में मिले हैं। ई० छठी शती से संस्कृत और उसके बाद अपभ्रंश का प्रयोग किया गया। मथुरा में ई० प्रथम शती में देवी सरस्वती को सर्वप्रथम मूर्त रूप प्रदान करना जैनियों की उक्त चेतना का प्रतीक है, जिसकी परंपरा अगली शताब्दियों में जारी रही।

भागवत धर्म

भक्ति-प्रधान भागवत धर्म के उदय एव उसके प्रारम्भिक विकास का गौरव ब्रजभूमि को प्राप्त है। इसका आरम्भ यादव या सात्वत क्षत्रियों में हुआ। इस वश में उत्पन्न वासुदेव कृष्ण इस धर्म के केन्द्रविंदु बने। उन्हें नारायण का अवतार माना गया। भागवत धर्म को सात्वत, वासुदेव, पंचरात्र, एकांतिक तथा नारायण नामों से भी अभिहित किया गया। इस धर्म के चारों 'व्यूह' ये हुए— वासुदेव कृष्ण, उनके भाई संकर्षण या बलराम, पुत्र प्रद्युम्न तथा पौत्र अनिरुद्ध। प्राचीन शूरसेन जनपद के बाहर सात्वत धर्म के फैलाने का प्रधान श्रेय इसी सात्वत वंश को दिया जा सकता है।

शूरसेन जनपद में भागवत धर्म का प्रारम्भिक रूप क्या था, इसका पता नहीं चलता। संभवतः यह पहले प्रवृत्ति-प्रधान धर्म था। कृष्ण-बलराम को देव-रूप में मानने का सर्वप्रथम शिलालेख चित्तौरगढ़ के समीप नागरी के पास घोसुंडी नामक स्थान

में मिला है। इसमें भगवान् संकर्षण-वासुदेव के लिए 'पूजा-शिला' तथा वेदिका के निर्माण का उल्लेख है[१]। यह ई० पूर्व दूसरी शती का शिलालेख है और इस काल में कृष्ण-बलराम के मन्दिर-निर्माण का प्रमाण प्रस्तुत करता है। मथुरा के बाहर इसी काल का एक दूसरा शिलालेख मिला है, जो विदिशा नगरी के आधुनिक बेसनगर नामक स्थान में एक ऊँचे स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इस लेख से ज्ञात होता है कि शुंगवंशी राजा काशीपुत्र भागभद्र के समय में तक्षशिला के यूनानी शासक अंतलिकित के हेलिओदोर नामक राजदूत ने उक्त गरुड़ध्वज को प्रतिष्ठापित किया। लेख में राजदूत ने अपने को 'भागवत' कहा है[२]।

मथुरा से ई० पूर्व दूसरी शती की हलधर बलराम की एक मूर्ति मिली है[३]। श्रीकृष्ण का सबसे प्राचीन कलावशेष वह मिला है जिसमें जन्मोपरांत उन्हें वसुदेव द्वारा यमुना-पार गोकुल ले जाते हुए दिखाया गया है[४]। शुंग-काल के पहले भी श्रीकृष्ण को देव-रूप में माना जाने लगा था, इसका आभास हमें यूनानी लेखक मेगस्थनीज के वर्णन से चलता है। एरियन ने मेगस्थनीज के विवरण का उद्धरण देते हुए लिखा है कि 'शौरसेनाइ' लोग 'हेराक्लीज' को बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे[५]। यहाँ 'शौरसेनाइ'

---

१. दिनेशचन्द्र सरकार, 'सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस (कलकत्ता, १९४२), पृ० ९१-२ नानाघाट के ई० पूर्व प्रथम शती के अभिलेख में भी अन्य देवों के साथ सकर्षण-वासुदेव का नाम मिलता है। द्रष्टव्य आर० जी० भंडारकर, 'वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स' (पूना, १९२८) पृ० ३-५।

२. द्रष्टव्य डा० फोगल का लेख 'गरुड़ पिलर आफ बेसनगर' (आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, १९०८-९, पृ० १२६-२९)।

३. यह अब लखनऊ संग्रहालय में है (सं० जी २१५)।

४. यह ई० दूसरी शती की मूर्ति मथुरा संग्रहालय (सं० १३४८) में है।

५. ब्रज का इतिहास, प्रथम खंड, पृ० ७०।

शब्द शूरसेन जनपद के निवासियों के लिए और 'हेराक्लीज' श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है[1] ।

शक-क्षत्रप शोडास के समय मथुरा में श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर वसु नामक व्यक्ति द्वारा एक मन्दिर, तोरण-द्वार और वेदिका का निर्माण कराया गया । इसका पता तोरण के आठ फुट लम्बे सिरदल पर उत्कीर्ण एक लेख से चला है । इसी शासक के राज्य-काल का एक दूसरा लेख मथुरा जिले के मोरा नामक गावँ से मिला है, जिसमें वृष्णियों के 'पंच महावीरों' का उल्लेख है ।

कुषाण-काल में मथुरा में श्रीकृष्ण की अपेक्षा बलराम की मूर्तियों का निर्माण अधिक संख्या में हुआ । विष्णु भगवान् की जो प्रतिमाएँ इस काल की मिली हैं, उनमें उन्हें द्विभुज, चतुर्भुज या अष्टभुज रूप में अंकित किया गया है ।

विवेच्य काल के अन्त तक शूरसेन जनपद में भागवत धर्म की जड़ें जम गई थीं, यद्यपि वैदिक यज्ञ और कर्मकांड अब भी यहाँ जारी थे । कुषाण शासक वासिष्क के राज्यकाल का एक अभिलिखित विशाल यूप-स्तम्भ मथुरा के ईसापुर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है, जिसमें द्वादशरात्र यज्ञ के किए जाने का उल्लेख है । ईसापुर से ऐसा एक दूसरा यूप-स्तम्भ भी मिला है । ब्रज में भागवत धर्म का सीधा सच्चा रूप धीरे-धीरे लोगों को अधिक ग्राह्य हो चला । दान, व्रत, कथा-वार्ता, तीर्थ और योग द्वारा वासनामय जीवन को शुद्ध कर सात्विक बनाना भक्ति का मुख्य उद्देश्य था । भागवतों ने समस्त चेतन-अचेतन के प्रति दयाभाव और करुणात्मक कर्म को श्रेय माना । घट-घट-व्यापी प्रेमस्वरूप भगवान् के प्रति भक्ति-भाव भागवत धर्म का मूल मंत्र हुआ । प्रारम्भ में यह धर्म प्रवृत्तिमूलक रहा, परन्तु कालांतर में वह निवृत्ति-प्रधान बन गया ।

---

१. पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी वासुदेव-भक्ति का संकेत है । द्र० इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग २, पृ० ४०६ से ।

इस काल में उक्त प्रमुख धर्मों के अतिरिक्त ब्रज में शिव, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, कामदेव, मातृदेवी, दुर्गा, लक्ष्मी आदि का पूजन भी प्रचलित था। यक्ष-यक्षियों, नाग-नागियों की पूजा अब भी जारी थी। इन देवताओं की पूजा-अर्चा से सम्बन्धित धर्म-यात्राओं, संगीत-समाजों आदि का आयोजन होता रहता था। इसके प्रमाण तत्कालीन अनेक कलावशेषों में मिलते हैं।

(३) २०० से १४०० ई० तक

बारह शताब्दियों के इस काल में ब्रज में क्रमशः नाग, गुप्त, मौखरी, वर्धन, गुर्जर-प्रतीहार, गाहडवाल, गुलाम, खिलजी तथा तुगलक वंशों ने शासन किया। इस लम्बे समय में धार्मिक क्षेत्र में अनेक उत्थान-पतन हुए। बौद्ध धर्म, जिसकी जड़ें मथुरा और उसके आसपास गहरी जम गई थीं, सातवीं शती के बाद यहाँ समाप्त-सा हो गया। जैन तथा भागवत धर्म का विकास बराबर जारी रहा। इस काल के अन्त तक ब्रजभूमि वैष्णव धर्म के प्रमुख केन्द्र के रूप में भारत में प्रसिद्ध हो गई।

बौद्ध धर्म

कुषाणों के समय मथुरा में बौद्ध धर्म को जो शासकीय संरक्षण उपलब्ध था वह बाद में समाप्त हो गया। परन्तु बौद्ध धर्म का अस्तित्व यहाँ कई शताब्दियों तक बना रहा। महात्मा बुद्ध की कुछ उत्कृष्ट प्रतिमाएँ मथुरा में गुप्त काल में निर्मित हुईं, जिनके समान कलापूर्ण मूर्तियाँ भारत में अन्यत्र दुर्लभ हैं। चीनी यात्री फाह्यान ने, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में मथुरा आया, यहाँ की धार्मिक स्थिति का कुछ हाल अपने यात्रा-विवरण में दिया है उसके अनुसार मथुरा के छोटे-बड़े सभी लोग बौद्ध धर्म को मानते थे। इस यात्री ने मथुरा के २० संघारामों का उल्लेख किया है, जिनमें लगभग ३,००० बौद्ध भिक्षु रहते थे। उसने छह बौद्ध स्तूपों का भी परिचय दिया है।

ई० सातवीं शती में दूसरा चीनी यात्री हुएन-सांग उत्तर भारत में आया। उसने मथुरा और उसके आसपास थानेश्वर, स्रुघ्न पर्यात्र, मतिपुर, गोविषाण, अहिच्छत्रा, 'पिलोसन्न', सांकाश्य आदि अनेक स्थान देखे[1]। इन स्थानों में उसने हीनयान और महायान दोनों मतों के अनुयायी पाए। उसे हीनयानियों की संख्या अधिक मिली। हुएन-सांग ने मथुरा में २० बौद्ध संघाराम देखे, जिनमें अब २,००० भिक्षु रहते थे और दोनों मतों के शास्त्रों का अध्ययन करते थे। उसने उपगुप्त के संघाराम की चर्चा की है और उस गुफा की भी जिसमें उपगुप्त के शिष्यों ने लकड़ियाँ एकत्र की थीं[2]। इस यात्री के वर्णन से ज्ञात होता है कि कम से कम ई० सातवीं शती के मध्य तक मथुरा में बौद्ध धर्म की सभी शाखाओं के मानने वाले विद्यमान थे। इन शाखाओं के सैद्धांतिक अध्ययन का एक बड़ा केन्द्र यह नगर हो गया था।

सातवीं शती के बाद मथुरा और उसके आसपास बौद्ध धर्म के अस्तित्व का कुछ पता नहीं चलता। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव धर्म के उन्मेष ने बौद्ध धर्म की प्रगति को दबा दिया। हूणों के आक्रमण भी बौद्ध धर्म की क्षति के कारण हुए। गुप्तकाल के बाद के बौद्ध अवशेष ब्रज में नाममात्र को ही मिले हैं। जो हो, सातवीं शती के बाद ब्रज से बौद्ध धर्म प्रायः सदा के लिए बिदा हो गया।

जैन धर्म

विवेच्य काल के प्रारम्भ में भी मथुरा का जैन संघ पहले की भाँति अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति के लिए प्रसिद्ध रहा। चौथी शती के आरम्भ में मथुरा में आर्य स्कंदिल की अध्यक्षता में श्वेतांबर यति-सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें श्वेतांबरों द्वारा मान्य

---

२. द्रष्टव्य 'उत्तरप्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास', पृ० ११-१३, २०८, २३५-३।

२. ब्रज का इतिहास, प्रथम खंड, पृ० १२२–२३।

आगमों का पाठ और उनकी व्याख्या हुई। इन आगमों को संकलित कर उन्हें लिपिबद्ध करने का भी निश्चय किया गया। यह सम्मेलन 'माथुरी वाचना' के नाम से प्रसिद्ध है।

जैन-परम्परा में यक्ष-यक्षियों, शासन-देवियों आदि का विस्तार गुप्त-काल में और उसके बाद हुआ। मथुरा से प्राप्त तत्कालीन मूर्त अवशेषों से इसकी पुष्टि होती है। तीर्थङ्करों की कुछ अत्यन्त कलापूर्ण प्रतिमाएँ गुप्तकाल में यहाँ बनीं।

सं० ८२६ (७६६ ई०) में ग्वालियर-नरेश आमराज के गुरु वप्पभट्ट सूरि ने मथुरा तीर्थ का पुनरुद्धार किया, ऐसा 'विविध-तीर्थकल्प' से ज्ञात होता है। उन्होंने कंकाली टीला पर स्थिति प्राचीन जैन स्तूप की मरम्मत कराई और उसे पत्थरों से परिवेष्टित किया। इसी समय के आसपास मथुरा में दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद स्पष्ट रूप से सामने आया। सम्भवतः वप्पभट्ट सूरि की प्रेरणा से ही मथुरा में सर्वप्रथम श्वेताम्बर-मन्दिर का निर्माण हुआ[1]।

वप्पभट्ट सूरि के प्रायः समकालीन कुमारसेन नामक प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य ने मथुरा के काष्ठासंघ को पुनः संगठित किया और मुनि रामसेन ने उसके अन्तर्गत 'माथुरगच्छ' की स्थापना की। इस संघ और गच्छ के आचार-विचार दक्षिण से कुछ भिन्न थे। अतः दक्षिणी जैन मुनियों ने इनकी तीखी आलोचना की। परन्तु इसके होते हुए उक्त संघ और गच्छ की स्थिति दृढ़ होती गई। मध्यकाल में दिगम्बर भट्टारकों की जो अनेक गद्दियाँ उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थानों में स्थापित हुईं उनमें से अधिकांश काष्ठासंघ के माथुर गच्छ की ही थीं[2]।

यद्यपि मथुरा में ई० आठवीं शती में दिगम्बर तथा श्वेतांबर अभिमत के अलग-अलग केन्द्र स्थापित हो गए थे परन्तु विवेच्य

---

१. ज्योतिप्रसाद जैन, वही, पृ० १५।
२. ,, वही, पृ० १६।

काल के अंत तक उनमें पारस्परिक कटुता की भावना नहीं उत्पन्न हुई । दोनों मतों के अनुयायी प्राचीन स्तूपों, मूर्तियों आदि की समान भाव से पूजा करते थे । उनके आचार-विचार में विशेष अंतर न था । 'वृहत्कथाकोश' तथा अन्य ग्रन्थों में मथुरा-संबंधी अनेक कथाएँ मिलती हैं, जिनसे इस समृद्ध नगर की सहिष्णुतापूर्ण धार्मिक स्थिति का पता चलता है ।

ब्रज में बौद्ध धर्म की समाप्ति के बाद भागवत तथा जैन मतों का विशेष प्रचार हुआ। मध्यकाल के बहुसंख्यक जैन-कलावशेष मथुरा और उसके आसपास से प्राप्त हुए हैं । कंकाली टीला से ११वीं–१२वीं शती की विशाल तीर्थङ्कर-प्रतिमाएँ मिली हैं । इस काल के अंत तक मथुरा के अधिकांश जैन प्रायः अपने प्राचीन मदिरों एवं मूर्तियों का ही उपयोग करते रहे। मथुरा के अतिरिक्त इस काल में आगरा जिले का बटेश्वर (शौरिपुर) जैन धर्म का महत्वपूर्ण केंद्र बना। वहाँ बड़ी संख्या में जैन-मंदिरों और प्रतिमाओं का निर्माण हुआ ।

भागवत धर्म

ई० २०० से १४०० ई० तक के दीर्घ काल में ब्रज में भागवत धर्म-रूपी वट-वृक्ष की जड़ें गहरी जम गईं । इस महान् वृक्ष की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ भी पल्लवित हुईं । गुप्त वंश के शक्तिशाली वैष्णव सम्राटों के समय में मथुरा को भागवत धर्म का एक प्रमुख केंद्र बनने का गौरव प्राप्त हुआ[1] । 'परमभागवत' महाराजा-

---

१. गुप्त काल में ब्रज में भगवान् विष्णु, कृष्ण, बलराम आदि की कितनी ही कलापूर्ण प्रतिमाओं का निर्माण हुआ । मथुरा और लखनऊ संग्रहालयों में ऐसी कई उत्कृष्ट मूर्तियां हैं । रूपवास (भरतपुर राज्य) में विष्णु, बलराम आदि की अत्यंत विशाल प्रतिमाएँ हैं, जिनमें गुप्तकला की सभी विशेषताएँ हैं (द्रष्टव्य कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृष्ठ ८८; कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, पृष्ठ ८६-७) । कामवन में वराह तथा विश्वरूप विष्णु की कई सुन्दर मूर्तियां मिली हैं, जो गुप्त एवं पूर्व मध्यकाल की हैं ।

धिराज चंद्रगु त विक्रमादित्य (३७६-४१३ ई०) के कई शिलालेख[1] मथुरा से मिले हैं । इस शासक ने श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर एक विशाल मंदिर का निर्माण कराया, ऐसा एक लेख से प्रतीत होता है।

गुप्त-काल में भागवतों द्वारा अपने धर्म को सरल, व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया । उन्होंने वैदिक कर्मकांड तथा स्मृतियों द्वारा अनुमोदित गृहस्थ धर्म में समन्वय स्थापित किया । यज्ञों तथा अन्य वैदिक क्रिया-कलापों को विष्णु का रूप बताया गया । गृहस्थ-जीवन के लिए जो धर्म ग्राह्य हो सकता है उसकी सरल व्याख्या की गई । निष्काम कर्म के साथ भक्ति का मधुर रूप सामने आया । इस काल में अनेक संहिताओं या आगम ग्रन्थों तथा पुराणों का निर्माण हुआ। वैष्णव-सिद्धांतों के प्रसार में इस साहित्य से बड़ी सहायता मिली । जो संहिता-ग्रन्थ गुप्त-काल में बनाए गए उनमें मंदिरों के निर्माण तथा मूर्ति-पूजा का विधान है । इस विधान में जटिलता का अभाव है । अन्य बातें जो संहिताओं और पुराणों में उपलब्ध हैं वे सदाचार, नीति, योग-साधन आदि हैं । पुराणों में अनेक आदर्श-भक्तों के उपाख्यान मिलते हैं । इन उपाख्यानों में सदाचारमय जीवन को श्रेय बताया गया है । अहिंसा, त्याग और सत्य के साथ लोकसंग्रह की कल्याणकारी भावना भागवत धर्म के मूल में मिलती है । इस भावना ने जनता के एक बड़े भाग को न केवल धार्मिक बनाया अपितु उसमें निर्भयता और सहनशीलता का मंत्र फूंका ।

गुप्त-काल के बाद भागवत धर्म का प्रसार ब्रजक्षेत्र में अनुदिन बढ़ता रहा । हर्षवर्धन के समय (६०६-६४७ ई०) में मथुरा में आए हुए चीनी-यात्री हुएन-सांग ने मथुरा के पाँच बड़े देवमंदिरों का उल्लेख किया है, जिनमें बहुत से साधु पूजा करते थे। आठवीं शती में भगवान् कृष्ण का विशाल मंदिर कामवन (भरतपुर राज्य) में बना । इसे वहाँ के शूरसेन-वंशी राजा दुर्गदामा की पत्नी

१. मथुरा संग्रहालय, संख्या १६३१ क्यू० ५, तथा ३८३५ ।

वच्छिका ने बनवाया । कामवन से प्राप्त एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि यह मंदिर स्थापत्य की एक उत्कृष्ट कृति थी और उसमें चित्र-रचना भी थी ।[१] इस लेख में कृष्ण के लिए 'घनश्याम', 'शौरि', 'मधुद्विष' आदि नाम दिए गए हैं ।

मथुरा, कामवन, भाँखरी (जि० अलीगढ़), बटेश्वर तथा टेहू (जि० आगरा) आदि स्थानों से विष्णु, लक्ष्मी-नारायण, कृष्ण, बलराम आदि की मध्यकालीन प्रतिमाएँ बड़ी संख्या में मिली हैं । गुर्जर-प्रतीहारों तथा गाहडवालों के शासन-काल में ब्रज में भागवत धर्म की बड़ी उन्नति हुई । विवेच्य समय का अंत होने के पहले उत्तर भारत में मथुरा वैष्णव धर्म का सर्वोच्च केंद्र बन गया और यहाँ सभी दिशाओं से धर्म-प्रचारक आने लगे । चौदहवीं शती के बाद ब्रज में भागवत धर्म की जो प्रमुख शाखाएँ प्रतिष्ठित हुईं उनका विवेचन आगे किया जाएगा ।

ई० आठवीं से चौदहवी शती तक दक्षिण भारत में वैष्णव भक्ति का प्रबल उत्थान हुआ, जिसका प्रभाव देशव्यापी हुआ । यह प्रभाव ब्रज में किस रूप में आया, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे ।

शैव धर्म

इस काल में भागवत मत के साथ-साथ शैव या माहेश्वर धर्म का भी ब्रज में प्रचार रहा । कुषाण-शासक विमकैडफाइसिस के सिक्कों पर उसे 'परममाहेश्वर' लिखा मिलता है । कनिष्क तथा उसके अनेक उत्तराधिकारियों के सिक्कों पर भी शिव की प्रतिमा मिलती है । प्रायः शिव के साथ उनका बैल नंदी भी दिखाया जाता था । विदेशी शक और हूण लोग शैव धर्म से काफी प्रभावित हुए थे । मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन एक शिलापट्ट (संख्या २६६१)

---

१. इस लेख की पंक्ति ३० इस प्रकार है—"तयैतत्कारितं चित्रं चित्रकर्म्मोज्ज्वलं महत् ।" (द्र० भगवानलाल इंद्रजी, इंडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द १०, पृष्ठ ३४; कनिंघम, आ० स० रि०, जि० १०, पृ० ५७–६० ।)

पर शकों द्वारा शिवलिंग की पूजा दिखाई गई है । शिव की पूजा लिंग तथा मानुषी दोनों रूपों में होती थी । कुषाण तथा गुप्त-काल के कई मुखलिंग भी मिले हैं, जिनमें एक, चार या पाँच मुख दिखाए गए हैं । ब्रज में मानुषी रूप में शिव की मूर्तियाँ कुषाण-काल से ही मिलने लगती हैं । गुप्तकाल में शैव धर्म के अंतर्गत लकुलीश संप्रदाय का भी ब्रज में प्रचार हुआ । मथुरा की चांडूल-मांडूल बगीची से चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय का एक अभिलिखित स्तंभ[1] मिला है, जिस पर नीचे लकुलीश की मूर्ति बनी है । लेख के अनुसार मथुरा के पाशुपत आचार्य उदिताचार्य ने गुप्त सं० ६१ (३८० ई०) में उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक दो शिवलिंगों की प्रतिष्ठापना की । इस लेख द्वारा मथुरा में गुप्तकालीन पाशुपत संप्रदाय पर प्रकाश पड़ता है । लकुलीश की गुप्तकालीन एक अन्य कलापूर्ण प्रतिमा मथुरा से प्राप्त हुई है । इसमें बीच में लकुटधारी शिव विराजमान हैं और उनके अगल-बगल ब्रह्मा तथा इंद्र हैं ।

शिव-पार्वती की दम्पती-भाव वाली अनेक मूर्तियाँ भी ब्रज में मिली हैं । उत्तर-गुप्तकाल की एक प्रतिमा (संख्या २०८४) में शिव-पार्वती नंदी के साथ खड़े हुए प्रदर्शित हैं । अर्द्धनारीश्वर की गुप्तकालीन कई प्रतिमाएँ तो कला की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं । इनमें आधा भाग शिव का और शेष पार्वती का दिखाया गया है । शिव-परिवार के अन्य प्रमुख देवता गणेश तथा कार्तिकेय की भी मूर्तियाँ अच्छी संख्या में उपलब्ध हुई हैं । कामवन में शिव तथा उनके परिवार के देवों की अनेक सुंदर प्रतिमाएँ मिली हैं ।

उक्त कलावशेषों से पता चलता है कि मथुरा तथा ब्रज के अन्य कई स्थानों में शिव की पूजा का अच्छा प्रचार हो गया था । मथुरा के चार प्रमुख शैव केंद्र गोकर्णेश्वर, भूतेश्वर, रंगेश्वर तथा पिप्पलेश्वर हो गए थे ।

---

१. यह महत्वपूर्ण स्तंभ (संग्रहा० संख्या १६३१) मथुरा संग्रहालय के समृद्धिकर्ता पं० राधाकृष्णजी के पयास से उपलब्ध हुआ था ।

अन्य मत

विवेच्य काल में ब्रज में शाक्त मत का भी प्रचार था। देवी के विविध रूपों की पूजा मथुरा और उसके आसपास विद्यमान थी। अंबिका, महाविद्या, चामुंडा, कंकाली, महिषमर्दिनी आदि की पूजा यहाँ होती थी। मथुरा के कई शक्तिपीठ आज तक मौजूद हैं। देवियों की जो बहुसंख्यक प्रतिमाएँ कुषाण-काल से लेकर मध्यकाल तक मिली हैं उनसे पौराणिक कथनों की पुष्टि होती है कि देवी की अनेक रूप में ब्रज में पूजा-अर्चा होती थी।

यक्षों, नागों, वृक्ष-देवताओं आदि का भी पूजन इस काल में जारी रहा। यक्ष-यक्षियों और नागदेवों की मूर्तियाँ ब्रज में बड़ी संख्या में मिली हैं। यक्षों में कुबेर का स्थान इस काल में बहुत महत्वपूर्ण हो गया। मुख्यतया धन के अधिपति रूप में उनका पूजन होता था। उनकी स्त्री हारीती की भी मान्यता बढ़ गई थी।

वैदिक देवों—अग्नि, सूर्य, इंद्र, ब्रह्मा आदि—के उपासक भी इस काल में थे। परंतु इन देवों की पूजा को प्रमुखता न मिल सकी। विष्णु या शिव के मंदिरों में इन तथा कुछ अन्य देवों की मूर्तियाँ गौण रूप में रखने की प्रथा बराबर जारी रही।

(४) १४०० से १९०० ई० तक

पाँच शताब्दियों का यह समय ब्रज में मुख्यतः भागवत धर्म की विविध शाखाओं के उन्नयन का समय कहा जा सकता है। दक्षिण और उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति के जो उत्थान हुए प्रायः उन सबका प्रभाव ब्रज पर पड़ा। यहाँ हम उन उत्थानों की संक्षिप्त चर्चा कर ब्रज में प्रवर्द्धित प्रमुख संप्रदायों की विवेचना करेंगे।

विवेच्य युग के पहले दक्षिण के तमिल प्रदेश में भक्ति की प्रबल लहर उठी थी। उसके उद्भावक वहाँ के 'आड्वार' (भक्ति में तल्लीन) लोग थे। इनमें बारह प्रमुख आचार्य हुए। उनके द्वारा द्राविड़ भाषा में भक्तिरसपूर्ण पदावली का निर्माण किया गया, जिसने दक्षिण की

जनता को बहुत प्रभावित किया। ये भावुक आचार्य संस्कृत के पंडित थे और वैदिक क्रिया-कलापों के समर्थक थे । १४वीं शती के अन्त तक चार प्रमुख वैष्णव संप्रदाय अस्तित्व में आ गए—निंबार्क, श्री, माध्व तथा रुद्र या विष्णुस्वामी संप्रदाय । ये संप्रदाय शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध थे । इनके आचार्यों ने अपने-अपने मत की पुष्टि में प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता) पर संस्कृत में भाष्यों का निर्माण किया । उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप भक्ति को जन-आंदोलन का रूप प्राप्त हुआ और पूजा-उपासना की नई पद्धतियाँ सामने आईं । आड्वारों के बाद अनेक विद्वान् आचार्यों ने धर्म की व्याख्या की तथा तर्कसम्मत प्रमाणों द्वारा भक्ति की श्रेष्ठता घोषित की । उन्होंने भक्ति और कर्म का व्यावहारिक समन्वय भी जनता के सामने रखा । इन आचार्यों में रंगनाथ, यामुनाचार्य, मध्व, विष्णुस्वामी, रामानुज आदि महानुभाव प्रसिद्ध विद्वान् हुए, जिनके अनेक शिष्य-प्रशिष्यों ने भक्तिमार्ग को प्रशस्त बनाया ।

दक्षिण का भक्ति-आंदोलन दो प्रमुख संप्रदायों मे बँटा—श्रीवैष्णव तथा माध्व । पूर्व में बंगाल भक्ति-उत्थान का केंद्र बना । महाप्रभु चैतन्य १६वीं शती में इस उत्थान के प्रमुख संचालक हुए । उनके पहले बंग को उर्वरा भूमि में राधाकृष्ण-भक्ति के बीज प्रस्फुटित हो चुके थे । ब्रह्मवैवर्तपुराण की रचना संभवतः वहीं हुई । रसिकप्रवर जयदेव ने अपने प्रसिद्ध 'गीतगोविंद' का तथा चंडीदास ने अपने सरस पदों का प्रणयन वहीं किया । सहजिया वैष्णव संप्रदाय बंगाल का एक उल्लेखनीय पंथ बना । इसमें परकीया प्रेम पद्धति का उत्कर्ष राधा-कृष्ण को मधुर क्रीड़ाओं के रूप में मिलता है ।

चैतन्य के लगभग समसामयिक जिन अन्य महानुभावों ने सगुण भक्ति के क्षेत्र में प्रमुखता प्राप्त की उनमें हितहरिवंश, स्वामी हरिदास तथा गोस्वामी तुलसीदास[1] के नाम विशेष महत्व के हैं ।

---

१. गोस्वामीजी का जन्मस्थान कुछ लोग एटा जिले का सोरों स्थान मानने लगे हैं ।

इनमें से प्रथम दो का ब्रज से घनिष्ठ संबध रहा और ये संप्रदाय-प्रवर्तक भी हुए । उत्तर भारत में राम-भक्ति का उन्मेष इस काल में कृष्ण-भक्ति के साथ-साथ हुआ । स्वामी राघवानंद और उनके शिष्य स्वामी रामानंद ने दक्षिण की वैष्णव भक्ति को उत्तर भारत में प्रचारित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया । रामानंदजी मूलतः श्रीरामानुज के विशिष्टाद्वैत के ही अनुयायी हुए । परंतु वे श्रीवैष्णवों के द्वादशाक्षर मंत्र के स्थान पर रामषडक्षर मत्र को मानते थे और राम को ही परमपुरुष मानते थे।

रामानंदजी के शिष्यों में महात्मा कबीर अग्रगण्य हैं । अन्य शिष्य सेन, पीपा, रैदास, धन्ना आदि माने जाते हैं। इन शिष्यों द्वारा निर्गुण भक्तिवाद पर जोर दिया गया । इन निर्गुणियों का प्रभाव उत्तर भारत के कई भागों में बहुत-कुछ पड़ा । परंतु ब्रज में उनका अधिक प्रभाव नहीं हुआ, क्योंकि सगुण भक्ति की जड़ें यहाँ काफी गहरी जम गई थीं ।[1]

विष्णुस्वामी संप्रदाय

आचार्य श्रीविष्णुस्वामी के इतिवृत्त के संबंध में प्रामाणिक जानकारी का अभाव है । अनुश्रुति के अनुसार वे दो बार वृन्दावन आए और ब्रज के वनों की यात्रा की । आचार्यजी ने वेदांत-सूत्रों पर 'सर्वज्ञसूक्त' नामक भाष्य लिखा । श्रीधरस्वामी ने श्रीमद्भागवत की अपनी टीका (१,७,५-६) में आचार्यजी के निम्नांकित तीन श्लोक उद्धृत किए हैं, जो 'सर्वज्ञसूक्त' के हैं । इन श्लोकों द्वारा आचार्य के सिद्धांतों का संकेत मिलता है—

ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः ।
स्वाविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः ॥
स ईशो यद्वशे माया स जीवो यस्तयार्दितः ।
स्वाविर्भूतपरानन्दः स्वाविर्भूतसुदुःखभूः ॥
स्वादृगुत्थविपर्यास भवभेदजभीशुचः ।
यन्मायया जुषन्नास्ते तमिमं नृहरिं नुमः ॥

---

1. देखिए आगे अ० ४, पृ० २२१-३१ ।

ईश्वर—श्री विष्णुस्वामी के मत से ईश्वर सच्चिदानंद-स्वरूप है। वह अपनी ह्लादिनी तथा संवित् शक्ति से नित्य आश्लिष्ट है। वह अनादि है और स्वयंप्रकाश एवं परानंद-स्वरूप है। (वह ईश्वर सगुण-साकार है और उसका वह साकार विग्रह चिन्मय एवं नित्य है। माया का स्वामी होने के कारण माया उसकी वशवर्तिनी है। उनके मत में अखिल ब्रह्माण्डनायक पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ही परात्पर ब्रह्म हैं।

जीव—संपूर्ण क्लेशों का आश्रय, अपनी अविद्या से आवृत चेतन जीव है। यह जीव माया के द्वारा पीड़ित है। जीव अनादि है और अनादि काल से अत्यंत विषम दुःखों का भोक्ता है। स्वयं-प्रकाश होने पर भी जीव अपनी बुद्धि में अनादि काल से उत्थित अविद्या के कारण माया से मोहित होकर संसार में भेदबुद्धि रखता है और उससे भय तथा शोक पाता है।

कर्तव्य—श्री विष्णुस्वामी के अनुसार जीव अपनी ही अविद्या से आवृत है, दुःखों का आकर है और माया के द्वारा पीड़ित हो रहा है। ऐसी स्थिति में जीव अपने ज्ञान और साधन-बल से दुखों से त्राण नहीं पा सकता। उसके उद्धार का तो एक ही उपाय है और वह है–भगवान् का अनुग्रह। भगवान् माया के स्वामी हैं, अतः उनके भ्रूभंग का संकेत मिलते ही माया जीव को अपने व्यामोह से मुक्त कर देने के लिए विवश है। भगवान् संवित् तथा ह्लादिनी शक्ति से नित्ययुक्त हैं, अतः जीव के हृदय में उनका आविर्भाव होते ही दुःखों की निवृत्ति के साथ आनद की अभिव्यक्ति होती है। परंतु भगवान् साधनसाध्य नही हैं, कृपासाध्य हैं। जीव को चाहिए कि वह अपने आपको भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर कर उनके श्रीचरणों की शरण ग्रहण कर ले।

आचार्य श्री विष्णुस्वामी ब्रह्म को माया से सर्वथा रहित अर्थात् शुद्ध मानते हैं, अतएव उनका मत दार्शनिक जगत् में 'शुद्धाद्वैत'

नाम से विख्यात है । उनके श्रुतिशास्त्र-प्रतिपादित भक्तियोग में भगवदनुग्रह की प्रधानता है, अतएव उनका भक्तिपथ 'अनुग्रहमार्ग' के नाम से प्रसिद्ध है ।

विष्णुस्वामी संप्रदाय के आराध्य सप्तवर्षीय बालगोपाल भगवान् नंदनंदन हैं । उनका सायुज्य, अर्थात् प्रभु के श्रीचरणों की दास्यभाव से नित्यसेवा-प्राप्ति, ही मुक्ति है । इस मत के अनुसार वेदोक्त कर्म—ज्ञानादि मार्गों की अपेक्षा भगवद्-अनुग्रह-प्रधान भक्ति-योग ही श्रेष्ठ है । अतएव श्रेयस्कामी पुरुषों को 'अनुग्रहमार्ग' का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

श्री विष्णुस्वामी मत के अनुयायी विद्वानों में ज्ञानदेवजी, नामदेवजी, राजविष्णुस्वामी, विल्वमंगलाचार्यजी तथा प्रभुविष्णु-स्वामी कहे जाते हैं । श्री बलदेव उपाध्याय नाभाजी के 'भक्तमाल' में उल्लिखित त्रिलोचनजी को भी इसी संप्रदाय का मानते हैं ।[1] नामदेवजी के संबंध में कहा जाता है कि वे वृन्दावन में रहे और अपने गुरु ज्ञानदेवजी के साथ उन्होंने भारत की तीर्थ-यात्रा की । ब्रज के अनेक स्थान श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदाय से संबंधित बताए जाते हैं ।[2] इनमें वृन्दावन का कलाधारीजी का मंदिर मुख्य है । इस सम्प्रदाय के मानने वाले ब्रज में और ब्रज के बाहर अब भी पर्याप्त संख्या में हैं ।

वल्लभ संप्रदाय

आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत-मूलक पुष्टि संप्रदाय वैष्णव-चतुष्टयी में 'रुद्र संप्रदाय' नाम से प्रसिद्ध है । इसके प्रधान प्रवर्तक विष्णुस्वामीजी थे। परंतु इसका पल्लवन और प्रचार वल्लभाचार्यजी ने किया । आचार्य वल्लभ का जन्म सं० १५३५ (१४७८ ई०) में

---

१. 'भागवत संप्रदाय' (काशी, सं० २०१०), पृष्ठ ३६७, ३७१ ।
२. इन स्थानों की सूची के लिए देखिए श्री गोविंददास कृत 'श्रीविष्णुस्वामी चरित' (वृन्दावन, सं० २०१४), पृ० ३६–४० ।

चम्पारण्य (जि० रायपुर, मध्यप्रदेश) में तैलंग ब्राह्मण परिवार में हुआ। इनके पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट तथा माता का एल्लमागारु था। वल्लभ की शिक्षा-दीक्षा काशी में सम्पन्न हुई। काशी, अड़ैल (प्रयाग के समीप) तथा ब्रज में इनके जीवन की अनेक घटनाएँ घटित हुईं। वल्लभाचार्यजी तथा उनके पुत्र विट्ठलनाथजी ने ब्रज को अपना प्रमुख साधना-क्षेत्र बनाया। उन्होंने यहाँ के वनों की यात्रा की। दिल्ली-शासन की ओर से विट्ठलनाथजी को गोकुल और गोवर्द्धन की भूमि प्रदान की गई। यहाँ सम्प्रदाय के केंद्रों का निर्माण हुआ। धीरे-धीरे गोकुल, गोवर्द्धन, जतीपुरा, कामवन आदि स्थान इस संप्रदाय के प्रमुख केंद्र हो गए।

वल्लभाचार्यजी का संप्रदाय शुद्धाद्वैत या पुष्टिमार्ग नाम से प्रसिद्ध है। ब्रज, राजस्थान, गुजरात और सौराष्ट्र में इसका बड़ा प्रचार हुआ। इसके उपास्यदेव भगवान् कृष्ण तथा प्रमुख ग्रन्थ श्रीमद्भागवत है। संप्रदाय के अनुसार भगवान् कृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। उपनिषदों में ईश्वर-प्राप्ति के हेतु ईश्वर के अनुग्रह के महत्व का संकेत मिलता है। वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग को मर्यादामार्ग से भिन्न माना है।[1] जिस मार्ग में फल कर्म के अनुसार न मिल कर ईश्वर की कृपा तथा अनुग्रह या पुष्टि से मिले वह पुष्टिमार्ग है। यह मार्ग शंकर के मायावाद का खंडन करता है और भक्ति की प्रबल स्थापना करता है।

इस संप्रदाय में प्रपंच और संसार नितांत भिन्न माने गए हैं। प्रपंच भगवत्कृपाजन्य होने से सत्य है। अहन्तात्मक होने के कारण संसार मिथ्या है। जीव स्वयं चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म नहीं। वह भगवदंश अणुस्वरूप, विसर्पिगुण चैतन्य है।

पुष्टि-मत में श्रीकृष्ण का रूप इस प्रकार माना गया है—क्षर परमात्मा का आधिभौतिक रूप है। परमात्मा का आध्यात्मिक

---

१. ब्रह्मसूत्र, २,३,४२, (अणुभाष्य)।

रूप वह है जिसका अधिष्ठान लेकर परमात्मा ने प्रकृति-पुरुष का रूप धारण किया है। यह अक्षर ब्रह्म है। इन दोनों से श्रेष्ठतम, नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वरूप, पूर्णावतार, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वल्लभाचार्यजी को साक्षात् भगवान् का अवतार माना जाता है। संप्रदाय में आचार्यजी के सात रूप मान्य हैं—

१. मुख्य पुरुषाकार।
२. आनंदस्वरूप : भगवद्भावरूप कृष्णस्वरूप।
३. परमानंदस्वरूप : गूढ़ स्त्री-भावरूप स्वामिनीस्वरूप।
४. कृष्णस्वरूप : धर्मी विप्रयोगात्मक-स्वरूप।
५. वैश्वानर-स्वरूप : तापात्मक।
६. वल्लभस्वरूप : लीला मध्यपाती दास्यरूप।
७. आचार्य-स्वरूप।[1]

पुष्टिमार्ग का ब्रह्म माया से अलिप्त है, अतः नितांत शुद्ध है। इस मत के अनुसार ब्रह्म और जगत् एक ही हैं। जगत् का आविर्भाव-कार्य केवल लीला-मात्र है। अविकृत परिणामवाद के सिद्धांत पर ही जगत् की व्याख्या आधारित है। संसार और जगत् पृथक् हैं। ईश्वरेच्छा के विलास द्वारा सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ को 'जगत्' कहते हैं। पंचपर्वा अविद्या के कारण जीव के द्वारा कल्पित ममतारूप पदार्थ की संज्ञा 'संसार' है। ज्ञान के उदय होने पर संसार का नाश हो जाता है। यह अविद्याजन्य है। ब्रह्मरूप होने के कारण जगत् का कभी विनाश सम्भव नहीं।

भगवान् अपने रमणार्थ अपने आनंदादि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप ग्रहण कर लेते हैं। इसमें क्रीड़ा की इच्छा प्रधान है। ब्रह्म से आविर्भूत जीव अग्नि-स्फुलिंगवत् नित्य है। यह व्युच्चरण उत्पत्ति नहीं। अतः व्युच्चरण होने पर भी जीव

---

१. द्रष्टव्य 'प्राचीन वार्ता रहस्य', प्रथम भा०, पृ० १०।

की नित्यता में ह्रास नहीं होता । वल्लभ-मत में भी जीव ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणुरूप है। जीव के रूप इस प्रकार हैं—
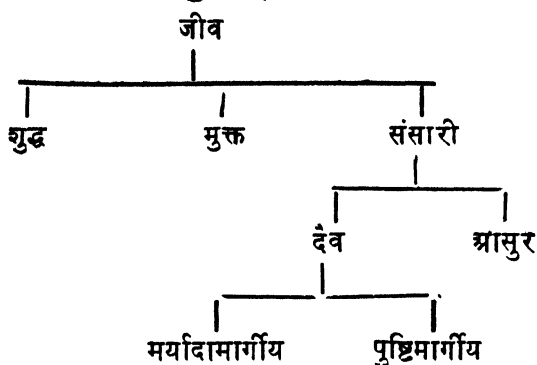
मुक्तावस्था में जीव आनंदांश को प्रकट कर स्वयं सच्चिदानंद हो जाता है। यह आनंदांश भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त होता है।

वल्लभाचार्यजी भगवान् कृष्ण के बालरूप के उपासक थे। उन्होंने वात्सल्य-भक्ति का प्रचार किया। गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने इसके साथ किशोर कृष्ण और राधा[1] की युगल उपासना को भी जोड़ दिया। परंतु वल्लभ संप्रदाय में राधा की भावना परकीया रूप में न होकर स्वकीया रूप में मान्य है। इस संप्रदाय में एकनिष्ठ भाव से भगवान् के प्रति आत्मनिवेदन अपरिहार्य माना गया है। ऊपर लिखे अनुसार ब्रह्म, जीव एवं जगत् का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—

ब्रह्म—सच्चिदानंदरूपी कृष्ण ही परब्रह्म हैं। उनके आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तीनों रूप हैं। उनके तीसरे रूप की संज्ञा 'परब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम' है, जो केवल अनन्य भक्ति से प्राप्य है। इसी हेतु भक्ति का महत्त्व सर्वोपरि है। ब्रह्म में निर्गुण और सगुण भाव एक साथ विद्यमान रहता है।

---

१. राधा की ऐतिहासिकता और राधा-तत्त्व के उद्भव एवं विकास पर अनेक मत हैं। डा० शशिभूषणदास गुप्त ने अपने नवीन ग्रन्थ 'राधा का क्रम-विकास' (वाराणसी, १९५६ ई०) में एतद्विषयक विस्तृत विवेचन उपस्थित किया है।

जीव—रमण की इच्छा से भगवान् आनंदादि गुणों का त्याग कर जीवरूप ग्रहण करते हैं। जीव के अस्तित्व में माया का कोई संबंध नहीं। ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति उसी प्रकार है जिस प्रकार अग्नि के ढेर से चिनगारियों की। उत्पत्ति के समय जीव ज्ञाता और ज्ञानरूप होता है। परंतु ज्ञान और आनंद का निर्गमन हो जाने से उसका संबंध अविद्या के साथ हो जाता है और तब वह शुद्ध न रह कर संसारी बन जाता है। संसारी जीव के दो भेद है—दैव तथा आसुर। मुक्त-दशा प्राप्त करने पर जीव आनंद अश के साथ समन्वित होकर स्वय सच्चिदानद बन जाता है।

जगत्—आचार्य वल्लभ के अनुसार निर्गुण सच्चिदानंद ब्रह्म की ही परिणति जगत्-रूप में हो जाती है। वे जगत् की उत्पत्ति और विनाश को नहीं स्वीकार करते; केवल उसका आविर्भाव एव तिरोभाव मानते हैं। जगत् और संसार के बीच वे सूक्ष्म भेद इस प्रकार मानते हैं—भगवान् के अविकृत अंश से उत्पन्न पदार्थ जगत् है और अज्ञान के कारण जीव जिस ममतारूपी वस्तु की कल्पना करता है वह संसार है। जगत् ईश्वर और जीव की तरह नित्य पदार्थ है।

वल्लभाचार्यजी ने अपने संप्रदाय के सिद्धांतों का प्रकाश करने के लिए अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचना की। इनमें मुख्य हैं—(१) 'अणुभाष्य' (ब्रह्मसूत्र पर आंशिक भाष्य), (२) 'पूर्व मीमांसा भाष्य', (३) 'तत्त्वदीप-निबंध', (४) 'सुबोधिनी' (भागवत की टीका) और (५) 'षोडस ग्रन्थ' (सिद्धांत-संबंधी १६ ग्रंथ)। उनके विद्वान् पुत्र विट्ठलनाथजी ने अणुभाष्य की पूर्ति के साथ 'विद्वन्मंडल', 'भक्तिहंस', 'भक्तिनिर्णय', 'निबंधप्रकाश-टीका', 'सुबोधिनी टिप्पणी', 'शृङ्गार-रसमंडन' आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। विट्ठलनाथजी के यशस्वी पुत्र गोकुलनाथजी हुए, जिन्होंने भक्ति को साधारण जन तक पहुँचाने में उल्लेखनीय योग दिया। उन्होंने ब्रजभाषा के दो गद्य-ग्रन्थ भी रचे—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन

वैष्णवन की वार्ता ।' साहित्य-सृजन की यह परंपरा इस संप्रदाय में बराबर जारी रही । परवर्ती गोस्वामी महानुभावों और उनके शिष्यों ने संस्कृत एवं ब्रजभाषा में प्रभूत साहित्य की रचना की । इस संप्रदाय के सूरदास प्रभृति अष्टछाप कवियों ने तो ब्रजभाषा की महती सेवा की ।[१] वल्लभाचार्यजी और उनके अनुयायियों ने साहित्य और कला का उत्थान करने के साथ ब्रजभूमि का गौरव बढ़ाने में महान् योग दिया ।

चैतन्य संप्रदाय

मध्यकालीन वैष्णव धर्म के इतिहास में महाप्रभु चैतन्य का अत्यन्त उच्च स्थान है । उनके प्रेम-विह्वल चरित ने भक्ति की जिस स्रोतस्विनी को बहाया उससे न केवल बंग और कलिंग की भूमि सिंचित हुई अपितु ब्रजमंडल भी आप्लावित हो गया । चैतन्यजी का जन्म नदिया (बंगाल) के एक ब्राह्मण-कुल में सं० १५४२ (१४८५ ई०) में हुआ । बाल्यकाल से ही ये कुशाग्रबुद्धि थे । इन्होंने अनेक शास्त्रों, विशेषतः तर्कशास्त्र, में प्रवीणता प्राप्त की । आचार्य केशव-पुरी के गुरुभाई केशव भारती से इन्होंने संन्यास-दीक्षा ग्रहण की । फिर इन्होंने अपने को पूर्णतया भगवद्भक्ति के प्रचार में लगा दिया ।

भारत के अनेक प्रमुख तीर्थों की यात्रा के पश्चात् महाप्रभु का ध्यान वृन्दावन की ओर आकृष्ट हुआ । उन्होंने अपने सहपाठी लोकनाथ को वृन्दावन भेजा । कहते हैं कि लोकनाथजी के साथ भूगर्भ आचार्य भी यहाँ आए । इसके पहले माधवेंद्रपुरीजी,[२] अद्वैत

---

१. द्रष्टव्य आगे, अ० ४, पृ० २३२-३८ ।

२. माधवेंद्रपुरीजी गौड़ीय वैष्णव मत के आद्याचार्य माने जाते हैं । इन्होंने गोवर्धन में श्रीनाथ-गोपालजी की प्रतिमा भूमि से निकाल कर उसकी प्रतिष्ठापना की, ऐसा 'श्री चैतन्य चरितामृत' से ज्ञात होता है । गौड़ीय वैष्णवों द्वारा लगभग १४ वर्ष तक श्रीनाथजी की सेवा-अर्चा की गई । माधवेंद्रजी का संबंध अनेक वैष्णव अभिमतों के साथ था । वे एक उच्च कोटि के सन्त होने के साथ प्रकांड पंडित थे । उनके शिष्य ईश्वरपुरी, परमानंदपुरी आदि विद्वान् थे । ब्रज के अनेक स्थानों में माधवेंद्रपुरीजी ने भ्रमण किया । कहते हैं कि उन्होंने मथुरा में जन्मस्थान पर केशव मंदिर के भी दर्शन किए ।

प्रभुजी तथा नित्यानंदजी ब्रज में आ चुके थे। सं० १५७२ (१५१५ ई०) के लगभग चैतन्यजी स्वयं मथुरा-वृन्दावन आए और कुछ समय तक यहाँ रहे।[1] यहाँ से जगन्नाथपुरी जाकर उन्होंने भक्ति का व्यापक प्रचार किया।

ब्रजभूमि से महाप्रभुजी को अत्यधिक स्नेह था। यहाँ के तीर्थस्थलों का पुनरुद्धार कर भक्ति की ज्योति आलोकित करने के लिए महाप्रभुजी ने प्रसिद्ध गोस्वामी बंधुओं—रूप और सनातन—को वृन्दावन भेजा। अपने उच्च राजकीय पदों का त्याग कर इन्होंने बड़ी निष्ठा एवं श्रम के साथ ब्रज के अनेक लुप्त तीर्थों को ढूँढ़ निकाला। ब्रज में एक लम्बे समय तक रह कर इन प्रातःस्मरणीय बंधुओं ने सरस संस्कृत में विविध ग्रन्थों का प्रणयन किया और जनता को भक्ति की ओर आकर्षित किया।

रूप गोस्वामी द्वारा लिखित मुख्य ग्रन्थ ये हैं—आनंद महोदधि, उज्ज्वल नीलमणि, भक्तिरसामृतसिंधु, लघुभागवतामृत, उद्धव संदेश, हंस दूत, नाटकचंद्रिका, दानकेलि कौमुदी, ललित माधव और विदग्ध माधव। इनमें 'नाटकचद्रिका' नाट्यशास्त्र पर ग्रंथ है। अंतिम तीनों नाटक-ग्रन्थ हैं। शेष काव्य-संबंधी हैं, जिनमें भक्तिरस की विस्तृत विवेचना की गई है। रूपजी की इन पुस्तकों में गौड़ीय संप्रदाय की रागानुगा भक्ति का सांगोपांग निरूपण मिलता है। इनकी सरस कविता का एक उदाहरण 'उद्धव संदेश' से दिया जाता है—

आशापाशैः सखि नवनवैः कुर्वती प्राणबन्धं,
जात्या भीरुः कति पुनरहं वासराणि क्षयिष्ये।
एते वृन्दावन-विटपिनः स्मारयन्तो विलासान्,
उत्फुल्लास्तान्मम किल बलान्मर्म निर्मूलयन्ति॥

(कृष्ण के वियोग में अत्यंत दुःखित एक गोपी अपनी सखी से

---

१. 'श्रीचैतन्य चरितामृत' के अनुसार महाप्रभुजी ने मथुरा में जन्मस्थान पर केशव-प्रतिमा के दर्शन किए।

कहती है—'हे सखि, वृन्दावन की ये पुष्पित वृक्षावलियाँ, जिनके नीचे मैंने किसी समय कृष्ण के साथ रास-विलास किए, अब मेरे मर्म को कचोटे डाल रही हैं । तू ही बता, प्राणों को आशा के सहारे बाँध कर मैं भीरु स्त्री कितने दिन और जीवित रह सकती हूँ ?")

सनातन गोस्वामी के द्वारा रचा हुआ मुख्य ग्रन्थ 'हरिभक्ति-विलास' है । इसमें देव-प्रतिमाओं के निर्माण, प्रतिष्ठा, अर्चा आदि का विस्तृत कथन है । वैष्णवों की नित्य-नैमित्तिक जीवनचर्या का भी इसमें विधान है । सनातन गोस्वामी ने इस ग्रन्थ में तथा अपनी अन्य रचनाओं में भक्ति के विधान-पक्ष को उपबृंहित किया है । गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार-विचार तथा सिद्धांतों की विस्तृत व्याख्या इनकी रचनाओं में मिलती है । इनके दूसरे प्रसिद्ध ग्रंथ 'कृष्ण-लीलास्तव', 'वृहत् भागवतामृत', 'दशम स्कंध की वैष्णव तोषिणी टीका' आदि हैं । ये ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में श्रद्धा उत्पन्न करने वाले हैं । साथ ही इनका साहित्यिक महत्व भी है । 'वृहत् भागवतामृत' में श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का एक हृदयग्राही वर्णन इस प्रकार मिलता है—

गोवर्धनाद्रिनिकटेषु स चारयन् गाः,
रेमे कलिंदतनयाम्बुनि पाययंस्ताः ।
सायं तथैव पुनरेत्य निजं व्रजं तं,
विक्रीडति व्रजवधूभिरसौ व्रजेशः ॥

(बालकृष्ण गोवर्धन पर्वत के निकट गौएँ चराते, उन्हें यमुना-जल पिलाते और नदी में स्वयं ग्वालबालों सहित क्रीड़ा करते । सायंकाल वे गौओं को लेकर घर वापस आते और गोपियों के साथ खेल खेलते थे ।)

रूप-सनातन तथा अन्य अनेक महानुभावों का स्थायी निवास ब्रजभूमि के लिए बड़ा लाभकारी सिद्ध हुआ । मथुरा, वृन्दावन, गोवर्द्धन और गोकुल में अनेक विशाल मंदिरों का निर्माण हुआ । वृन्दावन का प्रख्यात गोविंददेव मंदिर रूप-सनातन की प्रेरणा से

जयपुर के राजा मानसिंह द्वारा बनवाया गया । रूप और सनातन के अतिरिक्त चैतन्य संप्रदाय के अन्य चार आचार्य विशेष प्रसिद्ध हैं—रघुनाथदास, रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट और जीव गोस्वामी । ये छहो मिलकर 'षट् गोस्वामी' नाम से प्रख्यात हैं । रघुनाथदास की रचनाएँ 'स्तवावली', 'दानकेलिचिंतामणि', 'मुक्ताचरित' आदि हैं । रघुनाथ भट्ट भागवत के बड़े पंडित थे और उसकी कथा कहते थे । गोपाल भट्ट ने 'हरिभक्तिविलास', 'कृष्णकर्णामृत की टीका' तथा 'सत्क्रियासार' ग्रन्थ लिखे । जीव गोस्वामी रूप-सनातन के भतीजे थे और उनके समान ही प्रखर पंडित थे । इनके रचित ग्रन्थों की संख्या बड़ी है । इनमें 'गोपालचंपू', 'षट्संदर्भ', 'क्रमसंदर्भ', 'वृहत्तोषिणी' तथा 'हरिनामामृतव्याकरण' मुख्य हैं । इन षट्गोस्वामियों का संप्रदाय में महत्वपूर्ण स्थान है । ब्रज के साथ इन लोगों का विशेष संबंध रहा ।

उक्त संस्कृत-रचनाओं के अतिरिक्त चैतन्य संप्रदाय के अन्य अनेक महानुभावों ने संस्कृत, ब्रजभाषा[1] तथा बँगला में रचनाएँ कीं । यह प्रभूत साहित्य गौड़ीय मत के रस एवं सिद्धांत-पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश डालता है । संप्रदाय के अन्य प्रमुख महानुभावों में कवि कर्णपूर ('आनंदवृन्दावनचंपू' आदि के लेखक), प्रबोधानंदजी, श्रीनारायण भट्ट जी ('भक्तिरसतरंगिणी', 'ब्रजभक्तिविलास' आदि के प्रकांड लेखक), श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ('भक्तिरसामृतसिंधु' प्रभृति ग्रन्थों पर टीकाकार), श्रीकृष्णदास कविराज ('श्रीचैतन्य-चरितामृत' तथा 'गोविंदलीलामृत' के यशस्वी लेखक), श्रीबलदेव विद्याभूषण ('गोविंद-भाष्य' आदि के प्रणेता), श्री गोवर्द्धनभट्ट, श्री नंदकिशोरचंद्र ('शुकदूत' के लेखक), श्री नित्यानंददास, श्री यदु-नंदन ठाकुर तथा श्रीकृष्णदेव प्रभृति विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

---

१. संप्रदाय के ब्रजभाषा-साहित्य के संबंध में देखिए आगे अ० ४, पृष्ठ २४६–२५८ ।

चैतन्य मत का यह प्रचुर साहित्य काव्य के उत्कर्ष एवं भक्ति-तत्व-निरूपण की दृष्टि से अत्यंत उच्च कोटि का है। संस्कृत, ब्रजभाषा तथा बँगला—इन तीनों भाषाओं में यह साहित्य लिखा गया। ब्रज और बंगाल ही नहीं, प्रायः समस्त उत्तर भारत में इस साहित्य का गौरवास्पद स्थान रहा है। उपर्युक्त अनेक संत साहित्य-कारों की समाधियाँ वृन्दावन, गोवर्द्धन, राधाकुंड आदि ब्रज के विभिन्न स्थानों में विद्यमान हैं।[1] ब्रज चौरासी कोस में इस संप्रदाय से संबंधित कितने ही महत्वपूर्ण स्थल दर्शनीय हैं।

चैतन्य मत का दार्शनिक सिद्धांत 'अचिंत्य भेदाभेद' नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार ब्रजेश नंद के पुत्र कृष्ण ही आराध्य देव हैं। उनका धाम वृन्दावन है। ब्रज की गोपियों द्वारा की गई उपासना ही श्रेयस्करी है। भागवतपुराण ही पवित्र प्रमाणशास्त्र है। प्रेम ही महान् पुरुषार्थ है। श्रीचैतन्य महाप्रभु का यही आदरणीय मत है। इसे निम्नलिखित श्लोक[2] द्वारा व्यक्त किया गया है—

आराध्यो भगवान् ब्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं,
रम्या काचिदुपासना ब्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्,
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

ब्रह्म—इस संप्रदाय में सर्वशक्तिमान् कृष्ण ही ब्रह्म हैं। उनके तीन रूप माने गए हैं—१. स्वयं रूप, २. तदेकात्म रूप और ३. आवेश रूप। वे निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों हैं। संसार में धर्म की वृद्धि और पाप के क्षय के लिए भगवान् अवतरित होते हैं।

---

१. वृन्दावन में श्रीरंगजी के मंदिर के पास समाधि-उद्यान में गौड़ीय संप्रदाय के प्रायः सभी प्रमुख महानुभावों के नामांकित समाधि-प्रस्तर विद्यमान हैं। श्रीराधा-दामोदर मंदिर में श्री रूप, जीव एवं कृष्णदास कविराज की समाधियाँ तथा प्राचीन मदनमोहन-मंदिर के समीप सनातन गोस्वामी की समाधि है। नारायण भट्टजी की समाधि ऊँचागाँव के पास है।

२. बलदेव उपाध्याय, भागवत संप्रदाय, पृ० ५१६।

जगत्—जगत् को भगवान् की बहिरंग शक्ति का विलास माना गया है। वह सत्य है, परंतु नित्य नहीं।

साधनमार्ग—चैतन्य संप्रदाय में रागात्मिका भक्ति का ऊँचा स्थान है। कर्म और ज्ञान उसके उपादान हैं। ब्रज-गोपियों का प्रेम इस भक्ति का आदर्श उदाहरण है। गोपी-प्रेम का उत्कर्ष राधा-भाव है। प्रिय-मिलन के लिए उत्कट भक्ति एवं प्रगाढ़ विह्वलता ही इस मत का साधन-मार्ग है।[1]

निम्बार्क संप्रदाय

वैष्णव मतों के अंतर्गत निंबार्क संप्रदाय का उच्च स्थान है। इसका इतिहास अत्यंत प्राचीन है। ब्रजभूमि के साथ इस संप्रदाय का संबंध निस्संदेह पुरातन है। कहा जाता है कि निंबार्काचार्य जी ने स्वयं मथुरा नगरी में इस मत की प्रतिष्ठापना की।[2] निंबार्काचार्यजी के समय तथा उनके संप्रदाय के प्रारंभिक विकास के संबंध में अभी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

आजकल निंबार्क संप्रदाय की प्रमुख गद्दी सलेमाबाद (किशनगढ़) में है। इससे पहले मुख्य गद्दी गोवर्धन गिरि की तलहटी में नीमगावँ (जिला मथुरा) में थी। इसी स्थान पर श्रीनिंबार्काचार्य का आश्रम बताया जाता है। कालांतर में मथुरा नगर के नारद टीला और ध्रुव टीला तथा राधाकुंड एवं वृन्दावन में भी संप्रदाय के केंद्र स्थापित किए गए। नीमगाँव से सलेमाबाद में गद्दी का स्थानान्तरण परशुरामदेवाचार्यजी ने किया।

मथुरा नगर में इस संप्रदाय से संबंधित मुख्य स्थान ध्रुव-टीला है। श्रीकेशव काश्मीरी यहाँ अपनी द्वितीय दिग्विजय के समय रहे थे। अनुश्रुति है कि उन्होंने यहाँ रह कर कई आश्चर्यजनक कार्य संपादित किए।

---

१. इस भक्ति की व्याख्या के लिए द्रष्टव्य आगे पृ० २४५–२४८।
२. बलदेव उपाध्याय, भागवत संप्रदाय, पृ० ३१२।

निंबार्क मत के आद्याचार्य श्री हंसनारायण माने जाते हैं। वे राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के प्रतीक हैं। आचार्य हंसनारायण ने इस मत की दीक्षा सनत्कुमारों को दी। सनत्कुमार से इस सिद्धांत को नारद ने लिया। नारदजी ने यह तत्त्व निंबार्काचार्यजी को बताया। फिर निंबार्काचार्य के शिष्यों की परम्परा चली।

इस समय ४८वें आचार्य गद्दी पर विराजमान हैं। प्राय: सभी आचार्यों ने अपने-अपने शिष्य बनाए। उन शिष्यों ने ब्रज में तथा बाहर विविध मठों और मंदिरों की स्थापना की। अनेक शिष्य विद्वान् लेखक हुए।

साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार निंबार्काचार्यजी तैलंग ब्राह्मण थे और उनका प्रारंभिक नाम नियमानंद था। वे नोमगावँ में शालिग्राम-प्रतिमा की पूजा किया करते थे। इन शालिग्राम का आकार एक चने के दौल के बराबर था। यह प्रतिमा अब सलेमाबाद में विद्यमान है। निंबार्काचार्यजी ने अपने मत के प्रतिपादन के लिए कई ग्रन्थों की रचना की। उनमें 'वेदांतपारिजातसौरभ' तथा 'दशश्लोकी' मुख्य हैं। प्रथम ब्रह्मसूत्र पर संक्षिप्त भाष्य है। दूसरे में सिद्धांत-प्रतिपादन के लिए लिखे गए दस श्लोक हैं। इसकी महत्वपूर्ण टीकाएँ श्री पुरुषोत्तमाचार्य ने तथा श्रीहरिव्यासदेवाचार्य ने की हैं।

उक्त दोनों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। श्रीनिंबार्काचार्य-कृत अन्य ग्रन्थों में 'रहस्यषोडशी' और 'प्रपन्नकल्पवल्ली' भी बड़े महत्व के हैं। पहला अथर्ववेदीय श्रीगोपाल मंत्र की पद्यात्मक व्याख्या है। इन दोनों ग्रन्थों पर श्री सुन्दर भट्टाचार्य ने विशद विवरण लिखा है। पाँचवाँ ग्रन्थ 'श्रीकृष्ण स्तोत्र' है। उक्त ग्रन्थों के व्याख्याकारों ने 'सदाचार-प्रकाश' और 'प्रपत्तिचिंतामणि' नामक दो ग्रन्थ आचार्यजी के और बताए हैं। इनमें पहला कर्मयोगपरक और दूसरा भक्ति-प्रपत्तिपरक कहा गया है। ये दोनों ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। 'सदाचार-प्रकाश के आधार पर निंबार्क के परवर्ती आचार्यों द्वारा संगृहीत

एक ग्रन्थ 'सदाचारसारसंग्रह' है । श्रीकेशव काश्मीरी भट्ट ने स्वरचित 'गीताभाष्य' में श्रीनिंबार्क-कृत 'गीतावाक्यार्थ' का उल्लेख किया है, किन्तु वह उपलब्ध नहीं ।

कुछ लेखकों ने भ्रमवश 'मध्वमुखमर्दन', 'वेदांत तत्वबोध', 'वेदांतसिद्धांतप्रदीप', 'सविशेष-निर्विशेष' तथा 'श्रीकृष्ण स्तवराज' (पच्चीस श्लोकी) नामक पाँच ग्रन्थों को भी श्रीनिंबार्क-कृत माना था।[1] श्रीमती रमा चौधुरी को यह भ्रम ग्राफ़ेक्ट के 'कैटालागस कैटालागरम्' के कारण हुआ । उसमें निम्बादित्य नाम के साथ उक्त पाँच ग्रन्थों की सूची भी जुड़ी है । ऐसा ही भ्रम डा० रामकृष्ण भांडारकर को हुआ था । उन्होंने दो पत्रों के आधार पर, जिनमें इस संप्रदाय की परम्पराएँ लिखी हैं, श्री निंबार्काचार्य को ई० १२वीं शती का घोषित किया है, जो अशुद्ध एवं भ्रामक है । अन्य कुछ लेखकों ने भी संप्रदाय के संबंध में सही जानकारी के अभाव में कुछ असंगत बातें लिखी हैं ।

'श्री निंबार्क भाष्य' और 'श्रीनिवास भाष्य' (वेदांत कौस्तुभ) का शंकर-रामानुज आदि के भाष्यों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उक्त दोनों भाष्य शांकरादि भाष्यों से पहले लिखे गए । इन दोनों भाष्यों में शंकर-रामानुज आदि आचार्यों के सिद्धांतों की आलोचना नहीं मिलती, जब कि शंकर आदि के भाष्यों में कई स्थलों पर निंबार्क के द्वैताद्वैत एवं भेदाभेद की आलोचना उपलब्ध है । कुछ लेखकों की यह मान्यता कि निंबार्काचार्यजी ने श्रीरामानुज-भाष्य से कुछ बातें ग्रहण कीं, युक्तिसंगत नहीं जँचता।

संप्रदाय-परम्परा में ३३वें आचार्य श्रीकेशव काश्मीरी भट्ट उद्भट विद्वान् हुए । उनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—१. 'कौस्तुभप्रभा' (वेदांत-कौस्तुभ की विस्तृत व्याख्या), २. 'तत्वप्रकाशिका' (गीता की व्याख्या), ३. 'तत्त्वप्रकाशिका वेदस्तुति' (दशम स्कंध की टीका)

---

१. द्रष्टव्य डा० रमा चौधुरी-कृत 'निंबार्क-दर्शन' का अंग्रेजी अनुवाद (बंगाल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता से प्रकाशित)।

तथा ४. 'क्रम-दीपिका' (पूजा-पद्धति का विवरणात्मक ग्रन्थ) । अन्य आचार्यों में विद्वत्ता की दृष्टि से पुरुषोत्तमाचार्य, हरिव्यास-देवाचार्य आदि के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं । कई आचार्यों का उल्लेख नाभादासजी ने अपने 'भक्तमाल' में किया है ।

इस सम्प्रदाय में सभी आचार्य श्रीजी (राधा) के रूप माने जाते हैं । निंबार्काचार्यजी को सुदर्शन चक्र का अवतार माना जाता है । सभी साम्प्रदायिक मंदिरों में इनकी पूजा का विधान है । संप्रदाय में सुदर्शन चक्र के श्रीरंगदेवी आदि आठ रूप माने गए हैं । स्वामी निंबार्क रंगदेवी के रूप में उपासना करते थे । इस उपासना का केंद्रभाव शृङ्गारमय उज्ज्वल रस है । राधा को कला की शिक्षा देने वाली सखी का नाम रंगदेवी है । स्वामी निंबार्क सखाओं में तोष सखा के स्वरूप में थे । इसमें सख्यभाव प्रबल था । तोष सखा श्रीकृष्ण को नृत्यकला सिखाता था । आज भी नीमगावँ में छोटी दिवाली को 'ग्वालमंडला' का उत्सव होता है, जिसमें मुख्य लीला तोष के द्वारा श्रीकृष्ण को नृत्य-शिक्षा का प्रदर्शन है ।

निंबार्काचार्यजी सर्वेश्वर शालिग्राम की पूजा करते थे । उन्हें वे राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति का प्रतीक मानते थे । जो शालिग्राम स्वामी निंबार्क के इष्ट थे उनकी मूर्ति में सहस्रार-चक्र का चिह्न दिखाई देता है । इस मूर्ति को गद्दीश-आचार्य यात्रा के समय अपने गले में धारण किए रहते हैं । अन्य स्थानों के कई महन्त भी अपने गले में शालिग्राम को धारण करते हैं । शालिग्राम की पूजा का विधान इस सम्प्रदाय में विशेष रूप से है । अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति इस सम्प्रदाय में भी अष्टयाम सेवा का विधान है । मंदिरों में सात झाँकियाँ होती हैं—मंगला, स्नान, शृङ्गार, राजभोग, उत्थापन, संध्या आरती, रास-प्रकरण तथा शयन । वल्लभ सम्प्रदाय में 'ग्वाल' के दर्शन और होते हैं ।

निम्बार्कियों का तिलक विशेष प्रकार का होता है । सफेद गोपी-चंदन की श्री और उसके बीच में काली बिन्दी होती है । इस

काली बिन्दी को शालिग्राम का प्रतीक तथा श्री को मंदिर का रूप माना जाता है। मंदिरस्थ शालिग्राम ही इनके तिलक की व्याख्या है।

संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत संक्षेप में इस प्रकार है—

ब्रह्म—आचार्य निंबार्क का दर्शन 'भेदाभेद' या 'द्वैताद्वैत' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वे प्राकृत दोषों से रहित तथा ज्ञान-बलादि अशेष दिव्य गुणों से युक्त हैं।[1] वे संपूर्ण जगत् का आधार और अन्य सभी देवों द्वारा वंदित हैं। उनके वामांग में श्रीराधाजी विराजमान हैं, जो सदा अनेक सखियों द्वारा सेवित हैं। इस सौंदर्य-राशि युगलस्वरूप (श्रीराधा-कृष्ण) की उपासना ही संप्रदाय में मान्य है।

जीव—जीव या चित ज्ञानस्वरूप है। वह ईश्वर का अंश-रूप है और उसकी कृपा से ही मुक्ति प्राप्त करता है। अविद्या से संयुक्त होने के कारण वह देव मानव, पशु-पक्षी आदि रूपों को प्राप्त करता है। वह अणुरूप तथा अनंत है।[2] उसकी ये विशेषताएँ श्रुति-सम्मत हैं। ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी जीव अपने प्रकृत रूप की प्राप्ति करता है।

जगत्—जगत् की उत्पत्ति माया से है, जो सत्व, रज, तम—इन तीनों गुणों को आश्रय प्रदान करने वाली है। मायाजन्य होने से जगत् या ब्रह्मांड 'प्राकृत अचेतन' (चैतन्यशून्य) कहलाता है। यह माया कर्मों के वशीभूत जीवों को भगवत्स्वरूप का दर्शन नहीं करने देती। मायाजन्य अविद्या जीव को आवरण से ढक देती है और उसके क्लेशों का कारण होती है।

---

१. "स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥"
(दशश्लोकी, ४)

२. "ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः॥"
(दशश्लोकी, १)

भक्ति का स्वरूप—इस संप्रदाय में प्रेमलक्षणा भगवद्भक्ति की विशेषता है। यही भक्ति जीव को ब्रह्म तक पहुँचाती है। सभी उपाधियों से विमुक्त होकर श्रीराधाकृष्ण की सर्वविध निष्काम सेवा ही भक्ति है। इसे पराभक्ति भी कहते हैं। दूसरी भक्ति अपरा है, जो सत्संग-जनित श्रद्धा से प्राप्त होती है।

ब्रज में निंबार्क संप्रदाय से संबंधित अनेक स्थल हैं। मथुरा में ध्रुवटीला और नारदटीला एवं वृन्दावन में श्रीजी की बड़ी कुंज, श्यामकुटी, टट्टी संस्थान, टोपी वाली कुंज, वंशीवट, माधवविलास आदि अनेक प्रतिष्ठित एवं दर्शनीय स्थान हैं। वृन्दावन में संप्रदाय के अनेक मंदिर हैं, जिनमें कुछ पुराने मंदिरों की दशा जीर्ण है। राधाकुंड, नीमगावँ, गिरिराज की तलहटी, सहार, नंदगावँ, बरसाना, कोकिलावन आदि में भी संप्रदाय से संबंधित विविध स्थल हैं।

हरिदासी संप्रदाय

अनन्य रसिक स्वामी हरिदासजी ब्रज की महान् विभूतियों में से हैं। एक मान्यता के अनुसार स्वामीजी निंबार्क संप्रदाय के थे।[1] श्री बलदेव उपाध्याय का मत है कि "स्वामीजी प्रथमतः निंबार्क मत के ही अनुयायी थे, परंतु भगवत्प्राप्ति के लिए गोपीभाव को एकमात्र उन्नत साधन मान कर उन्होंने इस स्वतंत्र मत (सखी संप्रदाय) की प्रतिष्ठा की"।[2] दूसरे मत के अनुसार स्वामीजी का निंबार्क संप्रदाय से कोई संबंध न था तथा वे श्रीविष्णुस्वामी मत के

---

१. द्रष्टव्य 'निंबार्कमाधुरी' (सपा० श्री विहारीशरण ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सं० १९९७), पृ० १९२ तथा 'श्रीसर्वेश्वर' के 'वृन्दावनांक' (वृन्दावन, चैत्र, सं० २०१३), पृ० २३१-३८ में श्री गोविंद शर्मा का लेख। श्री गोविंद शर्मा ने 'सिद्धांत रत्नाकर' (वृन्दावन, सं० २०१४) में प्रकाशित अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका में भी इस संबंध में विस्तार से प्रकाश डाला है।

२. 'भागवत सम्प्रदाय', पृ० ३५१।

अंतर्गत एक स्वतंत्र संप्रदायाचार्य हुए। उनके मत को 'सखी संप्रदाय' तथा उनके सिद्धांत को 'इच्छाद्वैत' कहा जाता है।[1]

उक्त दोनों मतों के मानने वाले स्वामीजी के जीवन-वृत्त को भी एक-दूसरे से भिन्न रूप में मानते हैं।[2] इस संबंध में अभी अधिक शोध आवश्यक है।

स्वामीजी की दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—'केलिमाल' तथा 'सिद्धांत के पद'। ये दोनों ब्रजभाषा में है। उनके अनुवर्ती अनेक संस्कृत-कवि भी बताए जाते हैं। परंतु इस संप्रदाय के कवियों ने ब्रजभाषा में अधिक लिखा और ये रचनाएँ उच्चकोटि की हैं।

स्वामीजी अद्वितीय सगीतज्ञ और महान् भक्त हुए। श्रीराधा-कृष्ण की सखी भाव से अनन्य भक्ति एवं तज्जनित रस की अनुभूति ही उनकी साधना थी। इसी हेतु उनका मत 'सखी संप्रदाय' नाम से अभिहित हुआ। उनके राधा-कृष्ण का स्वरूप निर्गुण-सगुण ब्रह्म की सत्ता से परे है। ब्रह्म और जीव इच्छा से ही द्वैत रूप माने गए हैं। नित्य किशोर रसरूप कृष्ण ही आराध्य ब्रह्म हैं, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं। जीव अणु और चैतन्य है। वह अल्पज्ञ और अल्प-शक्ति है। जगत् का रूप मृगतृष्णा के समान है; वह अनित्य है।

इस सम्प्रदाय की रसिक वाणी ही वेदवत् मान्य है। वृन्दावन ही सर्वोच्च धाम है। युगल मंत्र का जप ही मुख्य है। ललिताजी[3] सम्प्रदाय की प्रथमाचार्या हैं। रस-रूप श्यामाश्याम आराध्य हैं। सखी-सुख की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है, जिसका साधन अनन्य प्रेम है। स्वामीजी की रस-रीति को प्राप्त करने के लिए भक्त को क्रमशः किस प्रकार साधन-मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए, इसका कथन भगवत रसिकजी ने इस प्रकार किया है—

---

१. द्रष्टव्य 'स्वामी हरिदास अभिनंदन-ग्रन्थ' (वृन्दावन, सं० २०१४), पृ० २०-२३, ४६-५०, १०६-१८।

२. द्र० आगे, पृ० २७१-७२।

३. स्वामीजी ललिताजी के अवतार माने जाते हैं।

प्रथम सुनै भागौत, भक्त मुख भगवत-बानी ।
दुतिय अराधै भक्ति, व्यास नव भाँति बखानी ।।
तृतिय करै गुरु समुझि, दच्छ सर्वज्ञ रसीलौ ।
चौथे होय बिरक्त, बसै बनराज जसीलौ ।।
पाँचें भूलै देह निज, छठें भावना रास की ।
साते पावै रीति-रस, श्री स्वामी हरिदास की ।।

वृन्दावन में इस सम्प्रदाय का मुख्य केंद्र श्री बिहारीजी का मंदिर है । बिहारीजी स्वामीजी के उपास्य-देव थे और उन्हीं के द्वारा निधुवन में उनका प्राकट्य हुआ था । वृन्दावन में बिहारीजो की बहुत बड़ी मान्यता है । निधुवन प्राचीन वृन्दावन की कमनीयता को सँजोए हुए है । यहीं स्वामीजी की समाधि विद्यमान है ।

राधावल्लभीय संप्रदाय

इस संप्रदाय का आविर्भाव और विकास ब्रजभूमि पर हुआ । इसके प्रवर्तक श्रीहितहरिवंशजी थे। उनके पूर्वज मथुरा जिला के बाद नामक गावँ के निवासी थे । हितजी के पिता श्रीव्यास मिश्र सहारनपुर जिला के देववन (देवबन्द) नामक स्थान पर रहने लगे थे । सं० १५५६ (१५०३ ई०) में उनको पत्नी ताराजी ने बाद ग्राम मे हितजी को जन्म दिया।[1] बाद से देववन जाकर हितजी गृहस्थ-जीवन का निर्वाह करते हुए हरिभक्ति में निमग्न रहने लगे । कुछ समय पश्चात् वे वृन्दावन आकर यहीं स्थायी रूप से रहने लगे ।

हितजी राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के भक्त थे। सं० १५९१ (१५३४ ई०) में उन्होंने वृन्दावन में श्रीराधावल्लभजी की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की ।[2] उनके सिद्धांत में तत्त्वत: यही युगल-उपासना है । वे श्रीकृष्ण की वंशी का अवतार माने जाते हैं । माधुर्यभक्ति को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा कर हितजी ने एक परम सरस उपासना-मार्ग के

---

१. सं० १५३० में हितजी के जन्म की बात प्रामाणिक नहीं है । द्र० आगे पृ० २७८ ।

२. राधावल्लभजी का प्राचीन मंदिर १५३४ ई० में बना, न कि १६२६ ई० में जैसा कि इस इतिहास के प्रथम खंड में लिखा है ।

(मैं भयंकर मोह का नाश करने वाली उन यमुना की वंदना करता हूँ जो अत्यंत तीव्र वेग से बहती हैं। उनका यह नवीन प्रवाह मानो श्रीकृष्ण और राधिका के महारास-सागर-रूपी हृदयों से बाहर छलका हुआ रस का वेग है।)

ब्रजभाषा में हितजी के दो ग्रन्थ—'हित चौरासी' तथा 'स्फुट वाणी' हैं। ये दोनों प्रारंभिक ब्रजभाषा की आदर्श रचनाएँ हैं। इनमें रस एवं प्रेमसिद्धांत की अभिव्यक्ति परिष्कृत ब्रजभाषा में मिलती है। हितजी के दो गद्य-पत्र भी प्राप्त हैं, जो उन्होंने अपने प्रिय शिष्य वीठलदास को लिखे थे। प्राचीन पत्र-शैली पर इन दोनों पत्रों से अच्छा प्रकाश पड़ता है।[1]

हितजी के बाद इस संप्रदाय के अनेक महानुभावों का विपुल साहित्य मिलता है।[2] इसमें सेवकजी की वाणी का धार्मिक दृष्टि से ऊँचा स्थान है। उसे 'हितचौरासी' की पूरक वाणी माना जाता है। संप्रदाय के अन्य प्रसिद्ध लेखक श्री हरिराम व्यास, श्री ध्रुवदास, श्री नागरीदास, श्रीरूपलाल तथा चाचा वृन्दावनदास हुए। इन तथा संप्रदाय के अन्य लेखकों ने साहित्य के भावपक्ष को समुन्नत किया। ब्रजभूमि, राधा-कृष्ण-भक्ति और उनकी सरस क्रीड़ाओं का हृदयग्राही रूप इन कवियों की वाणी में प्रवाहित हुआ है।

इस संप्रदाय का परमोपास्य वह परमरस है जो श्रीकृष्ण और राधा के रूप में ब्रज-धरा पर अवतीर्ण हुआ। वह परमरस

---

१. द्रष्टव्य कृष्णदत्त वाजपेयी, 'ब्रजभाषा का पत्र-विषयक गद्य-साहित्य' ('ब्रजभारती', वर्ष १२, अङ्क ४)

२. द्रष्टव्य अ० ४, पृ० २७६–८६। इस संप्रदाय के साहित्य का विवेचन हाल में प्रकाशित दो ग्रन्थों में विस्तृत रूप से किया गया है—१. डा० विजयेंद्र स्नातक, 'राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य' (दिल्ली, सं० २०१४), पृ० २६३-५७६ तथा २. श्री ललिताचरण गोस्वामी, 'श्रीहितहरिवंश गोस्वामी, संप्रदाय और साहित्य' (वृन्दावन, सं० २०१४), पृ० ३२१-६०३।

प्रकृतितः क्रीड़ा-लीला-शील है। अपनी क्रीड़ा के लिए वह प्राणात्मा को राधा, मन को श्रीकृष्ण, देह को श्रीवृन्दावन और इन्द्रियों को सखियों के रूप में अवतरित करके अपनी वृन्दावन-लीला की संयोजना करता है। इस रसोपासना में श्रीराधा ही इष्ट हैं। सखी-भाव से संसिक्त रसिक-हृदय ही इस अलौकिक रस के आस्वादन का अधिकारी है, न कि विषयी जीव। भगवान् कृष्ण की वृन्दावन-लीला स्वकीया-परकीया भाव से परे है। भक्त अपने ध्यान में राधा-कृष्ण युगल-मूर्ति की प्रेम-लीला की दिव्य अनुभूति-प्राप्ति के लिए सयत्न रहता है। इस प्रकार की रसोपासना वेद-शास्त्र की मर्यादा से भी स्वच्छंद है। श्रीहितजी 'प्रेम-विरहा' के रस की बात कहते हैं—

जै (श्री) हितहरिवंस विचारि प्रेम विरहा बिनु या रस।
निकट कन्त नित रहत मरम कहा जानै सारस॥

नित्य सामीप्य और संस्पर्श के होते हुए भी विरहानुभूति रहती है, यही इस प्रेमोपासना की विशेषता है। मिलन रस से अतृप्ति ही बनी रहती है। मिलने के समय भी यह भावना रहती है जैसे कभी मिले ही न हों—

मिलेहि रहत मानों कबहुँ मिले ना।

× × × ×

करत पान रसमत्त परस्पर, लोचन तृषित चकोर।

इस प्रकार स्वकीया-परकीया, बिरह-मिलन एवं स्व-पर के भेद से रहित यह नित्य विहाररस ही सप्रदाय का इष्ट-तत्त्व है। इस रस-भक्ति-पद्धति में गोपी-भाव ही सर्वोच्च है।

राधावल्लभीय संप्रदाय का 'हित' शब्द मांगलिक प्रेम का प्रतीक है। यही परात्पर तत्त्व माना गया है। प्रेम का सहज परिपाक उज्ज्वल रस में है। रस की तीन स्थितियाँ हैं—लोक में, काव्य में और भगवद्भक्ति में। भक्ति के क्षेत्र में रस नित्यावस्था को प्राप्त हो जाता है। इस भक्ति-रस का विवेचन 'हरिभक्तिरसामृतसिंधु', 'उज्ज्वल नीलमणि' आदि ग्रन्थों में विस्तार से मिलता है। निंबार्क

और राधावल्लभीय संप्रदायों में भी रस सिद्धांत-परक अनेक ग्रंथ हैं। राधावल्लभीय संप्रदाय के अनुसार आस्वादित प्रेम ही रस है। यह प्रेम नित्य युगलस्वरूप है। इस रस में नायक-नायिका नहीं होते। स्वयं युगल-प्रेम रस ही केलि का प्रयोजक होता है। ध्रुवदासजी के शब्दों में—

नायक तहाँ न नायिका, रस करवावत केलि।

इसी उज्ज्वल प्रेम-रस को लक्ष्य करके राधावल्लभीय कवियों ने अपने काव्य की रचना की है। यह अत्यंत अलौकिक रस भक्त-कवियों की स्वानुभूति से सजीव बना दिया गया।

इस प्रकार नित्यविहार-रस ही राधावल्लभीय संप्रदाय का मूल सिद्धांत है। श्रीराधा-कृष्ण के नित्य-मिलन में भी मधुर विरह का सौंदर्य व्याप्त है। यह सौंदर्य क्षण-क्षण नवीन है। संप्रदाय के इस नित्योत्सव-रस के अनुभव का सौभाग्य उन बिरले लोगों को प्राप्त है जो प्रेमरूपासखी-भाव के उपासक हैं।

संप्रदाय में नित्य-विहारी कृष्ण को ही एकमात्र परमपुरुष माना गया है। उनकी निजरूपा एवं आराध्या श्रीराधा ही परम प्रकृति हैं। राधा ही संप्रदाय की इष्टदेवता और गुरु हैं। सारा जगत् सौंदर्य-माधुर्य के उत्कर्षरूप इन्हीं युगलकिशोर का प्रतिबिंब है। नित्य विहार का क्षेत्र है श्रीवृन्दावन और युगल-किशोर की सहायिका हैं सखियाँ। ये स्व-पर भेद से नितांत रहित हैं। यह प्रेमरूप चतुर्विध परिकर सौंदर्यमय है। वृन्दावन के इस नित्योत्सव-रस के अत्यंत भावपूर्ण वर्णन मिलते हैं। श्रीध्रुवदासजी अपनी एक अतिशय सुंदर रचना में वृन्दावन की उपमा 'रस में पगे हुए सुहाग के बाग' से देते हैं, जिसमें प्रीतिरूपी लता पर दो पुष्प शोभित हैं—एक नील वर्ण वाले कृष्ण और दूसरी गौरवर्णा राधा—

बन है बाग सुहाग कौ, राख्यौ रस में पागि।
रूप-रंग के फूल दोउ, प्रीति लता रहे लागि॥

(वृन्दावनशतक)

जीव जब अपने वास्तविक स्वरूप–प्रेमरूपासखी-भाव–को भूल जाता है तब वह संसार-चक्र में फँस जाता है। अतः उसे निज स्वरूप का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है।

हिताचार्यजी ब्रह्म, जीव, जगत् की जटिल समस्याओं, विधि-निषेधों एवं दार्शनिकों वाग्जालों में नहीं उलझे। उन्होंने उपासक और उपास्य दोनों को प्रेमरूप माना है, जीव और ब्रह्मरूप नहीं। ज्ञान-मार्ग के अतिरिक्त अपने समय में प्रचलित भक्ति के विविध शृङ्खला-निगडित रूपों–वैधी, रागानुगा, रागात्मिका आदि–तथा उनकी तार्किक व्याख्या को भी हितजी ने आवश्यक नहीं समझा। इन सबका अतिक्रमण कर उन्होंने 'रसो वै सः' में अंतर्निहित प्रेमलक्षणा भक्ति का सिद्धांत सर्वोत्कृष्ट माना। यह भगवद्रस काव्यरस-परिपाटी से भिन्न नित्य प्रकट और नित्य नूतन है। हित या सर्वोच्च प्रेम-रस ही इस सिद्धांत का प्रमेय तत्व है। हिताचार्यजी की श्रीमुख-वाणी ही इसके प्रमाणरूप में मान्य है। संप्रदाय में उपासना के तीन प्रमुख अंग ये माने गए हैं—परिचर्या, नाम-स्मरण तथा वाणी-अनुशीलन।[1] हिताचार्यजी ने दो प्रकार की सेवाओं का विधान किया–प्रकट एवं मानसिक। प्रकट सेवा श्रीराधावल्लभजी की थी। वृन्दावन के इस नाम के प्रसिद्ध प्राचीन मंदिर[2] का प्रथम पाटोत्सव सं० १५९१ में सम्पन्न हुआ। हितजी ने मंदिर में अर्चा-पूजा के विविध अंगों की सुव्यवस्था की। मानसिक सेवा में एकाग्र चित्त होकर भावसिद्ध देह द्वारा चर्या का विधान है। यह सर्वसाधारण के लिए अशक्य है। प्रकट पूजा आज तक चली आ रही है। उक्त पाटोत्सव में श्रीकृष्ण का विग्रह तो विराजमान था, परंतु श्रीराधा का नहीं। श्रीकृष्ण के बाईं ओर वस्त्र की एक गद्दी स्थापित की

---

१. इन तीनों अङ्गों के विवेचन के लिए देखिए श्री ललिताचरण गोस्वामी-कृत उक्त ग्रन्थ, पृ० २७८-३१८।

२. भगवान् का जो प्राचीन विग्रह हितजी द्वारा प्रतिष्ठापित किया गया था वह अब पुराने मंदिर में नहीं है।

गई, जो राधारानी का प्रतीक है । संप्रदाय में यह 'गद्दी (गादी)-सेवा' नाम से प्रसिद्ध है। चित्रपट की यह सेवा वल्लभ आदि अन्य कई वैष्णव-संप्रदायों में भी प्रचलित हुई।

राधावल्लभीय संप्रदाय की अष्टयाम-सेवा में पाँच आरतियों का विधान इस प्रकार है—मंगला, शृङ्गार, राजभोग, संध्या और शयन। सात समयों के सात भोग इस प्रकार हैं—मंगला, शृङ्गार, राजभोग, उत्थापन, संध्या, शयन तथा शैया-समय। इनकी प्रणाली में जटिलता तथा उपकरण-बहुलता का अभाव है । आरती तथा भोग के समय तदनुकूल सरस पद गाए जाते हैं। इन पदों की रचना संप्रदाय के अनेक विश्रुत महानुभावों द्वारा की गई।

संगीत की 'समाज'-प्रणाली भी इस सम्प्रदाय की एक विशेषता है । श्रीराधा-कृष्ण की मधुर अंतरंग लीलाओं का जो गायन विभिन्न भावों के पदों के रूप में किया जाता है उसकी संज्ञा 'समाज' है। इसमें एक प्रधान गायक होता है, जिसका अनुकरण साथ बैठे हुए अन्य गायकों द्वारा किया जाता है । विभिन्न उत्सवों के अवसर पर तदनुकूल पदों का गायन विविध राग-रागिनियों में होता है । श्रीजी का अनुरूप शृङ्गार भी इन उत्सवों पर किया जाता है। गेय-पदों के संग्रह 'वर्षोत्सव' नाम से प्रसिद्ध हैं। हितजी के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय में व्यासजी, ध्रुवदासजी, दामोदरवरजी, गंगाबाई, यमुनाबाई, वल्लभजी आदि अनेक महान् संगीतज्ञ हुए। उनके द्वारा एक नूतन तालबद्ध परिपाटी का उन्नयन किया गया।

इस सम्प्रदाय के उत्सवों की संख्या काफी बड़ी है । कहा जाता है कि पहले केवल दस प्रमुख उत्सव थे—होली, फूलडोल, जल-विहार, हिंदोलोत्सव, शरदोत्सव, पाटोत्सव, दीपमालिका, वन-विहार, खिचरी तथा वसंतोत्सव । धीरे-धीरे नैमित्तिक उत्सवों की संख्या बढ़ती गई। सम्प्रदाय के पूज्य गोस्वामियों के जन्मोत्सव भी इनमें सम्मिलित कर लिए गए । ये सभी उत्सव उल्लासमय हैं। इनमें साहित्य और संगीत की निर्झरिणी के साथ चित्रकला के भी

दर्शन होते हैं। मंदिरों को कलापूर्ण ढंग से सजाया जाता है। साँझी तथा फूलबँगले बनते हैं, जो संप्रदाय के अनुयायिओं की सुरुचि एवं कला-प्रियता के द्योतक हैं।

संप्रदाय का मुख्य दीक्षामंत्र श्रीराधारानी-मुखोक्त युगल-मंत्र मान्य है। तिलक और तुलसी की कंठी धारण करने की प्रथा है।

ब्रज में राधावल्लभीय-सम्प्रदाय की व्यापकता का मुख्य श्रेय आचार्य हितजी और उनके परवर्ती अनेक महानुभावों के व्यक्तित्व को दिया जा सकता है। यह सम्प्रदाय विभिन्न विधि-निषेधों, जटिल क्रिया-कलापों आदि के बंधनों से मुक्त रहा है। ब्रज के प्रमुख स्थानों में तथा बाहर आज भी इस संप्रदाय का अच्छा प्रचार है। ब्रज में वृन्दावन इसका प्रमुख केंद्र है। यहाँ सेवाकुंज, वंशीवट, रासमंडल, मानसरोवर, धीरसमीर, हिंदोलस्थल, शृङ्गारवट आदि अनेक स्थल संप्रदाय से संबंधित माने जाते हैं। इनमें से कई के अधिकारी अब भी संप्रदाय के लोग हैं। हितजी द्वारा वृन्दावन के सेवाकुंज, वंशीवट, रासमंडल आदि अनेक स्थलों का पुनरुद्धार किया गया, ऐसी प्रामाणिक मान्यता है। वास्तव में हितजी ने वृन्दावन के महत्व को बढ़ाने में बहुत बड़ा योग दिया। वृन्दावन के अतिरिक्त ब्रज में बाद, अड़ींग, गोवर्द्धन, राधाकुंड, बरसाना, डीग, कामवन, कोसी, रावल, बरारी आदि में कितने ही पवित्र दर्शनीय स्थल हैं, जो इस संप्रदाय से संबंधित हैं।

अन्य मत

ब्रज में प्रचलित मुख्य वैष्णव संप्रदायों का संक्षिप्त विवेचन ऊपर किया गया है। अन्य मत एवं धार्मिक आंदोलन जो विवेच्य काल (१४००-१६०० ई०) में ब्रज में पल्लवित हुए इस प्रकार हैं—

श्री संप्रदाय

ब्रज में रामानुजाचार्य के श्री संप्रदाय का मुख्य मंदिर श्री रंगजी का मंदिर है। इसका निर्माण वृन्दावन में १८४५ ई० में प्रारंभ होकर १८५१ ई० में पूरा हुआ। मथुरा के प्रसिद्ध सेठ-

परिवार के दो भाइयों—गोविंददास और राधाकृष्ण—द्वारा ४५ लाख रुपए के प्रभूत व्यय से यह मंदिर बनाया गया। विशालता की दृष्टि से यह ब्रज का सबसे बड़ा मंदिर है।[1] इसका भव्य गोपुरं, गर्भगृह तथा भीतर की दीवालें अनेक प्रतिमाओं से अलंकृत हैं। ये प्रतिमाएँ तथा मंदिर का सारा स्थापत्य दक्षिणी शैली का है। मंदिर की पूजा-अर्चा भी दक्षिण के श्रीवैष्णवों की पद्धति पर होती है। मुख्य प्रतिमा भगवान् नारायण की है। मुख्य मंदिर के सामने स्वर्णमंडित ध्वजस्तंभ (उँचाई ६० फुट), पुष्कर नामक तालाब तथा उद्यान है। रथयात्रा, वैकुंठोत्सव आदि अनेक उत्सव यहाँ समारोह के साथ मनाए जाते हैं। मथुरा में श्री सम्प्रदाय का मुख्य मंदिर श्री गतश्रमनारायण का है।

निर्गुण पंथ

मथुरा, वृन्दावन, आगरा आदि स्थानों में अनेक निर्गुण पंथों ने भी अपने केंद्र स्थापित किए। इनमें मथुरा के चरणदासी तथा अंतापाड़ा के योगी; वृन्दावन के मलूकदासी, कबीरपंथी और साहिब-पंथी तथा आगरा के राधास्वामी मत वाले उल्लेखनीय हैं। पिछले मत का एक अत्यंत कलापूर्ण मंदिर आगरा में निर्मित हो रहा है।

शैव तथा शाक्त मत

इस काल में शैव और शाक्त मत पूर्ववत् जारी रहे। शिव की लिंगरूप में पूजा का प्रचार अधिक हुआ। गणेश-पूजा का प्रच-लन भी बढ़ा। शक्तिरूपा देवी के जिन मुख्य रूपों का उल्लेख पीछे (पृ० २९) किया जा चुका है, उनके अतिरिक्त अन्नपूर्णा, संकटा, मनसादेवी, गायत्री, चर्चिका, शीतला, मसानी, कात्यायनी, पाताल-देवी आदि का भी पूजन ब्रज के विभिन्न भागों में प्रचारित हुआ। देवी के कुछ मंदिरों में भारी जातें लगने लगीं। मथुरा जिले के नगला झींगा गावँ की मनसादेवी, नरीसेमरी की देवी, अकबरपुर

---

१. इस मंदिर की बाहरी दीवालों की लंबाई-चौड़ाई क्रमशः ७७३ और ४४० फुट है। द्र० ग्राउज,'मथुरा मेम्वायर' (द्वि० संस्करण), पृ० २४०।

की देवी आदि ऐसे ही स्थान हैं, जहाँ विभिन्न अवसरों पर भारी समारोह होते हैं। देवी को इस काल में ग्राम-देवता का गौरव प्राप्त हुआ। बिना उनकी पूजा के धार्मिक और सामाजिक कृत्यों को अपूर्ण माना जाने लगा। इस काल में मथुरा में कई बड़े तांत्रिक और योगवेत्ता हुए, जिनमें साम्राज्यजी दीक्षित, वृन्दावनजी महाराज, ज्यो० कृपाशंकरजी, ज्यो० गोविंदलालजी तथा वासुदेव महाराज के नाम उल्लेखनीय है।

जैन धर्म

विवेच्य काल में उत्तर भारत के प्रमुख जैन-केंद्रों के अंतर्गत मथुरा की भी गणना होती थी और विभिन्न प्रदेशों के लोग तीर्थ-यात्रार्थ यहाँ आते थे। अकबर के शासन-काल में अलीगढ़ के सेठ साहु टोडर ने मथुरा के अनेक भग्न जैन स्तूपों का जीर्णोद्धार कराया और कई ग्रन्थों को लिखाया। चौरासी नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक टीला इस काल में मथुरा का प्रमुख जैन-क्षेत्र बना। यहाँ जम्बूस्वामीजी का मंदिर बना तथा बाद में सरस्वती-भवन तथा ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना हुई। सरस्वती-भवन में प्राचीन एवं नवीन पद्धतियों पर जैन संस्कृति के अध्ययन-अध्यापन की सुव्यवस्था है। चौरासी में प्रतिवर्ष रथयात्रा आदि धर्मोत्सव बड़े समारोहपूर्वक मनाए जाते हैं। आगरा, बटेश्वर, कोसी, सहपऊ आदि स्थानों में भी अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ।

वैष्णव धर्म के इस उत्कर्ष-काल में ब्रज के जैनियों द्वारा जिस विशालहृदयता का परिचय दिया गया वह हमारे इतिहास में उल्लेखनीय है कितने ही धनी-मानी जैनियों ने न केवल स्वयं वैष्णव धर्म और कृष्णभक्ति के प्रति अपार श्रद्धा प्रदर्शित की अपितु उसके प्रचार में भी योग दिया। ब्रज में और उसके बाहर अनेक बड़े कृष्ण-मंदिरों के निर्माण में जैनमतावलंबियों द्वारा प्रभूत सहायता प्रदान की गई। वृन्दावन में श्रीरंगजी-मंदिर का तथा मथुरा में प्रमुख द्वारकाधीश मंदिर का निर्माण यहाँ के प्रसिद्ध सेठ-परिवार

द्वारा कराया गया । आगरा, मथुरा, इटावा, अलीगढ़, एटा और मैनपुरी जिलों के कितने ही जैन लेखकों और कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा संस्कृत और ब्रजभाषा का भंडार भरा । कई कवियों ने कृष्ण-चरित का भक्तिपूर्ण वर्णन किया है। तत्कालीन जैन लेखकों में बनारसीदासजी, राजमल्लजी, भैया भगौतीदासजी, सुंदरदासजी, जिनदासजी, प्रागदासजी आदि के नाम प्रसिद्ध हैं ।[1]

आर्यसमाज

आर्यसमाज के उद्भावक स्वामी दयानंद सरस्वती (१८२४-८३ ई०) के मथुरा-निवास का विवरण इस इतिहास के प्रथम खंड[2] में दिया जा चुका है । उनके गुरु स्वामी विरजानंदजी मथुरा के निवासी थे । स्वामी दयानंदजी ने आर्यसमाज की स्थापना कर भारतीय समाज और धार्मिक चिंतन को नया मोड़ दिया। मथुरा में भी आर्यसमाज की स्थापना हुई, जहाँ से १८८३ ई० से 'मथुरा समाचार' नामक एक मासिक पत्र प्रकाशित होने लगा । वृन्दावन में गुरुकुल की स्थापना हुई । इन तथा ब्रजक्षेत्र की अन्य संबंधित संस्थाओं ने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में बड़े उपयोगी कार्य किए और लोगों में जागरण की नई चेतना को जन्म दिया ।

गत शताब्दी के अंत में मथुरा में थियासफी विचार-धारा का भी एक केंद्र स्थापित हुआ । परंतु वह अधिक समय तक चालू न रह सका ।

विदेशी मत

समीक्ष्य-काल में ब्रज में दो उल्लेखनीय विदेशी धर्मों ने भी अपने गढ़ बना लिए—पहला था इस्लाम और दूसरा ईसाई मत । इसके पहले ब्रजभूमि में तथा भारत के अन्य अनेक प्रदेशों में ईरानी,

---

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य डा० ज्योतिप्रसाद जैन का लेख 'ब्रज के जैन साहित्यकार' ('ब्रजभारती', वर्ष १४, अङ्क ४, पृ० ५-३७)

२. अ० १३, पृ० २१५ ।

यूनानी, शक, पह्लव, हूण आदि विदेशी आए थे । परंतु वे छोटी-मोटी सरिताओं की तरह भारतीय संस्कृति के महासागर में समा गए थे । ऐसी बात इन पिछले दो धर्मों के साथ न हो सकी । उन्होंने यहाँ अपने पृथक् अस्तित्व बनाए । मुगल-काल में आगरा मुगलों की राजधानी बना । वहाँ उन शासकों ने अनेक विशाल इमारतों का निर्माण कराया । मुसलमान मजहब के मानने वालों की संख्या आगरा, अलीगढ़, मथुरा, महावन, इटावा आदि स्थानों में बारहवीं शती के बाद बराबर बढ़ती गई । मथुरा में औरंगजेब के समय में श्रीकृष्ण-जन्मस्थान तथा चौक की दो बड़ी मस्जिदों का निर्माण हुआ । इसके पहले भी यहाँ कई मस्जिदें बन चुकी थीं ।

ईसाई मत का आगमन ब्रज में मुगल-काल में हुआ, जब कि आगरा में सम्राट् अकबर के नाम पर 'अकबरी चर्च' का निर्माण हुआ । क्रश्चियन पादरियों ने इस नगर में 'आगरा कालेजिएट लाइब्रेरी' की स्थापना की । यह संस्था इस प्रांत में अपने ढंग की सर्वप्रथम मानी जाती है । ईसाई धर्म के उत्तर भारत में प्रसार-विषयक प्रचुर सामग्री इसमें विद्यमान है । इस संस्था का 'आगरा कैलेंडर' नामक मुखपत्र बीसवीं शती के आरंभ तक जारी रहा । सिकंदरा में भी एक मिशन की स्थापना हुई । मथुरा में १८५६ ई० में इंगलिश चर्च का तथा १८७४ में कैथोलिक चर्च का निर्माण हुआ । दूसरे को मथुरा के तत्कालीन कलक्टर ग्राउज ने बनवाया । इसमें गाथिक तथा भारतीय स्थापत्य का अच्छा मिश्रण है । अन्य जिलों में भी ईसाई मत के केंद्र स्थापित हुए । इन सब के माध्यम से भारतीयों को ईसाई बनाने के नए-नए तरीके काम में लाए गए । फलस्वरूप ईसाइयों की संख्या बढ़ती गई । इस समय आगरा, मथुरा, वृन्दावन में ईसाइयों की कई मिशनरी संस्थाएँ सक्रिय कार्य कर रही हैं ।

(५) आधुनिक प्रवृत्तियाँ

भारतीय-जीवन का धार्मिक पहलू बीसवीं शती में बहुत-कुछ बदल चुका है । परंतु ब्रज-जैसे प्राचीन धार्मिक केंद्रों में अब भी हमें

पुरानी मान्यताओं के प्रत्यक्ष दर्शन मिलते हैं । ब्रजभूमि में सगुण भक्ति की व्यापकता का अनुमान यहाँ के वैष्णव मंदिरों में होने वाले उत्सवों, त्यौहारों, मेलों, वन-यात्राओं आदि से लगाया जा सकता है। भगवान् कृष्ण के मंदिरों की संख्या यहाँ सबसे अधिक है। श्रावण झूला, जन्माष्टमी, राधा-अष्टमी, दीपावली, यमद्वितीया, होली, रथ-यात्रा, यमुनाषष्ठी प्रभृति त्यौहारों पर मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, गोवर्द्धन, नंदगावँ, बरसाना आदि के सुसज्जित मदिरों में विविध उत्सव समारोहपूर्वक मनाए जाते हैं । भारत के विभिन्न प्रदेश-वासियों के लिए ही नहीं, विदेशी लोगों के लिए भी ये आकर्षण के केंद्र हैं । आज भी यदि भगवान् कृष्ण की भक्ति का जीता-जागता रूप देखना है तो इन मंदिरों में दर्शनार्थियों के समूह को देखा जाए। ब्रज के अनेक धार्मिक स्थलों पर होने वाली रासलीलाएं तथा अन्य उत्सव एवं मेले आज भी श्रीकृष्ण की लोकरंजिनी लीलाओं की मधुर स्मृति सँजोए हुए हैं। यमुना नदी और उसका पवित्र कूल आज भी भावुक जन के हृदय में भक्ति-भावना का संचार कर देता है।

ब्रज की वनयात्रा तथा परिक्रमाएँ भी उल्लेखनीय हैं। 'ब्रज चौरासी कोस' की यात्रा सब में प्रमुख है । इस बड़ी यात्रा में ब्रज के सभी मुख्य वन-उपवन तथा अन्य धार्मिक स्थल आ जाते हैं। इस यात्रा-मार्ग में पड़ने वाले प्रमुख स्थान ये हैं--मथुरा, मधुवन, तालवन, कुमुदवन, शांतनुकुंड, बहुलावन, अड़ींग, राधाकुड, गोवर्द्धन, चंद्र-सरोवर (परासौली), जतीपुरा, डीग, कामवन, बरसाना, संकेत, नंदगावँ, करहला, चोरघाट, वत्सवन, गरुड़गोविंद, भांडीरवन, वृन्दावन, मानसरोवर, लोहवन, बलदेव, ब्रह्मांडघाट, महावन, गोकुल और रावल । यह यात्रा भादौ में प्रारंभ की जाती है। किसी-किसी यात्रा में कई हजार व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। यात्रा में दर्शन, कथा-कीर्तन, उपदेश, रासलीला आदि के आयोजन नित्य होते हैं। मथुरा,

---

१. इनकी विस्तृत सूची के लिए दे० पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ (प्रका० ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा , सं० २०१०), पृ० १०४३-५४ ।

वृन्दावन, बरसाना, गोवर्द्धन, कामवन आदि की अलग परिक्रमाएँ भी होती हैं। गिरिराज गोवर्द्धन की बड़ी मान्यता है। कितने ही भक्त इसकी दंडवती परिक्रमा लगाते हैं। इन यात्राओं में ब्रज के मुख्य मंदिरों, वन-उपवनों, कुंजों, घाटों, आचार्यों की बैठकों, भक्तों की समाधियों आदि के दर्शन होते हैं। ब्रज के वर्तमान धार्मिक जीवन में इन यात्राओं का महत्वपूर्ण स्थान है।

वर्तमान ब्रज में रामोपासना का उल्लेख करना भी आवश्यक है। भगवान् राम के मंदिर ब्रज के प्राय: सभी स्थानों में विद्यमान हैं। उनकी पूजा-अर्चा में भक्ति और मर्यादा की भावना रहती है। रामलीला का यहाँ अच्छा प्रचार है। भरतपुर, मथुरा, आगरा आदि स्थानों में बड़े समारोह के साथ रामलीलाएँ होती हैं और रामनवमी के उत्सव उत्साहपूर्वक मनाए जाते हैं। श्रीराम के अनन्य उपासक हनुमान की पूजा भी वर्तमान ब्रज में प्रचलित है।

ब्रजभूमि में उच्चकोटि के विद्वान् महात्मा होते आए हैं। आधुनिक काल में भी ब्रज को ग्वारिया बाबा, उड़िया बाबा, अवधदास, हंसदास, रामकृष्णदास, हाथीबाबा, हरिबाबा, माता आनंदमयी, अखंडानंद सरस्वती आदि ऊँचे सन्त-महात्माओं के होने का गौरव प्राप्त है।

ब्रज के मुख्य धार्मिक स्थलों के संरक्षण की ओर शासन और जनता का ध्यान गया है। उत्तर प्रदेश शासन द्वारा हाल में महात्मा सूरदास के साधना-स्थल रुनुकता (जि० आगरा) तथा उनकी निर्वाणभूमि परासौली में उनके स्मारक के पुनरुद्धार का कार्य सम्पन्न कराया गया है। वल्लभ-संप्रदाय के महानुभाव इस ओर विशेष जागरूक हैं। उनके द्वारा अ० भा० पुष्टिमार्गीय वैष्णव-परिषद् की स्थापना की गई है। इस समिति ने कुछ दिन पूर्व जतीपुरा में वल्लभाचार्यजी की बैठक का, आन्योर में गोविंदकुंड पर भक्त कवि चतुरा नागा की समाधि का तथा चतुर्भुजदासजी के समाधि-स्थल

का जीर्णोद्धार कराया है । शासन द्वारा ब्रज के वनों, पर्वतों तथा सांस्कृतिक महत्व के स्मारकों का संरक्षण यथासंभव शीघ्र कराना अपेक्षित है ।

गत लगभग ६० वर्षों में ब्रज के धार्मिक पुनरुत्थान की दिशा में बहुत-कुछ कार्य सम्पन्न हुआ है । भारत-धर्ममहामंडल की स्थापना पहले मथुरा में ही हुई थी और इसका प्रधान कार्यालय यहाँ कई वर्षों तक रहा । इसके कई सफल सम्मेलन हुए । मथुरा में अ० भा० संस्कृत साहित्य सम्मेलन का भी आयोजन हुआ, जिसमें भारत के प्रायः सभी भागों से धुरंधर विद्वानों एवं धर्माचार्यों ने भाग लिया। अखिल भारतीय स्तर के गो-सम्मेलनों तथा अन्य अनेक धार्मिक सम्मेलनों का आयोजन मथुरा-वृन्दावन में हुआ है । इनमें विविध संप्रदायों के लोग सम्मिलित होते रहे हैं । मथुरा से 'सद्धर्म', 'राष्ट्र-लक्ष्मी' आदि कई धार्मिक पत्र भी निकलते रहे हैं ।

वैष्णव सम्मेलनों के अतिरिक्त आर्यसमाज, जैन एवं बौद्ध धर्म के भी विविध समारोहों का आयोजन यहाँ होता रहा है। मथुरा में स्वामी दयानंद-जन्म-शताब्दी समारोह बड़े धूमधाम से सम्पन्न हुआ, जिसमें स्वामी श्रद्धानंदजी आदि अनेक विश्रुत महानुभावों ने भाग लिया । मई, १९५६ में बुद्धजयंती-समारोह भी मथुरा में बड़े उत्साह से मनाया गया ।

वर्तमान ब्रज में रामकृष्ण मिशन, मानवसेवासंघ आदि कुछ नए धार्मिक संगठन निर्मित हुए । एक थियासफी-समिति का भी हाल में निर्माण हुआ है । आधुनिक समय में अंधविश्वास की अपेक्षा तर्कसम्मत और स्वतंत्र धार्मिक विचारों की ओर शिक्षित समाज की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है । विचारशील वर्ग अब यह ठीक ही मानने लगा है कि व्यर्थाडंबर और पोपलीला के स्थान पर धर्म का सीधा-सच्चा स्वरूप जनता के सामने आना चाहिए ।

—•—

अध्याय २

ब्रज की कला

ब्रज में ललित कलाओं के विकास का एक लम्बा इतिहास है। भारत का प्राचीन धार्मिक केन्द्र होने के कारण मथुरा में ईसवी सन् से कई सौ वर्ष पहले स्थापत्य और मूर्तिकला का प्रारम्भ हो चुका था। इस नगर की गणना भारत के प्रधान कला-केन्द्रों में की जाने लगी थी और मथुरा की एक विशेष कलाशैली बन गई थी। ईरान और यूनान की संस्कृतियों का भारतीय संस्कृति के साथ जो समन्वय हुआ उसका मूर्तरूप हमें मथुरा की प्राचीन कला में दिखलाई पड़ता है। शक और कुषाणवंशी राजाओं के शासन-काल में मथुरा की मूर्ति कला को अधिक विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय से जैन, बौद्ध तथा वैदिक—भारत के इन तीनों प्रधान धर्मों को यहाँ के सहिष्णुतापूर्ण वातावरण में साथ-साथ बढ़ने का अच्छा अवसर मिला। यह मथुरा के इतिहास में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। ईसवी पूर्व पहली शती से लेकर गुप्त-काल के अंत तक उक्त तीनों धर्मों से संबंधित कलावशेष बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। गुप्तकाल के बाद भी ब्रज में मूर्तिकला और वास्तुकला की उन्नति कई शताब्दियों तक जारी रही, यद्यपि उसमें पहले-जैसा सौष्ठव और निजस्व न रहा। दिल्ली सल्तनत के लगभग सवा तीन सौ वर्षों के आधिपत्य-काल में इस कलात्मक विकास में गतिरोध उत्पन्न हुआ। मुगल काल में अकबर के समय ब्रज में जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ, उसके फलस्वरूप साहित्य, संगीत तथा चित्रकला का फिर से उद्धार हो सका। यहाँ ब्रज की मुख्य ललित कलाओं का विवेचन किया जाता है।

स्थापत्य

जैन तथा बौद्ध इमारतें—मथुरा में जैन तथा बौद्ध धर्म के बड़े केन्द्र स्थापित हो जाने से यह युक्तिसंगत था कि यहाँ अनेक स्तूपों तथा विहारों का निर्माण होता । मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त एक मूर्ति की चौकी पर खुदे हुए द्वितीय शती के एक लेख से पता चला है कि उस समय से बहुत पूर्व मथुरा में एक बड़े जैन स्तूप का निर्माण हो चुका था । लेख में उस स्तूप का नाम 'देव निर्मित वोद्ध स्तूप' दिया है । वर्तमान कंकाली टीला की भूमि पर उस समय से लेकर प्रायः ११०० ईसवी तक जैन इमारतों और मूर्तियों का निर्माण होता रहा । बौद्ध इमारतों की संख्या भी बड़ी थी । सम्राट् अशोक, कनिष्क तथा अन्य शक-कुषाण शासकों द्वारा मथुरा नगर तथा उसके आस-पास कितने ही स्तूपों तथा विहारों का निर्माण किया गया ।

जब चौथी शती में चीनी यात्री फाह्यान मथुरा आया तब उसने यमुना नदी के दोनों किनारों पर बीस बौद्ध विहारों को देखा । उसने यहाँ के छह बड़े बौद्ध स्तूपों का भी उल्लेख किया है । मथुरा से प्राप्त शिलालेखों से अब तक अनेक बौद्ध विहारों का पता चला है । उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—

(१) हुविष्क विहार, (२) स्वर्णकार विहार, (३) श्री विहार, (४) चेतीय विहार, (५) चुतक विहार, (६) अपानक विहार, (७) मिहिर विहार, (८) गुहा विहार, (९) क्रोष्टकीय विहार, (१०) रोषिक विहार, (११) ककाटिका विहार, (१२) प्रावारिक विहार, (१३) यशा विहार तथा (१४) खण्ड विहार ।

खेद है कि इन विहारों में से एक भी इस समय नहीं बचा । इन इमारतों के निर्माण में ईंटों और पत्थरों का प्रयोग होता था । इनका प्रकार सांची, तक्षशिला, सारनाथ आदि स्थानों के बौद्ध विहारों-जैसा रहा होगा । मथुरा में कुषाण काल में सबसे अधिक

विहारों का निर्माण हुआ, जैसा कि तत्कालीन अभिलेखों से सिद्ध होता है।

ब्रज के प्राचीन स्तूप भी ईंट और पत्थर के बने हुए थे। इनमें से सबसे नीचे एक चौकोर आधार बनाया जाता था। उसके ऊपर प्रायः गोलाकार रचना (अंड) होती थी। शीर्ष पर दंड (यष्टि) के सहारे छत्र रहता था। कभी-कभी छत्रों की संख्या कई होती थी। स्तूप का बाहरी भाग विविध भाँति के उत्कीर्ण शिलापट्टों से सजाया जाता था। स्तूप की परिक्रमा के लिए बाड़ा (वेष्टनी) बनाया जाता था, जिसे 'वेदिका' कहते थे। इसमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर खड़े खंभे आड़े पत्थरों (सूची) द्वारा जोड़े जाते थे। खम्भों के सिरों पर जो पत्थर रखे जाते थे वे 'उष्णीष' या 'मूर्धस्थ पाषाण' कहलाते थे। वेष्टनी या वेदिका के ये सभी पत्थर विविध भाँति की उकेरी हुई मूर्तियों और अलंकरणों से युक्त होते थे। भीतर जाने-आने के लिए वेदिका के प्रायः चारों ओर एक-एक तोरण-द्वार बना रहता था।

स्तूपों में तीर्थङ्करों या भगवान् बुद्ध अथवा उनके प्रमुख शिष्यों के पवित्र अवशेष—हड्डी, राख, नख, बाल आदि—रखे जाते थे। जब बुद्ध का देहावसान (निर्वाण) हुआ तब उनके अवशेषों को आठ भागों में विभक्त किया गया और प्रत्येक के ऊपर एक स्तूप की रचना की गई। इसके बाद स्तूप-निर्माण की परम्परा जारी रही। सम्राट् अशोक के लिए कहा जाता है कि उसने भारत के विभिन्न स्थानों पर ८४,००० स्तूपों का निर्माण कराया। उसने मथुरा में भी कई बड़े स्तूप बनवाये। इनमें से तीन का उल्लेख चीनी यात्री हुएन-सांग ने किया है। इस यात्री ने बुद्ध भगवान् के साथियों के अवशेषों पर निर्मित स्तूपों की भी चर्चा की है। अशोक और उसके बाद निर्मित कुछ भग्नावशिष्ट स्तूप सांची, तक्षशिला, सारनाथ आदि स्थानों में विद्यमान हैं। इनमें कई तो बहुत विशाल हैं। मथुरा में समय-समय पर छोटे-बड़े जिन स्तूपों की रचना की गई, उनमें से कई के अवशेष उपलब्ध हुए हैं।

हिंदू मंदिर—मंदिरों के निर्माण का आरम्भ तथा उनका विकास स्तूपों से भिन्न रूप में हुआ। स्तूपों की रचना पवित्र अवशेषों के ऊपर होती थी। वाल्मीकि रामायण में संभवतः इसी कारण उनके लिए 'स्मशान चैत्य' नाम आया है*। परंतु मंदिर देवता के निवास-स्थान माने जाते हैं और इसलिए उन्हें 'देवालय' कहा गया है।

मंदिर के भीतर एक या अनेक देवों की मूर्तियों का होना तथा उनकी पूजा होना अनिवार्य माना जाता था। मंदिर की रचना-शैली भी स्तूप से पृथक् थी। शिखर शैली का होना मंदिर का निजस्व है, जो सुमेरु, त्रिकूट, कैलाश आदि पर्वतों से लिया गया प्रतीत होता है। मंदिर के वहिर्भाग को प्राय: विविध अलंकरणों तथा देव, यक्ष, किन्नर, अप्सरादि की प्रतिमाओं से सजाया जाता था। मथुरा में सम्भवतः जैनों तथा बौद्धों के स्तूपों का निर्माण मन्दिरों के बनने से पहले प्रारम्भ हुआ। यहाँ हिंदुओं के सबसे प्राचीन जिस मन्दिर का उल्लेख मिला है वह राजा शोडास के राज्य-काल में निर्मित हुआ। ऐसा एक सिरदल पर उत्कीर्ण शिलालेख से ज्ञात हुआ है। इस लेख में लिखा है कि वासुदेव-कृष्ण का चतुःशाला मन्दिर, तोरण तथा वेदिका का निर्माण वसु नामक व्यक्ति के द्वारा महाक्षत्रप शोडास के शासन-काल में सम्पन्न हुआ। यह मन्दिर उस स्थान पर बनवाया गया जहाँ भगवान् कृष्ण का जन्म माना जाता है। हो सकता है कि इसके पहले श्रीकृष्ण का कोई मन्दिर मथुरा में रहा हो, पर उसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिला। अन्य हिन्दू देवी-देवताओं की अनेक कुषाणकालीन मूर्तियाँ ब्रज में मिली हैं। सम्भव है कि उनमें से कुछ के मन्दिरों का निर्माण इस समय या इसके कुछ पहले आरम्भ हो गया हो।

गुप्तकाल में मथुरा में हिंदू-मन्दिरों का निर्माण बड़ी संख्या में हुआ। श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर 'परम भागवत' चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल में एक भव्य मन्दिर की रचना की गई। चीनी यात्री

---

* रामायण, सुन्दरकांड, २२, २१।

हुएन-सांग ने अपने समय में मथुरा के अनेक हिंदू-मन्दिरों के अस्तित्व का उल्लेख किया है, जिनमें बहुत से साधु पूजा करते थे ।

दुर्भाग्य से मथुरा में प्राचीन स्थापत्य का कोई ऐसा समूचा उदाहरण आज नहीं बचा, जिससे हम धार्मिक इमारतों, प्रासादों, साधारण मकानों आदि की निर्माण-शैली की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त कर सकते । इमारती पत्थर एवं अन्य अवशेषों के रूप में थोड़ी-बहुत सामग्री उपलब्ध हुई है, जिसके आधार पर हम मथुरा की कुछ इमारतों की रूप-रेखा जान सकते हैं । प्राचीन प्रासाद या बड़े मकान कई तलों के होते थे । नीचे के खंड से ऊपर जाने के लिए जीने (सोपानमार्ग) होते थे । जीने के किनारों (पार्श्व) पर वेदिका-स्तम्भ लगे होते थे । मकानों में बैठक का कमरा, स्नानागार, भोजन-गृह, शयन-गृह, शृङ्गार-कक्ष और अन्तःपुर प्रायः अलग-अलग होते थे । यथास्थान खिड़कियाँ (गवाक्ष) भी होती थीं ।

मकानों में जो चौखट, दरवाजे, खम्भे आदि लगाए जाते थे उन्हें लता-वृक्ष, पशु-पक्षी, कमल, मंगल-घट, कीर्तिमुख, स्वस्तिक आदि अलंकरणों तथा विविध देवी-देवताओं, यक्ष-किन्नरों आदि की प्रतिकृतियों से अलंकृत किया जाता था । ईंट की बनी हुई इमारतों की बाहरी दीवालों पर अनेक प्रकार की बेलबूटेदार ईंटें लगाई जाती थीं, जिन पर धार्मिक एवं लौकिक दृश्यों के कलात्मक चित्रण होते थे ।

ग्यारहवीं शती के आरम्भ में मथुरा के विशाल मंदिरों को बड़ी क्षति पहुँची । महमूद गजनवी के मीर मुंशी अल-उत्वी के लेख से ज्ञात होता है कि उस समय मथुरा में हिंदू मन्दिरों की संख्या बहुत बड़ी थी । मथुरा को जीतने के बाद महमूद द्वारा कितने ही मन्दिर धराशायी किए गए और उनकी मूर्तियाँ तोड़ी गईं । मंदिरों की अपार संपत्ति लूटकर महमूद गजनी लौटा ।

बारहवीं शताब्दी में मथुरा और उसके आस-पास अनेक बड़े मंदिर थे, जिनका विध्वंस मुसलमान आक्रान्ताओं ने किया । इनमें

राजा विजयपाल देव द्वारा ११५० ई० में श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर बनवाया गया प्रसिद्ध केशव-मंदिर भी था। बारहवीं शती से लेकर मुगल सम्राट् अकबर के समय तक ब्रज में मंदिरों का निर्माण नहीं के बराबर रहा। अकबर और जहाँगीर के समय में मथुरा-वृन्दावन में कुछ मंदिर तथा अन्य इमारतें बनीं, जिनमें से कई अब भी विद्य-मान हैं—

१. मथुरा का 'सती बुर्ज'—यह ५५ फुट ऊँचा एक चौखंडा बुर्ज है। जयपुर के राजा भारमल (बिहारीमल) की रानी इसी स्थान पर अपने मृत पति के साथ सती हुई थीं। उनके लड़के राजा भगवानदास ने अपनी माता की स्मृति में सन् १५७४ ई० में इस स्मारक का निर्माण करवाया। इसका शिखर पहले अधिक ऊँचा था, पर औरंगजेब के समय में उसका ऊपरी भाग तुड़वा दिया गया।

२. गोविंददेव मंदिर, वृन्दावन—वृन्दावन के प्राचीन मंदिरों में यह मंदिर सर्वश्रेष्ठ है। कहा जाता है कि सम्राट् अकबर वृन्दावन आये तो वे इस पुण्यभूमि को देखकर बहुत प्रभावित हुए और उनकी अनुमति से यहाँ गोविंददेव आदि कई मंदिरों का निर्माण कराया गया। कहते हैं इस कार्य में राजकीय कोष से भी कुछ सहायता दी गई। गोविंददेव के मंदिर का निर्माण कछवाहा-नरेश मानसिंह ने अपने दोनों गुरु रूप और सनातन के आदेश से करवाया था। औरंगजेब ने इस विशाल मंदिर की ऊपर की बुर्जें तुड़वा दीं। बाद में ऊपरी भाग की आंशिक मरम्मत कराई गई।

३. मदनमोहन मंदिर—यह शिखराकार मंदिर वृन्दावन में कालीदह घाट के पास है। इसकी भी निर्माण-शैली बहुत सुन्दर है। शिखर के ऊपर का आमलक अब तक सुरक्षित है।

४. गोपीनाथ मंदिर—मदनमोहन के मंदिर से इसकी बनावट बहुत मिलती-जुलती है।

५, राधावल्लभ-मन्दिर—यह मन्दिर दिल्ली के सुंदरदास कायस्थ द्वारा निर्मित हुआ। कुछ लोग सुंदरदास को देववन-निवासी मानते हैं।

६. जुगलकिशोर मंदिर—यह मन्दिर केशी घाट के पास है और अन्य प्राचीन मंदिरों की अपेक्षा अच्छी दशा में है। इसका भी शीर्ष (आमलक) सुरक्षित है। इस मन्दिर का निर्माण १६२७ ई० में हुआ।

७. हरदेव मंदिर, गोवधन—यह मंदिर कछवाहा राजा मानसिंह के द्वारा बनवाया गया था। सोलहवीं शताब्दी के स्थापत्य का यह एक अच्छा नमूना है।

सती बुर्ज तथा उक्त मंदिर लाल पत्थर के बने हुए हैं। इनकी रचना-शैली हिंदू और मुगल स्थापत्य के सामंजस्य का सुन्दर उदाहरण है। महावन आदि कतिपय अन्य स्थानों में भी गुप्त तथा मध्यकालीन मन्दिरों के कुछ खंडित अंश मिलते हैं।

ब्रज की उपर्युक्त इमारतों में गोविंददेव मन्दिर स्थापत्य की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। मथुरा में जन्मस्थान पर वीरसिंहदेव द्वारा बनवाया हुआ केशवराय का मन्दिर इससे मिलता-जुलता रहा होगा। गोविंददेव मन्दिर की रचना-शैली का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

यह मन्दिर १२ फुट ऊँची कुर्सी पर बना है। इसकी वर्तमान लंबाई २०० फुट और चौड़ाई १२० फुट है। मन्दिर लाल चित्तीदार पत्थर का बना है, जो ब्रज का मुख्य पत्थर है। इसका प्रवेश-द्वार पूर्व की ओर है। बाहरी जगमोहन की लम्बाई ४० फुट है और चौड़ाई २० फुट है। जगमोहन के बाद रंग-मण्डप है, जो ४० फुट लम्बा और १५ फुट चौड़ा है। इसके पीछे गर्भगृह है, जहाँ इस समय राधा-कृष्ण की लघु प्रतिमाएं विराजमान हैं। प्राचीन गर्भगृह इसके

पीछे था । इस समय पूर्वी प्रवेश-द्वार से लेकर गर्भगृह तक की लम्बाई ११७ फुट है । उत्तर से दक्षिण मण्डप की कुल लम्बाई १०५ फुट है । जब प्राचीन गर्भगृह रहा होगा तब पूर्व-पश्चिम वाली भुजा लगभग १७५ फुट लम्बी रही होगी ।

गोविंददेव मन्दिर का वाह्य रूप उत्तर भारत के मध्यकालीन कुछ मन्दिरों से मिलता-जुलता है । ग्वालियर किले में सास-बहू मंदिर इसी ढंग का है, परंतु खजुराहो के मन्दिर तथा उड़ीसा में भुवनेश्वर, कोंड़ार्क आदि स्थानों के मन्दिर इससे भिन्न हैं । इन मन्दिरों में भीतर तथा बाहर विविध मूर्तियों का चित्रण बहुलता से मिलता है। परंतु गोविंददेव तथा वृन्दावन के अन्य मुगलकालीन मन्दिरों में ऐसा नहीं है । कमल, मङ्गल-घट, कीर्तिमुख आदि अलंकरण तो वृन्दावन के मन्दिरों में मिलते हैं, परंतु उनमें देव या मानव प्रतिमाओं का प्रायः अभाव है । इसका प्रधान कारण विदेशी शासन का प्रभाव कहा जा सकता है । मुगलकाल तथा उससे पहले की इमारतों में स्थापत्य की जो विशेषताएँ थीं, उनका प्रभाव तत्कालीन हिंदू मंदिरों पर पड़ना स्वाभाविक था, विशेषकर उन स्थानों के मन्दिरों पर जो मुगल साम्राज्य से अंतर्गत थे ।

गोविंददेव के मन्दिर में गवाक्षों तथा मेहराबों का कटाव दर्शनीय है । पत्थर के प्रत्येक टुकड़े पर बारीक कारीगरी देखने को मिलती है । मन्दिर की छत बहुत ऊँची है । वह कमानीदार पत्थरों से बनाई गई है । नुकीली डाटों से सुसज्जित उसका गुंबज अत्यंत कलापूर्ण है । गुंबज की गोलाई और सुघरता देखते ही बनती है । इस प्रकार के गुंबज मुगलकालीन हिंदू इमारतों में बहुत कम मिलते हैं । मन्दिर के छोटे-बड़े सभी अवयव संतुलित हैं । कहीं भी भोंड़ापन नहीं दिखाई देता । मन्दिर की दीवालें १० फुट मोटी हैं । जोड़दार खम्भे यथास्थान खड़े हैं । यह विशाल और दृढ़ मन्दिर मुगलकालीन भारतीय कारीगरों की दक्षता का एक जीता-जागता प्रमाण है ।

सौभाग्य से इस मंदिर में चार नागरी-लेख सुरक्षित हैं, जिनसे इसके निर्माण-काल के साथ-साथ उन अधिकारियों तथा कारीगरों के नामों का भी पता चलता है जिन्होंने इसे बनाया। अधिकांश कारीगर तत्कालीन आमेर-राज्य के ही प्रतीत होते हैं। एक लेख अकबर के ३४वें राज्यवर्ष (१५९० ई०) का है, जो इस प्रकार है—

"संवत् ३४ श्री शकबन्ध अकबर शाह राज श्री कूर्मकुल श्री पृथ्वीराजाधिराज वंश श्री महाराज श्री भगवंतदास सुत श्री महाराजाधिराज श्री मानसिंहदेव श्री वृन्दावन जोगपीठ स्थान मंदिर कराजो श्री गोविंददेव को काम उपरि श्री कल्याणदास आज्ञाकारि माणिकचंद चोपाड़ु शिल्पकारि गोविंददास वलि करिगरु: [द] गोरषदास वीभवलू॥"

अर्थात् सम्राट् अकबर के ३४वें राज्यवर्ष में कच्छप (कछवाहा)-वंशी श्री पृथ्वीराज के वंश में उत्पन्न महाराजाधिराज भगवानदास के पुत्र महाराजाधिराज मानसिंहदेव ने श्री वृन्दावन योगपीठ-स्थान में श्री गोविंददेव के मंदिर का निर्माण कराया। मन्दिर-निरीक्षण में मुख्य कार्याधिकारी श्री कल्याणदास, सहायक कर्मचारी माणिकचंद, शिल्पी गोविंददास तथा कारीगर गोरखदास।

दूसरा लेख नागरी लिपि तथा संस्कृत भाषा में है। यह पाँच श्लोकों में है। श्लोकों की रसमयी भाषा देखने से ज्ञात होता है कि उनकी रचना संस्कृत के किसी विद्वान् पंडित ने की। संभव है कि स्वयं रूप या सनातन गोस्वामी ने उन्हें बनाया हो। दुर्भाग्य से लेख खंडित अवस्था में है, परंतु उसमें श्री गोविंददेव का नाम तथा अकबर के राज्यकाल में मंदिर के निर्माण-कर्ता मानसिंह का नाम स्पष्ट है और मानसिंह की कीर्ति का वर्णन है।

मंदिर का तीसरा शिलालेख पहले लेख की प्रतिलिपि मात्र है। चौथा लेख मंदिर के पश्चिमोत्तर कोने पर बनी हुई छतरी के एक खंभे पर उत्कीर्ण है और इस प्रकार है—

"संवत् १६६३ बरसे कार्तिक वदि ५ शुभ दिने हजरत श्री श्री श्री साहेजहाँ राज्ये राणा श्री अमरसिंहजी को बेटो राजा श्री भीमजी री राणी श्री रंभावती चौषंडी सौराइ छे।"

अर्थात् विक्रम संवत् १६६३ की कार्तिक बदी पंचमी के शुभ दिन बादशाह शाहजहाँ के राज्यकाल में राणा अमरसिंहजी के पुत्र राजा भीमजी की रानी श्री रंभावती ने चौखंडो (छतरी) का निर्माण कराया।

यह राजा भीम मेवाड़ के राणा अमरसिंह का पुत्र था। उसकी रानी रंभावती द्वारा १६३६ ई० में गोविंददेव मंदिर की बगल में छतरी का निर्माण कराया गया।

मानसिंह द्वारा निर्मित मंदिर में श्री रूप गोस्वामी ने गोविंद-देवजी की जिस बड़ी प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की वह इस समय जयपुर में विद्यमान है। इस प्रतिमा को औरंगजेब के समय में वृन्दावन से जयपुर पहुँचाया गया, क्योंकि उस समय इसके तोड़े जाने का भय उपस्थित होगया था। वृन्दावन की मदनमोहन, गोपीनाथ आदि प्रतिमाओं तथा ब्रज के अन्य कई स्थानों की देव-प्रतिमाओं को भी औरंगजेब के समय में ब्रज से बाहर ले जाकर सुरक्षित स्थानों में पहुँचाया गया।

औरंगजेब के समय में ब्रज की स्थापत्य कला को निस्संदेह बड़ी क्षति पहुँची। सौभाग्य से उसने अपने पूर्ववर्ती शासकों द्वारा बनवाई हुई मुस्लिम इमारतों को नष्ट नहीं किया। अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ के समय में ब्रज के दूसरे मुख्य नगर आगरा में तथा वहाँ से २४ मील दूर फतहपुर सीकरी में जिन प्रसिद्ध आलीशान इमारतों का निर्माण हुआ वे आज भी सुरक्षित हैं।

अकबर (१५५६-१६०५ ई०) को इमारतों का बड़ा शौक था। उसने आगरा का प्रसिद्ध किला बनवाया और नई राजधानी फतहपुर सीकरी में अनेक महलों आदि का निर्माण कराया, जो अपनी कला

के लिए अमर है। अकबर ने भारतीय स्थापत्य को ऊँचा स्थान दिया। साथ ही उसने ईरान तथा अन्य देशों की उन शैलियों को भी ग्रहण किया, जिनमें उसने कोई विशेषता समझी। इस प्रकार देशी एवं विदेशी स्थापत्य का अच्छा समन्वय अकबरकालीन इमारतों में मिलता है।

अकबर द्वारा निर्मित इमारतें प्रायः लाल पत्थर की बनीं हैं, जो आगरा और फतहपुर सीकरी में आसानी से मिलता है। लाल पत्थर के साथ उसने कहीं-कहीं सफेद संगमरमर का भी इस्तेमाल कराया है। अकबरकालीन इमारतों के अधिकांश गुंबज लोदी इमारतों की तरह भीतर खोखले मिलते हैं। खंभों में कई पहलू हैं तथा उन पर के शीर्ष ब्रैकटनुमा होते हैं। इमारतों के अलंकरणों में गहरी नक्काशी और पारदर्शी गवाक्ष उलेखनीय हैं। भीतरी दीवालें और छतें सुनहले तथा दूसरे रंगों से रँगी हुई मिलती हैं।

जहाँगीर के समय (१६०५-२७) में भी कई इमारतें बनीं, जिनमें आगरा के पास अकबर का तिमंजिला मकबरा तथा एतमादुद्दौला का मकबरा विशेष उल्लेखनीय हैं। इस काल में संगमरमर का प्रयोग बढ़ा और भड़कीले रंगों तथा पच्चीकारी को भी महत्व दिया गया। अब स्थापत्य के भारतीय उपकरणों के स्थान पर ईरानी सजावट की चीजों का बाहुल्य मिलने लगता है। जहाँगीर ने स्थापत्य से अधिक चित्रकला की ओर ध्यान दिया। उसके समय में शबीह चित्रकारी की बड़ी उन्नति हुई।

शाहजहाँ का शासनकाल (१६२७-५८) इमारतों के निर्माण के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसी समय संसार-प्रसिद्ध ताजमहल का निर्माण आगरे में हुआ। ताजमहल के अतिरिक्त शाहजहाँ ने अन्य कितनी ही इमारतें आगरा, दिल्ली, अजमेर, लाहोर, श्रीनगर आदि में बनवाईं, जो वास्तुकला की विख्यात कृतियाँ हैं। इन कृतियों में जैसा सौंदर्य और निखार मिलता है वैसा पहले की इमारतों में दुर्लभ है। अकबरकालीन इमारतों की विशालता और दृढ़ता की

जगह अब कोमलता और सुंदरता ने ग्रहण की । लाल पत्थर का स्थान अब रंग-बिरंगे संगमरमर ने ले लिया । पहले की सादी मेहराब के स्थान पर शाहजहाँ ने नौ कटाव वाली मेहराब को चालू किया । उसके समय की गुंबज, जाली के कटाव तथा रंगों में ईरानी कला का प्रभाव अधिक मिलता है । खंभों पर सपत्र-घट मिलते हैं और कहीं-कहीं दो-दो खंभों (स्तंभयुग्म) का एक साथ प्रयोग मिलता है। संगमरमर पर अनेक रंगीन पत्थरों का जड़ाव तथा विभिन्न पत्रावलियों का उकेरना भी इस काल की विशेषता थी ।

शाहजहाँ के बाद औरंगजेब (१६५८-१७०७) तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में स्थापत्य और अन्य ललित कलाओं का ह्रास हुआ । उनके शासन-काल में आगरा तथा उत्तर प्रदेश के अन्य स्थानों में पहले-जैसी उल्लेखनीय इमारतों का निर्माण नहीं हुआ । औरंगजेब के समय में मथुरा, काशी आदि स्थानों में हिंदू मंदिरों को तोड़ कर उनकी जगह मस्जिदें बनाई गईं ।

नीचे आगरा की मुख्य इमारतों का विवरण दिया जाता है—

आगरा किला—इस किले का निर्माण अकबर के द्वारा कराया गया । यह आकृति में त्रिभुजाकार है, जिसका ऊपरी शीर्ष पश्चिम में दिल्ली-दरवाजा है । किले की दीवालें लगभग ७० फुट ऊँची हैं; दीवालों के चारों ओर खाई है । दिल्ली दरवाजा किले का प्रधान दरवाजा है, जिस पर हिजरी १०१४ (१६०५ ई०) का एक लेख है । इस लेख में अकबर की खानदेश पर चढ़ाई का और वहाँ से आगरा वापस आने का उल्लेख है । दूसरा द्वार अमरसिंह दरवाजा कहलाता है । किले के भीतर मोती मस्जिद, मीना बाजार, दीवाने आम, दीवाने खास, नगीना मस्जिद, मच्छी भवन, शीशमहल, जहाँगीरी महल, शाहजहाँ का खास महल आदि हैं । इनमें से कई इमारतें जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में बनीं, जैसा कि उन इमारतों के नामों तथा उनकी कारीगरी से पता चलता है ।

ताजमहल—सम्राट् शाहजहाँ की बेगम मुमताज महल का यह प्रसिद्ध स्मारक आगरा किला से लगभग एक मील की दूरी पर है। इसका निर्माण १६३१ और १६५३ ई० के बीच में हुआ और इसमें देशी-विदेशी कुशल कारीगर लगाए गए। हाल में उपलब्ध एक फारसी लेख से पता चला है कि ताजमहल का नकशा लाहौर के उस्ताद अहमद के द्वारा तैयार किया गया था और गुंबज का निर्माण तुर्की के इस्माइलखाँ द्वारा हुआ। अभिलेखों को शीराज के अमानतखाँ ने उकेरा तथा सारी इमारत की बनावट मकरमत खाँ और मीर अब्दुलकरीम के निरीक्षण में पूरी हुई।

ताजमहल की गणना संसार के प्रसिद्ध महान् आश्चर्यों में होती है। यमुना के सुरम्य तट एवं चारों ओर हरे-भरे उद्यान से इस स्मारक का सौंदर्य बहुत बढ़ गया है।

एतमादुद्दौला का मकबरा—यह इमारत यमुना पार अलीगढ़ जाने वाली सड़क पर स्थित है। यह १५० वर्ग फुट की ऊँची एक चौकी पर बनी है। इमारत ६९ फुट ऊँची है और आयताकार है। इसमें सफेद संगमरमर की जाली का काम बड़े आकर्षक ढंग का है।

चीनी का रौजा और मोती बाग—ये एतमादुद्दौला के समीप ही हैं। यहीं एक मस्जिद भी है, जो शाहजहाँ द्वारा बनवाई बताई जाती है।

काला गुंबज—यह मकबरा अलीगढ़ सड़क पर चीनी का रौजा और बाग वजीरखाँ के बीच में स्थित है।

जामा मस्जिद—इस मस्जिद का निर्माण शाहजहाँ के राज्य-काल में १६४४ और १६४९ ई० के बीच में हुआ। यह विशाल मस्जिद लाल पत्थर की बनी हुई है। इसकी लम्बाई १३० फुट और चौड़ाई १०० फुट है। आगरा शहर की यह प्रमुख मस्जिद मानी जाती है।

उक्त इमारतों के अतिरिक्त आगरा में महताब बाग, जोहरा बाग, हुमायूं की मस्जिद, पुराना दिल्ली दरवाजा, ईदगाह, फीरोज खाँ का मकबरा आदि अन्य कितने ही स्मारक हैं।

फतहपुर सीकरी—आगरा से २४ मील पश्चिम फतहपुर सीकरी तक मोटर या रेल द्वारा पहुँचा जाता है। सीकरी को एक सुंदर नगर बनाने का श्रेय अकबर को है। यह नगर आगरा, दिल्ली आदि की तरह अधिक समय तक राजधानी के रूप में नहीं रह सका। तो भी जो स्मारक यहाँ बचे हैं उनसे पता चलता है कि मुगल सम्राट् ने इसे सजाने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी। मुख्य इमारतें ये हैं—

जामा मस्जिद—भारत में यह मस्जिद अपने ढंग की अनोखी है। इसका अलंकृत पूजा-गृह, विशाल प्रांगण तथा प्रवेश-द्वार वास्तु-कला की सुंदर कृतियाँ हैं।

शेख सलीम चिश्ती की दरगाह—जामा मस्जिद के बड़े आँगन में अकबर के धर्मगुरु शेख चिश्ती की कब्र है। यह स्वच्छ संगमरमर की बनी है। इसके विभिन्न भागों की निर्माण-कला उत्कृष्ट कोटि की है। इसमें विविध सुंदर अलंकरणों का प्रयोग किया गया है।

जोधाबाई का महल—यह महल पश्चिमी भारत के हिंदू मंदिरों की शैली का बना हुआ है। संभवतः इसके निर्माता गुजरात के हिंदू कलाकार थे।

बुलंद दरवाजा—यह दरवाजा भारत के अत्यंत विशाल दरवाजों में से एक है। इसकी ऊँचाई १३४ फुट है।

इनके अतिरिक्त दीवाने खास, तुर्की सुलताना का महल, बीरबल का मकान आदि अन्य महत्वपूर्ण इमारतें फतहपुर सीकरी में हैं। इन्हें देखने से पता चलता है कि इनमें स्थायित्व, सौंदर्य तथा संतुलन का बहुत अधिक ध्यान रखा गया है।

औरंगजेब के समय में मथुरा में दो उल्लेखनीय मस्जिदों का निर्माण हुआ—एक जन्मस्थान पर केशवराय मंदिर के भग्नावशेषों पर लाल मस्जिद का और दूसरी चौक बाजार में गवर्नर अब्दुन्नबी की मस्जिद का। पहली का निर्माण १६७०-७१ ई० में हुआ और दूसरी का १६६१-६२ में।

जाटों के शासन-काल में ब्रज में अनेक इमारतें बनीं। जाटों ने प्रमुख स्थानों पर मजबूत किले बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया। थूण, भरतपुर, कुम्हेर, बयाना, डीग, बल्लभगढ़ आदि में दृढ़ किलों का निर्माण किया गया। इनमें से कई दुर्ग दुर्भेद्य और अजेय थे। शत्रु-सेना को परास्त करने में जाटों को इन दुर्गों से बड़ी सहायता मिली।[1] डीग के महल तथा गोवर्धन की छतरियाँ जाट-शिल्पकला की अमर कृतियाँ हैं। महलों में पत्थरों की बारीक नक्काशी और जाली का काम देखकर दंग रह जाना पड़ता है। मुगल तथा भारतीय दोनों प्रकार जाट-स्थापत्य-शैली में मिलते हैं। बरसाना, भरतपुर, वृन्दावन और कामवन की भी कई इमारतें इसी शैली की हैं। गोवर्धन में मानसी गंगा के पास जाट शासक रणधीरसिंह तथा बलदेवसिंह की अत्यंत कलापूर्ण छतरियाँ हैं। इनमें पत्थर की बारीक कटाई के साथ दीवालों पर सुंदर चित्रकारी भी मिलती है, जो तत्कालीन राजस्थानी चित्रकला का सुंदर उदाहरण है।

बयाना में 'ऊषा-मंदिर' भी एक दर्शनीय इमारत है। यहाँ के प्राचीन मंदिर को तोड़कर खिलजी वंश के कुतुबुद्दीन मुबारक (१३१६-२० ई०) ने एक मस्जिद बनवा दी थी।[2] जाट-शासनकाल में उसे फिर मन्दिर के रूप में परिणत किया गया।

---

१. विस्तार के लिए देखिए 'ब्रज का इतिहास', प्रथम खंड, पृ० १८५-२१५।

२. पर्सी ब्राउन, इन्डियन आर्किटेक्चर (इस्लामिक पीरियड), (बंबई, १९४२), पृ० १९।

मूर्ति कला

भारतीय विचार-धारा में ईश्वर के सगुण रूप को प्रधानता दी गई है। भगवान् कृष्ण की लीलाभूमि ब्रज में सगुण उपासना को महत्व प्राप्त होना स्वाभाविक था। यहाँ के साहित्य और शिल्प-कला में श्रीकृष्ण के विविध चरितों का आलेखन दीर्घकाल तक होता रहा। साथ ही हिंदू धर्म के अन्य देवी-देवताओं को भी मूर्त रूप प्रदान किया गया। ईसवी पूर्व दूसरी शती से लेकर प्रायः बारहवीं शती तक मथुरा में हिंदू देवों की प्रतिमाएं बड़ी संख्या में बनाई जाती रहीं। गुप्तवंशी शासक भागवत धर्म के अनुयायी थे। इस धर्म ने सहिष्णुता और समन्वय की जो भावना फैलाई उसका प्रभाव तत्कालीन शिल्पकला पर भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। भागवत धर्म-संबंधी मूर्तियों के साथ-साथ शैव मूर्तियाँ भी मथुरा के अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं। मध्यकाल में ब्रज में पौराणिक धर्म की प्रधानता होने से यहाँ की मूर्तिकला में उसका प्रभाव परिलक्षित होता है।

मथुरा में कंकाली टीला तथा ब्रज के अन्य कई स्थानों से जैनधर्म-संबंधी विशाल शिल्प-सामग्री भी प्राप्त हुई है। इसी प्रकार शुंग-काल के आरम्भ से लेकर गुप्त काल के अन्त तक के जो बौद्ध अवशेष यहाँ मिले हैं उनसे बौद्ध धर्म के क्रमिक विकास का पता चलता है। ब्रज के विविध धार्मिक सम्प्रदायों में थोड़ा-बहुत मतभेद स्वाभाविक था, पर वे आपस में मिलकर रहते थे। हम देखते हैं कि ब्रज के सहिष्णुतापूर्ण वातावरण में भारत के सभी धर्मों को साथ-साथ विकसित होने का अवसर शताब्दियों तक मिला। यहाँ की समन्वयात्मक संस्कृति ने इन धर्मों के पारस्परिक भेदभावों को दूर करने में उल्लेखनीय योग दिया।

भारत का एक प्रमुख धार्मिक तथा कला-केंद्र होने के नाते मथुरा को बड़ी ख्याति प्राप्त हुई। ईरान, यूनान और मध्य एशिया

के साथ मथुरा का संबंध बहुत समय तक रहा। तक्षशिला की तरह मथुरा नगर भी विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक मिलन का एक बड़ा केन्द्र हो गया। इसके फलस्वरूप विदेशी कला की अनेक विशेषताओं को यहां के कलाकारों ने ग्रहण किया और उन्हें देशी तत्वों के साथ मिलाने में कुशलता का परिचय दिया। तत्कालीन एशिया तथा यूरोप की संस्कृति के अनेक उपादान मथुरा-कला के साथ घुल-मिल गए। कुषाणकालीन मथुरा की मूर्ति-कला में हमें यह बात प्रत्यक्ष देखने को मिलती है।

प्राचीन ब्रज में मंदिरों तथा मूर्तियों के निर्माण में प्रायः लाल बलुए पत्थर का प्रयोग होता था। यह पत्थर ब्रज में तांतपुर, फतहपुर सीकरी, रूपवास, बयाना आदि स्थानों में मिलता है और मूर्ति गढ़ने में मुलायम होता है। इस पत्थर पर प्रायः सफेद चित्तियाँ रहती हैं। कुछ खानों से निकला हुआ पत्थर सफेद दागों से रहित बहुत बढ़िया होता है।

हिन्दू मूर्तियाँ

हिंदू-मूर्तिकला के विकास की दृष्टि से मथुरा का स्थान बहुत ऊँचा है। यहीं सर्वप्रथम अनेक देवों की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। पौराणिक देवी-देवताओं के मूर्ति-विज्ञान के अध्ययन के लिए यहाँ की कला में महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। मथुरा नगर के अतिरिक्त महाबन (प्राचीन गोकुल), सतोहा, नगला झींगा, कामवन, बयाना आदि स्थानों में प्राचीन हिंदू मूर्तियाँ मिली हैं। कामवन (जिला भरतपुर, राजस्थान) मध्यकाल में हिंदू मूर्तिकला का एक बड़ा केंद्र हो गया था। यहाँ अनेक बड़े मन्दिर थे, जिनके ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं। जो कलापूर्ण मूर्तियाँ कामवन में मिली हैं उनमें शिव, हरगौरी, सूर्य, महिषमर्दिनी दुर्गा, विराट रूप विष्णु आदि की प्रतिमाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका निर्माण-काल ईसवीं आठवीं से लेकर दसवीं शती तक है।

ब्रह्मा—मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में ब्रह्मा की कुषाण-कालीन दो मूर्तियाँ हैं। इनमें सबसे दर्शनीय तथा अद्‌भुत मूर्ति ३८२ संख्यक[1] है। इसमें ब्रह्मा के तीन मुख एक सीध में दिखाए गए हैं और चौथा बीच वाले सिर के पीछे। कुषाणकालीन बौद्ध मूर्तियों की तरह इसमें भी सादा छायामंडल तथा अभय मुद्रा प्रदर्शित हैं। गुप्त तथा मध्यकाल की भी ब्रह्मा की अनेक मूर्तियाँ मथुरा से मिली हैं। इनमें महावन से प्राप्त डी० २२ संख्यक प्रतिमा उल्लेखनीय है, जिसमें ब्रह्मा अपनी पत्नी सावित्री के साथ बैठे दिखाए गए हैं। गुप्तकालीन एक प्रतिमा (सं० ४६६) में ब्रह्मा इंद्र के साथ स्वामि-कार्तिक का अभिषेक करते हुए प्रदर्शित हैं। बरसाना से ब्रह्मा की एक मुगलकालीन मूर्ति मिली है।

शिव—शिव की विविध मूर्तियाँ मथुरा कला में मिली हैं। कुषाण शासकों में विम कैडफाइसिस, वासुदेव, कनिष्क तृतीय आदि के सिक्कों पर नन्दी सहित शिव की एक या कई मुख वाली मूर्तियाँ मिलती हैं। कुषाणकालीन शिवलिंग की एक मूर्ति मथुरा से मिली है, जिसकी पूजा करते हुए शक लोग दिखाए गए हैं (सं० २६६१)। मथुरा में मुखलिंग रूप में भी शिव की उपासना प्रचलित थी। कुषाण तथा गुप्तकाल के कई सुंदर शिवलिंग यहाँ प्राप्त हुए हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण वह है जिसमें खड़े हुए चतुर्भुजी शिव को दिखाया गया है। २३१२ तथा २५२८ संख्यक अवशेष एकमुखी लिंग तथा ५१६ संख्यक पंचमुखी शिवलिंग के अच्छे उदाहरण हैं। उत्तर-गुप्तकालीन एक मूर्ति (सं० २०८४) में नन्दी के सहारे खड़े हुए दम्पती भाव में शिव-पार्वती पत्थर के सामने तथा पृष्ठ भाग पर बड़ी सुंदरता के साथ आलेखित हैं। शिव-पार्वती की एक दूसरी मूर्ति (सं० २५७७) में उन्हें कैलास पर्वत पर बैठे हुए दिखाया गया है। नीचे रावण पहाड़ को उठा रहा है, जिससे पर्वत का एक कोना

---

१. यह तथा आगे दी हुई मूर्ति-संख्याएँ मथुरा-संग्रहालय की हैं। अन्य संग्रहालयों की संख्या का यथास्थान निर्देश कर दिया गया है।

ऊपर उठ गया है। पार्वती की भयभीत मुद्रा तथा शिव का क्रुद्ध भाव दर्शनीय हैं । गुप्तकाल की अर्द्धनारीश्वर मूर्तियाँ भी मिली हैं (सं० ३६२, ७२२, २४६५), जिनमें आधा अंग शिव का और आधा पार्वती का अत्यंत कलात्मक ढंग से दिखाया गया है।

विष्णु—विष्णु की कुषाणकालीन कई मूर्तियाँ मथुरा से ऐसी मिली हैं जैसी कि भारत में अन्यत्र प्राप्त नहीं होतीं। ९३३ संख्यक चतुर्भुजी विष्णु मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है । इसकी निर्माण-शैली प्रारम्भिक कुषाणकालीन बोधिसत्व-प्रतिमाओं से बहुत मिलती है। विष्णु का एक हाथ अभय मुद्रा में है और दूसरे मे वे अमृतघट लिए हैं। शेष दो हाथों मे गदा तथा चक्र हैं । यहां विष्णु के साथ केवल दो आयुध हैं; बाद मे शंख तथा पद्म भी मिलने लगते हैं। २४८७ संख्यक मूर्ति में भी भगवान् विष्णु को बोधिसत्व मैत्रेय के समान अंकित किया गया है। विष्णु की कुषाणकालीन दो अष्टभुजी मूर्तियाँ भी मथुरा-कला में मिली हैं (सं० १०१० तथा ३५२०), जो मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से बड़े महत्व की हैं। एक अन्य लघु शिलापट्ट (सं २५२०) पर चतुर्भुजी विष्णु को अर्द्धनारीश्वर शिव, राजलक्ष्मी तथा कुबेर के साथ दिखाया गया है।

गुप्तकाल की एक मूर्ति (ई० ६) में चतुर्भुजी विष्णु को ध्यान-मुद्रा में दिखाया गया है। उनके सिर पर अलंकृत किरीट मुकुट है। वे कुण्डल, मुक्ताहार, भुजबन्ध तथा वैजयंती भी धारण किए हैं। उनके लहरदार वस्त्र बड़े रोचक ढंग से प्रदर्शित किए गए हैं। यह मूर्ति गुप्तकालीन कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। मूर्ति के ऊपर एक छत्र है, जो पूर्ण विकसित कमलों तथा पत्र-रचना से अलंकृत है। २५२५ संख्यक विष्णु-मुर्ति गुप्तकला का एक उत्तम उदाहरण है। यह महाविष्णु (नृसिंह-वराह-विष्णु) की मूर्ति है। बीच में भगवान् विष्णु का मुख है तथा अगल-बगल नृसिंह और वराह अवतारों के मुख हैं। २८८४ संख्यक मूर्ति भी ऐसी ही है, पर उसमें महाविष्णु

के अंकन के साथ उनके विराट रूप के भी दर्शन हैं। मथुरा-कला में मिट्टी की भी कई सुन्दर विष्णु-मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।

कृष्ण-बलराम—भगवान् कृष्ण की लीलाभूमि ब्रज में उनकी प्राचीन मूर्तियाँ बहुत कम प्राप्त हुई हैं। यह सचमुच आश्चर्यजनक है। उनके जीवन से संबंध रखने वाली जो सबसे प्राचीन मूर्ति मथुरा में मिली है वह ई० दूसरी शताब्दी की है (सं० १३४४)। इस शिलापट्ट पर नवजात शिशु कृष्ण को एक सूप में रख कर वसुदेव गोकुल जाने के लिए यमुना पार करते हुए दिखाए गए हैं। यमुना नदी का बोध धारीदार लकीरों तथा जल-जन्तुओं के द्वारा बड़ी सुन्दरता के साथ कराया गया है। ई० ६०० के लगभग की कृष्ण की एक अन्य मूर्ति प्राप्त हुई है (डी० ४७), जिसमें वे अपने हाथ पर गोवर्धन उठाए हुए चित्रित हैं। पर्वत के नीचे गायें तथा ग्वाल बाल खड़े हैं। कुछ वर्ष पूर्व मथुरा नगर में यमुना-तट पर स्थित कंसकिला से श्रीकृष्ण की एक गुप्तकालीन मूर्ति मिली है (सं० ३३७४)। इसमें उन्हें कालियनाग का दमन करते हुए दिखाया गया है। लखनऊ संग्रहालय में भी कालिय-दमन की एक प्रतिमा है। कृष्ण की मध्यकालीन कुछ मूर्तियाँ भी मिली हैं, पर वे प्रायः साधारण कोटि की हैं।

बलराम की प्राचीन मूर्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक मिली हैं। मथुरा-कला में उनकी सबसे प्राचीन मूर्ति शुंग-काल की है, जिसमें वे हल तथा मूसल धारण किए दिखाए गए हैं। यह मूर्ति अब लखनऊ संग्रहालय में है (सं० जी० २१५)। बलराम की कुषाण तथा गुप्तकालीन अनेक मूर्तियाँ मिली हैं, जिन पर वे हल, मूसल, वारुणीपात्र आदि लिए हुए अंकित हैं (द्रष्टव्य सं० सी० १५, ४३५ तथा सी० १९)।

स्वामिकार्तिक—शिव के पुत्र स्वामिकार्तिक की भी अनेक मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं। इनमें उल्लेखनीय २९४९ तथा ३४७ संख्यक हैं। पहली पर ब्राह्मी अभिलेख है, जिससे पता चलता है कि

वह ८९ ई० में बनाई गई थी । इसमें दायाँ हाथ अभय-मुद्रा में है तथा बायें में लम्बा भाला है। दूसरी मूर्ति में कार्तिकेय अपने वाहन मयूर पर चढ़े हुए अंकित किए गए हैं। स्वामिकार्तिक की एक बहुत सुन्दर गुप्तकालीन मृण्मूर्ति (सं० २७९४) है । इसमें वे शक्ति धारण किए हुए, मयूर पर बैठे दिखाए गए हैं । उनके मुख-मंडल से तेज टपक रहा है । ४६६ संख्यक मूर्ति में शिव तथा ब्रह्मा के द्वारा देव-सेनापति कार्तिकेय का अभिषेक दिखाया गया है।

गणेश—शिव के दूसरे पुत्र गणेश के कई रूप मथुरा-कला में मिलते हैं। बाल गणपति तथा नृत्य करते हुए एकदंत गणेश की कई गुप्तकालीन प्रतिमाएं मिली हैं (सं० ७५८)। उनकी मध्यकालीन मूर्तियों में एक दशभुजी मूर्ति (सं० २५२) उल्लेखनीय है । इसमें आकर्षक मुद्रा में बाल गणेश मोदक लिए हुए नृत्य कर रहे हैं।

इन्द्र—ब्रज में कुषाण तथा गुप्तकालीन इन्द्र-मूर्तियाँ कई मिली हैं। मथुरा-संग्रहालय की ३९२ संख्यक इन्द्र-मूर्ति कला की अद्भुत कृति है। यह कुषाण-काल के आरम्भ की है । इसमें हाथ में वज्र धारण किए इन्द्र खड़े हैं । उनके दोनों कन्धों से नाग-मूर्तियाँ निकल रही हैं। इन्द्र के सिर पर ऊँचा किरीट मुकुट है। अभयमुद्रा में खड़े हुए इन्द्र की एक दूसरी मूर्ति भी उल्लेखनीय है। इसमें उनका वाहन ऐरावत हाथी भी है। इन्द्रशैल-गुफा में तपस्या करते हुए बुद्ध के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए ऐरावत सहित आए हुए इन्द्र की कई मूर्तियाँ मथुरा-कला में मिली हैं।

अग्नि—भारतीय-कला में अग्नि की प्राचीन मूर्तियाँ बहुत कम प्राप्त होती हैं। मथुरा में अग्नि की जो प्रतिमाएँ मिली हैं उनमें मूर्ति सं० २८८० कुषाणकालीन है। दूसरी (डी० २४) पूर्व मध्यकाल की है। दोनों में अग्निदेव के सिर के ऊपर से ज्वालाएं निकल रही हैं । दूसरी मूर्ति में उनका वाहन मेष (मेंढ़ा) भी बना है। कंकाली टीला से अग्नि की एक गुप्तकालीन मूर्ति मिली थी, जो अब लखनऊ संग्रहालय में है (सं० जे० १२३)।

नवग्रह—नवग्रहों की प्रतिमाएं अनेक शिलापट्टों पर मिली हैं। राहु की एक अलग मूर्ति (सं० २८३६) भी मिली है, जिसमें वे तर्पण करते हुए दिखाए गए हैं।

सूर्य—नवग्रहों में सूर्य का स्थान सबसे अधिक महत्व का माना जाता है। मथुरा-कला में इनकी मुख्य दो प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं। पहली भाँति वाली प्रतिमाओं में वे शक राजाओं की वेशभूषा (उदीच्यवेश)में अंकित मिलते हैं। सं० २६६ ऐसी ही मूर्ति है। सूर्य के दायें हाथ में कटार तथा बायें में कमल का गुच्छा है। वे दो घोड़ों के रथ पर बैठे हैं। बाद में क्रमशः घोड़ों की संख्या चार तथा फिर सात हो जाती है। ऐसी अनेक मूर्तियाँ मथुरा से मिली हैं। सूर्य की एक मूर्ति सेलखड़ी पत्थर की भी बनी मिली है (सं० १२५६)। इस पर वे सासानी राजाओं के पहनावे में दिखाए गए हैं। दूसरी भाँति की मूर्तियों में बैठे हुए या खड़े सूर्य को अन्य देवों की भाँति दिखाया जाता है। इनमें वे दोनों हाथों में कमल ग्रहण किए रहते हैं। मध्यकालीन सूर्य-मूर्तियों की संख्या बहुत बड़ी है।

कामदेव—कामदेव की अनेक कलापूर्ण पाषाण एवं मृण्मूर्तियाँ मथुरा से मिली हैं। २५५२ संख्यक मिट्टी की मूर्ति में धनुष तथा पंचबाण धारण किए हुए कामदेव का आकर्षक रूप मिलता है। इसमें शूर्पक मछुए तथा राजकुमारी कुमुद्वती की प्रेम-कथा का चित्रण है। बुद्ध द्वारा मार-विजय वाले दृश्यों में भी कामदेव की मूर्ति मिलती है। शुंगकालीन एक पाषाण-मूर्ति, जिसमें कामदेव को पाँच बाण लिए हुए दिखाया गया है, एक उल्लेखनीय प्रतिमा है। इसमें उनकी वेशभूषा वैसी ही है जैसी कि साँची, भारहुत आदि की शुंग-कालीन पुरुष-प्रतिमाओं में मिलती है।

हनुमान—हनुमान की ६ फुट ७ इंच ऊँची मूर्ति (डी० २७) मथुरा संग्रहालय में है, जो लगभग नवीं शताब्दी की है। मथुरा से प्राप्त हनुमान की एक दूसरी विशाल मूर्ति इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता में है।

देवियों की मूर्तियाँ—देवों के साथ ही या अलग उनकी शक्तिरूपा देवियों की प्रतिमाओं का भी निर्माण मथुरा की मूर्तिकला में पाया जाता है। लक्ष्मी (सं० २५२०), सरस्वती (सं० डी० ५७), पार्वती (सं० १०४४ तथा ८७६), महिषमर्दिनी (सं० ५४१), सिंह-वाहिनी दुर्गा (सं० १२८३ तथा १७८३), सप्तमातृका (सं० २८७२, एफ़० ३८ एवं एफ० ४१) तथा गंगा-यमुना (सं० १५०७,२६५६) की अनेक कलापूर्ण मूर्तियाँ मिली हैं। इनके अतिरिक्त मातृदेवी की मौर्य तथा शुङ्गकालीन मृण्मूर्तियाँ मिली हैं (सं० १५६२, २२२२, २२४१, २२४३ आदि) । ये मूर्तियाँ प्रायः हाथ की बनी हुई हैं, साँचे द्वारा निर्मित नहीं। लक्ष्मी, सिंहवाहिनी, महिषमर्दिनी, वसु-धारा आदि देवियों की मिट्टी की मूर्तियाँ भी मिली हैं।

जैन मूर्तियाँ

मथुरा में जैन मूर्तियों का निर्माण कुषाणकाल के पहले से होने लगा था। इस नगर के पश्चिम में 'कंकाली टीला' नामक स्थान जैन धर्म का बहुत बड़ा केन्द्र था। १८८८ से १८९१ तक इस टीले की खुदाई की गई, जिसमें लगभग १५०० कलावशेष प्राप्त हुए। ये सभी लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये ईसवी पूर्व प्रथम शती से लेकर लगभग ११०० ई० तक के हैं। ऐसी बड़ी संख्या में इतनी प्राचीन जैन मूर्तियाँ भारत में अन्यत्र कहीं नहीं मिलीं।

मथुरा-कला में जैन-मूर्तियों को तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है—१. तीर्थङ्कर प्रतिमाएं, २ देवियों की मूर्तियाँ तथा ३. आयागपट्ट आदि कृतियाँ।

१. तीर्थङ्कर मूर्तियाँ—जैन देवता तीर्थङ्कर या 'जिन' कहलाते हैं। तीर्थङ्कर संख्या में चौबीस हैं। मथुरा-कला में आदिनाथ, नेमि-नाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ मिली हैं, जो प्रायः पद्मासन में बैठी हैं। कुछ खड़ी हुई (खड्गासन में) भी मिली हैं। ऐसी भी कई प्रतिमाएं मिली हैं जिनमें चारों दिशाओं में से

प्रत्येक ओर एक-एक तीर्थङ्कर मूर्ति बनी है । ऐसी प्रतिमाओं को 'सर्वतोभद्रिका' कहते हैं । मथुरा संग्रहालय में बी० १, ६७, बी० ६८ तथा बी० ४ संख्यक सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं विशेष उल्लेखनीय हैं।

२. देवियों की मूर्तियां—जैन देवियों की भी मूर्तियां मिली हैं, जो अधिकतर गुप्तकाल तथा मध्यकाल की हैं । इनमें नेमिनाथ की यक्षिणी अंबिका (डी० ७) तथा ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी (डी० ६) की मूर्तियां दर्शनीय हैं ।

३. अन्य कलाकृतियां—मथुरा में कई कलापूर्ण आयागपट्ट मिले हैं । आयागपट्ट प्रायः वर्गाकार शिलापट्ट होते थे, जो पूजा में प्रयुक्त होते थे । उनके ऊपर तीर्थङ्कर, स्तूप, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि पूजनीय चिह्न उत्कीर्ण किए जाते थे । मथुरा संग्रहालय में एक सुन्दर आयागपट्ट (सं० क्यू० २) है, जिसे, उस पर लिखे हुए लेख के अनुसार, लवणशोभिका नामक वेश्या की लड़की वसु ने दान में दिया था । इस आयागपट्ट पर एक विशाल स्तूप का चित्र तथा वेदिकाओं सहित तोरण-द्वार बना हुआ है । लखनऊ संग्रहालय में मथुरा-आयागपट्टों के कई सुन्दर उदाहरण (सं० जे० २४८, २४६ आदि) हैं । आयागपट्टों के अतिरिक्त अन्य विविध शिलापट्ट तथा वेदिकास्तम्भ भी मिले हैं, जिन पर जैनधर्म-संबंधी मूर्तियां तथा चिह्न अंकित हैं । इन कलाकृतियों पर देवता, यक्ष-यक्षी, पुष्पित लता-वृक्ष, मीन, मकर, गज, सिंह, वृषभ, मंगलघट, कीर्तिमुख आदि बड़े कलात्मक ढंग से उत्कीर्ण मिलते हैं ।

बौद्ध मूर्तियाँ

भारत में भगवान् बुद्ध का पूजन कुषाणकाल के कई शताब्दी पहले आरंभ हो चुका था । पर वह उनके चिह्नों की पूजा तक ही सीमित था । बुद्ध की मूर्ति का निर्माण नहीं हुआ था । शुंगकाल के अन्त तक हम यही स्थिति पाते हैं । साँची, भारहुत, बोधगया,

मुद्राएं—बोधिसत्व तथा बुद्ध-प्रतिमाएं हाथों के द्वारा अनेक भावों को व्यक्त करती पाई जाती हैं । उन भाव-विशेषों को 'मुद्रा' कहते हैं। मथुरा कला में निम्नलिखित चार मुद्राएं मिलती हैं—

१. ध्यान मुद्रा—इसमें बोधिसत्व या बुद्ध पद्मासन में बैठे हुए तथा बाएं हाथ के ऊपर दायाँ रखे हुए दिखाए जाते हैं।

२. अभय मुद्रा—इसमें वे दाएं हाथ को उठा कर उसे कंधे की ओर मोड़ कर श्रोताओं या दर्शकों को अभय प्रदान करते हुए दिखाए जाते हैं ।

३. भूमिस्पर्श मुद्रा—इसमें ध्यानावस्थित बुद्ध दाएं हाथ से भूमि को छूते हुए प्रदर्शित किए जाते हैं । जब बोधगया में उनके तप को नष्ट करने का प्रयत्न कामदेव द्वारा किया गया तब उन्होंने इस बात की साक्षी देने के लिए कि उनके मन में कोई भी काम-विकार नहीं, पृथिवी का स्पर्श कर उसका आह्वान किया था, जिसे उक्त मुद्रा द्वारा व्यक्त किया जाता है।

४. धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा—इसमें भगवान् बाएं हाथ की अंगुलियों के ऊपर दाएं हाथ की अंगुलियों को इस प्रकार रखते हैं मानों वे चक्र घुमा रहे हों। यह दृश्य सारनाथ में उनके द्वारा धर्म के सर्वप्रथम उपदेश को सूचित करता है। यहीं से उन्होंने संसार में एक नए धर्म का प्रवर्तन किया।

इनके अतिरिक्त एक 'वरद मुद्रा' भी है, जो मथुरा में नहीं मिलती। इसमें भगवान् का दायाँ हाथ हथेली को इस प्रकार सामने किए नीचे लटकता है, मानों वे वरदान दे रहे हों ।

जातक कथाएं तथा बुद्ध के जीवन की घटनाएं—बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्तियों के अतिरिक्त मथुरा कला में उनके पूर्व जन्मों की घटनाएं भी अनेक शिलापट्टों (आइ० ४, ५८६, आइ० १८, जे० ४ आदि) पर चित्रित मिलती हैं, जिन्हें 'जातक' कहते हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार बुद्ध होने के पहले भगवान् कई योनियों में विचरे थे। उन्हीं पूर्वजन्मों की कहानियाँ जातक-कथाएं हैं। गौतमबुद्ध के

वर्तमान जीवन की मुख्य घटनाओं—जन्म, संबोधि, धर्म-चक्र-प्रवर्तन, स्वर्गावतरण एवं परिनिर्वाण—के भी चित्रण मथुरा कला में मिलते हैं (सं० एच० १, एच ११ आदि)।

वेदिका-स्तंभों पर उत्कीर्ण प्रतिमाएं

स्तूपों का वर्णन करते समय वेदिकास्तम्भों का उल्लेख किया जा चुका है। इन स्तम्भों पर विविध मनोरंजक दृश्य मिलते हैं, विशेषकर आकर्षक मुद्राओं में खड़ी हुई सुंदरियों के। वे मुक्ताग्रथित केश-पाश, कर्णकुंडल, एकावली, गुच्छक हार, केयूर, कटक, मेखला, नूपुर आदि आभूषण धारण किए दिखाई गई हैं। कहीं कोई युवती उद्यान में फ़ल चुन रही है तो कोई कंदुक क्रीडा में लग्न है (जे० ६१)। कोई अशोक वृक्ष को पैर से ताड़ित कर उसे पुष्पित कर रही है (२३२५), या निर्भर में स्नान कर रही है अथवा स्नानोपरांत तन ढक रही है (जे० ४)। किसी के हाथ में वीणा (जे० ६२) और किसी के हाथ में वंशी (एफ० १८) है तो कोई प्रमदा नृत्य में तल्लीन है (१५२)। कोई सुन्दरी स्नानागार से निकलती हुई अपने बाल निचोड़ रही है और नीचे हंस उन पानी की बूंदों को मोती समझ कर अपनी चोंच खोले खड़ा है (१५०९)। किसी स्तंभ पर वेणी-प्रसाधन का दृश्य है (जे० ५), किसी पर संगीतोत्सव का (४०५) और किसी पर मधुपान का (जे० ६)। इस प्रकार लोक-जीवन के कितने ही दृश्य इन स्तम्भों पर चित्रित हैं। कुछ पर भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों से संबंधित विभिन्न जातक कहानियाँ (जे० ४ का पृष्ठ भाग) और कुछ पर महाभारत आदि के दृश्य (१५१) भी हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशु-पक्षी, लता-फूल आदि भी इन स्तम्भों पर उत्कीर्ण किए गए हैं। इन वेदिकास्तम्भों को शृङ्गार और सौंदर्य के जीते-जागते रूप कहना चाहिए, जिन पर कलाकारों ने प्रकृति तथा मानव-जगत् की सौंदर्य-राशि उपस्थित कर दी है।

यक्ष, किन्नर, गंधर्व आदि

मथुरा-कला में यक्ष, किन्नर, गंधर्व, सुपर्ण तथा अप्सराओं की अनेक मूर्तियां मिली हैं। ये सुख-समृद्धि तथा विलास के प्रतिनिधि हैं। संगीत, नृत्य और सुरापान इनके प्रिय विषय हैं। इनमें यक्षों की प्रतिमाएं मथुरा-कला में सबसे अधिक मिली हैं। सबसे महत्व-पूर्ण परखम गाँव से प्राप्त तृतीय शती ई० पू० की विशालकाय यक्ष मूर्ति (सी० १) है। ऐसी एक दूसरी बड़ी मूर्ति मथुरा के बड़ौदा नामक गावँ से प्राप्त हुई है। ये मूर्तियाँ कोरकर बनाई गई हैं, जिससे उनका दर्शन चारों ओर से हो सके। कुषाणकाल में ऐसी ही मूर्तियों के समान विशालकाय बोधिसत्व-प्रतिमाएं निर्मित की गईं।

यक्षों में कुबेर तथा उनकी स्त्री हारीती की अनेक मूर्तियाँ मथुरा में प्राप्त हुई हैं। कुबेर यक्षों के अधिपति तथा धन के देवता हैं। बौद्ध, जैन तथा हिंदू—इन तीनों धर्मों में उनका पूजन मिलता है। वे जीवन के आनंदमय रूप के द्योतक हैं और इसी रूप में उनकी अधिकांश मूर्तियाँ मिली हैं। मथुरा संग्रहालय में संख्या सी० २, सी० ५ तथा सी० ३१ कुबेर की उल्लेखनीय मूर्तियाँ हैं, जिनमें वे सुरापान करते हुए चित्रित किए गए हैं। उनके हाथों में सुरापान, बिजौरा नीबू तथा रत्नों की थैली या नेवला रहता है। कुछ वर्ष पूर्व कुबेर की एक सुन्दर अभिलिखित मूर्ति (सं० ३२३२) प्राप्त हुई है, जो ई० तीसरी शती की है। कुबेर के साथ या अलग उनकी स्त्री हारीती की मूर्तियाँ मिलती हैं। वह प्रसव की अधिष्ठात्री देवी मानी गई है। मथुरा-कला में उसका चित्रण प्रायः बच्चों को गोद में लिए हुए मिलता है (एफ० ८, एफ० ३० आदि)।

हारीती के अतिरिक्त मथुरा-कला में अन्य यक्षियों की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। पूज्य प्रतिमाओं के साथ या विविध अलंकरणों के रूप में किन्नर, गंधर्व, सुपर्ण, विद्याधर आदि की भी मूर्तियाँ उप-लब्ध हुई हैं।

नाग-मूर्तियाँ

प्राचीन ब्रज में नागों का पूजन प्रचलित था । नागों का संबंध विविध धर्मों के साथ पाया जाता है। भगवान् कृष्ण के भाई बलराम को शेषनाग का अवतार माना जाता है। विष्णु की शय्या अनंत नागों की बनी हुई कही गई है। जैन तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्व के चिह्न भी नाग हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार मुचुलिंद नामक नाग ने भगवान् बुद्ध के ऊपर छाया की थी तथा नन्द और उपनन्द नागों ने उन्हें स्नान कराया था। रामग्राम स्तूप की रक्षा भी नागों द्वारा की गई (मथुरा शिलापट्ट आई० ६)। ब्रज में नागों की मूर्तियाँ पुरुषाकार तथा सर्पाकार—दोनों रूपों में मिली हैं। शेषावतार रूप में बलराम की जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उनके गले में वैजयन्ती माला आदि आभूषण तथा हाथों में मूसल और वारुणीपात्र हैं। मथुरा संग्रहालय में इस प्रकार की कुषाण तथा गुप्तकालीन कई सुन्दर मूर्तियाँ हैं (१३६६,३२१०, सी० १६ तथा ४३५)। नाग की सबसे विशाल मूर्ति सी० १३ है, जो पौने आठ फुट ऊँची है। यह छड़गाँव, जि० मथुरा से प्राप्त हुई थी । इसमें नाग की कुंडलियाँ बड़े ओजपूर्ण तथा ऐंड़दार ढंग से दिखाई गई हैं । इस मूर्ति की पीठ पर खुदे हुए लेख से ज्ञात होता है कि यह महाराजाधिराज हुविष्क के समय चालीसवें शक-वर्ष (सन् ११८ ई०) में सेनहस्ती तथा भोणुक नामक दो मित्रों के द्वारा बनवाकर प्रतिष्ठापित की गई। भूमिनाग (२११) तथा दधिकर्ण नाग (१६१०) की भी मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। बलदेव में दाऊजी की प्रसिद्ध विशालकाय मूर्ति भी कुषाणकाल की उल्लेखनीय कृतियों में है। ब्रज में नाग राजाओं के शासन-काल में नाग-मूर्तियाँ बड़ी संख्या में निर्मित हुईं ।

शक-कुषाण राजाओं की प्रतिमाएं

मथुरा से शक-कुषाण शासकों की कई अत्यन्त महत्वपूर्ण मूर्तियाँ मिली हैं। राजाओं की ऐसी मूर्तियाँ भारत में अन्यत्र नहीं

मिलतीं। मथुरा नगर से लगभग ८ मील दूर मांट के समीप कुषाण राजाओं का एक देवकुल था। इसे 'इटोकरी टीला' कहा जाता है। इस टीले की खुदाई से निम्नलिखित तीन शासकों की प्रतिमाएं प्राप्त हुईं—

विम कैडफाइसिस (२१५)—इस विशालकाय मूर्ति में, जिसका सिर नहीं है, महाराज विम सिंहासनारूढ़ दिखाए गए है। वे लम्बा चोगा, गुलूबंद, सल्वारनुमा पायजामा तथा चमड़े के तसमों से कसे हुए मोटे जूते पहने हैं। मूर्ति पर राजा का नाम लिखा है।

कनिष्क (२१३)—कनिष्क कुषाण वंश का सबसे प्रतापी सम्राट् था। इसकी वेशभूषा विम से बहुत मिलती-जुलती है। इसके दाएं हाथ में राजदंड तथा बाएं में तलवार है। मोटे जूते, जिन्हें गिलगिटी जूते कहते हैं, दर्शनीय हैं। इस मूर्ति पर भी राजा का नाम लिखा है।

चष्टन (२१२)—चष्टन पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप-वंश का प्रारंभकर्ता था। उसकी मूर्ति की वेशभूषा भी उपर्युक्त के समान है। इसका चोगा जरीदार है तथा कमरबन्द भी अलंकृत है। मूर्ति पर राजा का नाम उत्कीर्ण है।

इन मूर्तियों के अतिरिक्त अनेक शक-राजकुमारों तथा सरदारों की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। वे लंबा चोगा और पायजामा पहने हुए दिखाए गए हैं। हाथ में भारी माला लिए शकों की कई मूर्तियाँ मिली हैं (जी० १३, २६६१, जे० ४३, ११६ आदि)। उनकी स्त्रियों को लंबा घाँघरा पहने प्रदर्शित किया गया है (२८७९)। ईरानी राजकुमारों के कई सिर (१५७, २५६४) तथा शकों के कई अभिलिखित सिर (१२५२, २१२२) बहुत महत्वपूर्ण हैं।

गांधार-कला की शक-महिषी-मूर्ति (एफ० ४२)—यह मूर्ति यमुना किनारे स्थित सप्तर्षि टीला से प्राप्त हुई है। यह नीले सिलेटी पत्थर की बनी है और गांधार कला की कृति है, जो मथुरा-कला से भिन्न है। मथुरा में इसका पाया जाना बड़े महत्व की बात

है। उसी स्थान से प्राप्त खरोष्ठी के एक शिलालेख से ज्ञात हुआ है कि मथुरा के महाक्षत्रप राजुल की महारानी कमुइअ (कम्बोजिका) ने यहाँ बौद्ध स्तूप तथा विहार बनवाए। संभवतः यह मूर्ति उसी महारानी की है।

उपर्युक्त प्रतिमाओं के अतिरिक्त मथुरा से नागरिकों, सेठों, धर्मवीरों आदि की मूर्तियों के अनेक सिर मिले हैं। मथुरा के स्थानीय संग्रहालय में २७१, २८२७, १५६६, ३४४६ तथा जी० २१ संख्यक पाषाण-सिर कला की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

मिट्टी की मूर्तियाँ

मथुरा-कला में विविध धर्मों के देवों की अनेक प्रकार की मूर्तियों के मिलने के साथ ऐसी कृतियाँ भी मिली हैं जिनका सम्बन्ध मुख्यतया लोकजीवन से है। ऐसी मूर्तियों में मृण्मूर्तियों की संख्या काफी बड़ी है। मिट्टी की कुछ मूर्तियाँ देवी-देवताओं की भी मिली है, पर उनकी संख्या थोड़ी है। अधिकांश मिट्टी की मूर्तियाँ नागरिक तथा ग्रामीण लोक-जीवन पर प्रकाश डालती हैं। ये अधिकतर टीलों में से तथा यमुना नदी से प्राप्त हुई हैं। इनके मुख्य दो प्रकार हैं—एक तो वे जो मौर्यकाल में या उसके पूर्व मातृदेवियों आदि की मूर्तियों के रूप में हाथ से गढ़कर बनाई जाती थीं और दूसरी साँचों द्वारा। कुछ में इन दोनों प्रकारों का मिश्रण मिलता है। साँचे वाली अधिकांश मूर्तियां शुंगकाल से लेकर गुप्तकाल तक की हैं। इनमें से कुछ तो लड़कों के खेलने के लिए बनती थीं—जैसे हाथी, घोड़े, गाड़ी आदि खिलौने। शेष मूर्तियाँ वे हैं जिनमें जीवन के विविध अंगों का वैसा ही प्रदर्शन है जैसा कि हम पाषाण पर पाते हैं। मथुरा संग्रहालय की कुछ विशेष उल्लेखनीय मिट्टी की मूर्तियाँ ये हैं—२५६५, जिस पर राजसी ठाठ में एक स्त्री पंखा लिए खड़ी है। २८५३, जिस पर कोई राजकुमार रथ पर बैठकर बाहर जा रहा है। २६२१, जिस पर स्त्री-पुरुष का एक जोड़ा चित्रित है। २३५०, जिस पर किन्नर-किन्नरी हवा में उड़ान ले रहे हैं।

१६२१, जिस पर सुन्दर साड़ी पहने तथा बच्चे को अंक में लिए एक स्त्री बैठी है । २५९२, जिस पर शुक-क्रीड़ा का चित्रण है तथा २४२९, जो सुन्दर बालों से सज्जित पुरुष-सिर है । गजलक्ष्मी (३०४१), कामदेव (२८४९), एकमुख शिवलिंग (२४३१) की मृण्मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं ।

गुप्तकालीन मिट्टी की कुछ बड़ी मूर्तियाँ मथुरा कला की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं । इनमें से अनेक यमुना नदी से प्राप्त हुई हैं । २७९४ संख्यक मूर्ति शक्ति धारण किए हुए कार्तिकेय की है । वे अपने वाहन मयूर पर बैठे हैं । २७४५ में अंतःपुर के विनोद का चित्रण है । एक राजमहिषी विदूषक के गले में उत्तरीय डालकर उसे खींच रही है । २७९२ में एक तपस्वी कटार द्वारा अपना गला काटते हुए दिखाया गया है । २८२४ में पूर्णघट लिए हुए गगनचारी सुपर्ण अंकित है । टी० ६ में दाएं हाथ में मंगल कलश धारण किए गंगा बड़ी आकर्षक मुद्रा में खड़ी दिखाई गई है। २४१९ संख्यक प्रतिमा चतुर्भुजी महाविष्णु की है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मथुरा की विशाल कला-राशि में भारतीय इतिहास और संस्कृति के अध्ययन की कितनी मूल्यवान् सामग्री उपलब्ध है।

चित्रकला

जिस ब्रज की मूर्तिकला इतनी सुंदर और प्रचुर थी उसमें पन्द्रहवीं शती के पूर्व चित्रकला के उदाहरणों का न मिलना आश्चर्य-जनक है !

पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद ब्रज में संगीत की दो शैलियाँ मिलती हैं—एक वृन्दावन में श्री हरिदास स्वामी की और दूसरी गोकुल में श्री गोविंद स्वामी की। वैसे ही चित्रकारी में जो चित्र दिखाई देते हैं वे प्रायः दो शैली के हैं—वृन्दावन परिकर के महात्माओं ने जयपुर शैली को अपनाया और श्री वल्लभाचार्य संप्रदाय के महात्माओं ने उदयपुर शैली को। इन दोनों शैलियों के

चित्र राजपूत शैली के ही अन्तर्गत आते हैं। कतिपय चित्र बुंदेलखंड शैली के भी मिलते हैं। कुछ प्राचीन ऐतिहासिक चित्र ब्रज में प्राप्त हुए हैं यथा—श्री वल्लभाचार्यजी तथा उनके अन्तरंग भक्तों का, स्वामी हरिदासजी का (तानसेन और अकबर सहित), सूरदासजी का तथा हितहरिवंशजी का। ये चित्र मुगल शैली के उत्तम उदाहरण हैं।

ब्रज के मंदिरों, समाधि-स्थानों तथा अन्य प्राचीन गृहों में जो भित्ति-चित्र उपलब्ध होते हैं वे भी राजपूत शैली से ही प्रभावित हैं।

ब्रज के प्राचीन गेय पदों में अनेक स्थलों पर चित्रों की चर्चा मिलती है। उनमें काश्मीर शैली वाले चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं। परमानंददासजी के निम्नलिखित पद में 'काश्मीरी खंभ' की चर्चा इस प्रकार आई है—

तहाँ रच्यो हिंडोरो धवलबानी काश्मीरी खंभ।
हीरा पिरोजा पाँति मुक्ता और अति आरंभ॥
बनी चित्र विचित्र शोभा तीर धनु संधान।
जहँ राम रावण युद्ध क्रीड़ा देखिये अनुमान॥
जहँ बहुत गोरस माट मथना चलत कंकण हीर।
मल्लिका सिर गूँथ बेनी श्रवण शोभित वीर॥

दूसरा पद सूरदासजी का इस प्रकार है—

चित्र सराहत मुर-मुर चितवत गोपी अधिक सयानी।
× × ×
ग्वालिनि आप तन देख, मेरे लाल तन देखरी।
मीत जो होय तो चित्र अवरेख री॥

ब्रज की ग्रामकला अनूठी है। यहाँ के व्रत-चित्र, भित्ति-चित्र, खिलौने, आभूषण, बर्तन आदि देखने से पता चलता है कि ब्रज की यह कला कितनी मनोहर है।

चित्रकारी का एक अंग रंगवल्ली (रंगोली) है। विविध सूखे रंगों द्वारा चित्र, संझिये, चौक आदि की रचना रंगवल्ली के अंतर्गत है। ब्रज में यह चित्र-पद्धति आज भी परम सुन्दर एवं आकर्षक रूप

में प्रचलित है। अनेक खाकों (स्टेनसिल) को काट कर भूमि-चित्र (साँझी) बनाना इस चित्रकला का उत्तम उदाहरण है। खाकों को चित्रित करना और उन्हें काटना एक कुशल चित्रकारी है, जो ब्रज में प्राचीन काल से होती आई है। भारतवर्ष के और किसी प्रान्त में यह कला इतने विकसित रूप में नहीं मिलती। मथुरा के प्रसिद्ध ज्योतिषी बाबा के घराने में अभी तक इस कला की उपासना ठीक-ठीक होती चली आ रही है।

ब्रज की चित्रकला का अन्य उदाहरण आरती के सथियों की रचना में मिलता है। इस कला का संबंध वल्लभ सम्प्रदाय से अधिक है। दक्षिण भारत में भी कुलवधुओं द्वारा विभिन्न उत्सवों पर चौक पूरे जाते तथा आरती की थालियाँ सजाई जाती हैं। वही परंपरा ब्रज में भी मिलती है।

इनका गेय पदों में भी वर्णन मिलता है—

मात यशोदा करत आरती गजमोतिन के चौक पुराये।

अब गजमोतियों के स्थान पर चावल के चून की शुभ्र गोलियों को चिपका कर विविध रंगों द्वारा इन्हें सिद्ध किया जाता है। ग्रीष्मकाल में फ़ूल-बँगले बनाने में और सावन में हिंडोले सजाने में ब्रज के कलाकार आज भी अपना अद्‌भुत कौशल दिखाते हैं। यह कला साँझी की भाँति ही ब्रज के लिए गौरव की वस्तु है।

इसी प्रकार मोर-मुकुटों के कटाव-छँटाव, कपड़ा छापने के ठप्पे, रामलीला और रासलीला में मुख के विविध शृङ्गार और चेहरे एवं बरातों की सजावट तथा खिलौने भी एक प्रकार से चित्र-कला के ही अङ्ग हैं और अपने ढंग के अनूठे हैं। कृष्णलीला के विविध आकर्षक चित्र भी ब्रज की कला में प्राप्त हैं।

संगीत

उपर्युक्त ललित कलाओं की तरह संगीत का भी विकास ब्रज क्षेत्र में हुआ। इसकी परंपरा भगवान् श्रीकृष्ण के समय से यहाँ

मिलती है। गीत, वाद्य और नृत्य—संगीत के ये तीन अंग हैं। कुछ आचार्यों ने संगीत के दो मुख्य भेद किए हैं—(१) मार्गी तथा (२) देशी। भरतादि आचार्यों के प्रमाण से गाया जाने वाला शास्त्रीय संगीत 'मार्गी' है। विभिन्न प्रदेशों में लोगों की रुचि के अनुकूल गाये जाने वाले तथा आचार्यों के मत से पृथक् संगीत की संज्ञा 'देशी' है। शास्त्रीय गेय संगीत की एकरूपता प्रायः समस्त भारत में दिखाई पड़ती है, परंतु लोक-संगीत विभिन्न जनपदों में अलग-अलग रूपों में मिलता है।

ब्रज में दोनों प्रकार के संगीत का प्रचार बहुत प्राचीन काल से मिलता है। यहाँ के चतुर्वेदी ब्राह्मण अन्य तीनों वेदों के साथ साम-गायन के भी ज्ञाता रहे होंगे। जब श्री वल्लभाचार्यजी ब्रज में आए तब यहाँ शास्त्रीय संगीत के अनेक गायक थे। साथ ही खुसरो द्वारा ईरानी और भारतीय पद्धतियों के मिश्रण से निर्मित विविध गीतों—खयाल, कव्वाली, तराना आदि का भी प्रचार हो चुका था। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' (कृष्णदास की वार्ता, प्रसंग ५) में इसका उल्लेख मिलता है। ब्रज के कुछ भक्त कवि भी इस पिछली परिपाटी से परिचित थे। सूरसागर में ढाँड़ा-ढाँड़ी द्वारा गेय जन्म की बधाइयों में 'सोहोले' का वर्णन आता है, जो अमीर खुसरो द्वारा निर्मित एक राग है।

सोलहवीं शती में वृन्दावन में स्वामी हरिदासजी महान् संगीतज्ञ हुए। उनके शिष्यों में तानसेन, बैजू बावरा, गोपालराम आदि प्रसिद्ध गायक माने जाते हैं। स्वामी हरिदासजी के अतिरिक्त इस काल में गोविंद स्वामी, कृष्णदास, सूरदास आदि संत कवि सगीत के भी मर्मज्ञ हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों ने कुछ नवीन रागों का भी निर्माण किया। सूरसागर में आए हुए कुछ रागों के नाम ऐसे हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। वे राग संभवतः उन्हीं के साथ समाप्त हो गए। उस समय ध्रुपद की गायकी अपना उच्च स्थान बना चुकी थी। ग्वालियर के तोमर राजा मानसिंह एक

उत्तम गायक और आचार्य थे। वे संगीतज्ञों के आश्रयदाता थे। तानसेन और उनके मुसलमान गुरु गौस ग्वालियर के ही रहने वाले थे। राजा मान ने ध्रुपद गायन-शैली का परिष्कार कर उसके प्रचार का पूर्ण प्रयत्न किया। तानसेन ने ध्रुपद में एक और नवीन शैली चलाई। उस समय ध्रुपद में चार शैलियों का वर्णन मिलता है, जिन्हें क्रमशः गौरारी, डागुर, खंडारी और नौहारी कहा जाता है। तानसेन का एक ध्रुपद इस प्रकार है[1]—

बानी चारों के ब्योहार सुनि लीजे हो गुनीजन, तब पावै ये विद्यासार।
राजा गोवरहार, फौजदार खंडार, दीवान डागुर, बक्सी नरबरहार॥
अचल सुर पंचम, चल सुर रिषभ, मध्यम धैवत निषाद गंधार।
सप्तक तीन, एकीस मूर्छना, बाईस श्रुति, उनचास कूटतान 'तानसेन' आधार॥

इन चारों शैलियों के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए १२७२ हि० (१८५५ ई०) में लिखित 'मअदन-उल-मूसिकी' (पृ० २७३) में लिखा है कि मकरंद के पुत्र, हरिदास फकीर (स्वामी) के शिष्य और ब्राह्मण तानसेन से गौरारी बानी, ब्रजचंद ब्राह्मण नौहार से नौहारी बानी, दिल्ली के समीपवर्ती प्रदेश डांगर निवासी सिरीचंद राजपूत से डागुरी बानी और रुहेलखंड के समीप खंडहर निवासी जाति के राजपूत राजा समोखनसिंह से खंदहारी (खंडारी) बानी का प्रचार प्रारंभ हुआ।

उपर्युक्त बातों से एक तो यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वामी हरिदास की वाणी, जिसे तानसेन ने सीखा, डागुरी नहीं थी। उनके वंशज अपने को डागुरी बानी का गायक कहते हैं। वह वास्तव में डागुरी न होकर गौरारी है, क्योंकि तानसेन का ध्रुपद भी इसी बात की ओर संकेत करता है। दूसरी बात यह है कि इन चारों बानियों में क्या अन्तर था, इसका अभी तक ठीक पता नहीं चला।

सोलहवीं शती में ब्रज के संगीतज्ञों में मुख्यतया ध्रुपद, शैली का ही प्रचार था। निम्न वर्ग में उस समय खयाल, कव्वाली

---

१. मारफतुन्नजमात, भाग २, पृ० १७।

आदि की गायकी चल पड़ी थी। उस समय लोकगीतों की क्या दशा थी, इसका सम्यक् विवरण नहीं मिलता। उस समय के धर्माचार्य इस ओर से एकदम आँखें बंद किए रहे हों, यह नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि कृष्णदास-जैसे कुछ गायकों ने इस ओर ध्यान न दिया हो, किंतु सूरदास-जैसे अंध कवि की आँखें उस ओर सदा खुली रहीं। सूर ने इस प्रकार की कितनी रचनाएँ कीं, इसका पूर्ण वृत्त उपलब्ध नहीं है। यहाँ एक होली की तान, जिसके रचयिता सूरदास कहे जाते हैं, दी जा रही है। इसी लय अथवा तर्ज की तानें आज से सौ वर्ष पहले भी यहाँ बनती थीं।

गोकुल को ठाकुर हो, खेले होरियाँ।
ललिता को बागों हो, बिराजै केसरियाँ।
सिर धरी मटुकिया हो, सिर पर दोहनियाँ।
दधि दान दिये घर जावो रे, लंगर ग्वालनियाँ।
दधि दान जु कैसो होय रे, सुनो मन मोहनियाँ।
मेरो फगुआ देउ गँवार, माँगे ग्वालनियाँ।
धन 'सूरदास' बलि जाय, बजावे कोहनियाँ॥

इसी प्रकार रसिकरायजी की एक मल्हार इस प्रकार है—

एरी सखी झूलत नवलकिसोर
संग लिये नव नागरी।
रंग सामन मांस हिंडोरना।
एरी सखी बिंदावन संकेत
झूलत नटवर साँवरो॥

इसकी तुलना ब्रज में प्रचलित निम्न मल्हार से कीजिए—

देखो री मुकुट झोका लै रह्यो
लै रह्यो जमुना के तीर।

इसी प्रकार पुरुषोत्तम प्रभु का निम्नलिखित रसिया बहुत प्रसिद्ध है—

गहरे कर यार अमल पानी।
चल बरसाने करें मिजवानी,
तेरे भांग मिरच की मैं नांय आनी॥ गहरे०

तोहे करेंगे होरी को रसिया।
हम होयँगे तेरे अगवानी ॥ गहरे०
'पुरुषोत्तम प्रभु' की छबि निरखत
तेरे मन की हमनें जानी ॥ गहरे०

इतना ही नहीं, यहाँ के भक्त कवियों ने लावनी को भी अपना लिया था। ललितकिशोरी की एक लावनी इस प्रकार है—

अष्ट सिद्ध नव निधि के सुख कों बे परवाह लुटावेंगे।
चौदौ भुवन त्रिलोकी सम्पति को बांये हाथ बहावेंगे॥
'ललितकिशोरी' जब श्री बन में कुंज बसेरौ पावेंगे।
हंस-हँस के तब ब्रह्मानंद की गलियों धूल उड़ावेंगे॥

इस प्रकार इस जन-जीवन में रम जाने वाले ब्रज के गायकों ने लोकगीतों का खुलकर प्रयोग किया। जहाँ उन्होंने उनके स्वरों को उधार लिया वहाँ अपने भावों की सम्पत्ति दी। इसीलिए यहाँ के साहित्यिक गायक और जनपदीय गायक आपस में घुलमिल गए। प्रात:काल चक्की पीसती हुई ब्रजवासिनें भी सूर आदि की प्रभाती गाती हुई मिलेंगी। चंद्रसखी के विषय में तो यह कहा जाता है कि उनकी रचनाओं में से आधी रचनाएं लोकगीतों में ही रची गईं। इस प्रकार इन लोक-गायकों की झोली को इन प्रसिद्ध साहित्यिकों ने अपने भावों से पूर्ण भर दिया। यही कारण है कि ब्रज के लोकगीतों में गाई जाने वाली धुनें भी इतनी भावपूर्ण हैं कि उनका दर्शन अन्यत्र दुर्लभ है। यह बात तो ठीक ही है कि इन लोक-गायकों की स्वर-लहरी में गमक, मीण, अलाप आदि का वैसा दिग्दर्शन नहीं मिलेगा जैसा कि शास्त्रीय संगीतज्ञों में मिलता है। किंतु इन लोगों के अलाप सीधे, हृदयस्पर्शी और आत्मानुभूति-व्यंजक होंगे। वे चाहे भजन हों, रसिया या मल्हार, आल्हा या ढोला, सब में एक ही बात मिलेगी। यही कारण है कि इनको सुनकर श्रोता आत्म-विस्मृत हो जाते हैं।

ब्रज की तान और ख्याल-लावनी

तान, भजन, रसिया आदि ऐसे गायन हैं जिनका संबंध सीधा जनपदीय जीवन से रहता है। किंतु यहाँ के नागरिक जीवन में भी संगीत का विशिष्ट स्थान है। इस प्रकार की यहाँ दो मुख्य धाराएँ मिलती हैं—(१) होली पर गाई जाने वाली तान तथा (२) खयाल-लावनी। दोनों का ही संबंध मध्यम श्रेणी के वर्ग से है तथा दोनों में विषय का कोई प्रतिबंध नहीं है। घरेलू झगड़ों के वर्णन से लेकर उच्च अध्यात्म तक इनका विषय हो सकता है। यह बात ठीक नहीं है कि होली की तानें ब्रज में होली के अवसर पर ही गाई जाती हैं। जिस समाज से इनका संबंध है उसमें ये विवाहादि अवसरों पर प्रायः गाई जाती हैं। इनको हम मोटे रूप से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं–(१) कृष्णलीला-संबंधी, (२) हास-परिहास संबंधी तथा (३) अन्य।

कृष्णलीला-संबंधी तानों में कृष्ण के जीवन पर रचनाएं होती हैं, जिनमें माखनचोरी, चीरहरण, पनघट, रास आदि लीलाओं का वर्णन बड़ा रोचक होता है।

हास-परिहास वाली तानों में व्यंग्य, विनोद और चमत्कार रहता है। कुछ में अश्लीलता की भी थोड़ी-बहुत मात्रा रहती है। इस प्रकार की रचनाओं को जगन्नाथदास 'भानु' ने परिहासापह्नुति अलंकार के अंतर्गत माना है।

भारतेन्दु बाबू ने माथुर चतुर्वेदियों से इस प्रकार की तानों को सुना होगा और उसी प्रकार की एक-दो रचनाएं कर डाली होंगी, किंतु ब्रज में तो आये दिन इस प्रकार की रचनाएँ होती रहती हैं। मथुरा के बुधौआ चतुर्वेदी इस प्रकार की तान बनाने में पारंगत हैं।

तीसरी प्रकार की तानें वे हैं जिनका संबंध प्रायः परिस्थितियों से होता है, यथा—जाति की बुराइयों पर प्रकाश डालना,

किसी का कोई दुष्कर्म उसे बिना नाम लिए हुए सुनाना, देश की परिस्थिति पर जनता के आगे अपने विचार रखना आदि ।

तानों का स्वरूप-निर्माण तीन भागों में विभक्त किया जाता है—(१) स्थायी, जिसे 'मुखड़ा' कहते हैं, (२) चौक, जिसे 'अंतरा' कह सकते हैं तथा (३) 'टूक' । टूक आधी पंक्ति होती है, जिससे चौक के स्वरों का अवरोहण करके और अंत्य के अक्षरों को मिला कर एक कर दिया जाता है । किसी-किसी तान में चौक और टूक के बीच में एक और पंक्ति होती है, जिसे 'उठान' कहते हैं । नीचे लिखी तान से उसके थाट और गति का भी परिचय मिलेगा—

पायलिया झनकारी प्यारी ।
ता थेई करि गोविंद नाचै, हाथ पकरि ब्रजनारी ।।
मटकन, लटकन, करको झटकें, मोर मुकट को छावें ।
चद चाँदनी छिटक रही है, पवन सुगन्धि उठावै ।।
रसिया, बसिया, बाजै मन बसिया ।
कानन की कुंडल दुति न्यारी, भृकुटी कुटिल कटारी ।
पायलिया झनकारी प्यारी ।।
पलकन, झलकन, दृग कजरारे, लोहित डोरन वारे ।
कंज दलन पै पग गुलाल भरि, मानो भमर सिधारे ।।
अलकें, ललकें, कारी मुख झलकें ।
मानों मनि दर्पन पै डोलत पन्नग, राजदुलारी ।
पायलिया झनकारी प्यारी ।।

इसमें 'पायलिया···ब्रजनारी' मुखड़ा, 'मटकन···उठावै' चौक, 'रसिया······बसिया' उठान तथा 'कानन······कटारी' टूक है ।

इस प्रकार की तानें मथुरा के सनाढ्य तथा चतुर्वेदियों द्वारा बनाई जाती हैं । ये लोग अपने-अपने मोहल्लों में उनका प्रदर्शन करते हैं । सनाढ्यों में तबला और मंजीरों पर तानें गाई जाती हैं । चतुर्वेदी समाज ताल और नगाड़े (दुंदुभि) पर तान का गायन और नृत्य करता है । चतुर्वेदियों की तानें पूर्ण संगीतमय तथा रोचक होती हैं । नये-नये स्वरों से भूषित, प्राचीन वाद्य, ताल और दुंदुभि

से युक्त जब चौबे लोग भाव-प्रदर्शन करते हुए नृत्य करते हैं तब वह दर्शनीय होता है। कुछ वर्ष पहले तक संगीतकार ही अपनी तानों के लिए शब्दों का परिधान पहनाता था, किंतु अब कुछ ऐसा प्रचलन हो गया है कि स्वरकार संगीतज्ञ अपने स्वरों का परिचय कराकर कवियों से शब्द और भाव भरवा लेते हैं। इससे इन तानों में उत्तम साहित्य और संगीत दोनों ही कलाओं का निखार दिन पर दिन होता जा रहा है।

खयाल—लावनी

अमीर खुसरो द्वारा निर्मित खयाल, जो बाद को ध्रुपद से इतर शास्त्रीय संगीत के लिए पर्यायवाची-सा बन गया, हमारे खयाल-लावनी वाले खयाल से पृथक् है। अमीर खुसरो द्वारा निर्मित खयाल में स्थायी और अंतरा ही होते हैं, जो विविध रागों में गाए जाते हैं। किंतु ब्रज के खयाल के गाने का एक ही ढंग है, जिसे चंग पर सभी खयालबाज एक स्वर तथा एक ही ताल में गाते हैं। इसमें उच्च कोटि के गान की आशा करना व्यर्थ है। छंद का स्वरूप प्रायः एक-सा होता है। प्रथम दो चरण स्थायी के होते हैं तथा मध्य के चार चरण कभी शेर के रूप में होते हैं तो कभी पूर्वोक्त दो पंक्तियों के समान होते हैं। अंत में दो पंक्तियों में प्रथम वाली पंक्ति पहली-जैसी होती है तथा अंतिम पंक्ति द्वारा प्रथम पंक्ति के अंत्यानुप्रास का मिलान होता है। यह एक चौक हुआ। दूसरे तथा अन्य चौकों में प्रथम की दो पंक्तियों को छोड़कर छह पंक्तियाँ होती हैं। इस प्रकार के चार चौकों का एक खयाल कहलाता है। किसी-किसी खयाल में चार चौक से अधिक भी होते हैं। वर्तमान समय में चौदह चौक तक का खयाल देखने में आता है।

खयालबाजों के अनेक वर्ग हैं। ये कलगी वाले, तुर्रा वाले, सेहरेवाले, छतरवाले, मुकटवालें, डंडावाले, दंतवाले, तोड़ेवाले आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें से कलगीवाले और तुर्रावाले नाम मुख्य हैं। इन नामों को देखने से यह प्रकट होता है कि कुछ खास वस्तुओं

को धारण करने के कारण ये लोग अमुक वर्ग वाले कहलाए। कलगी और तुर्रावालों के संबंध में इसी प्रकार की एक किंवदंती प्रसिद्ध है कि एक बार अकबर बादशाह ने सभी अच्छे-अच्छे खयाल-बाजों को इकट्ठा किया और उनमें से दो को कलगी और तुर्रा उपहार में दिया। कलगीधर के अनुयायी कलगीवाले तथा तुर्रा पाने वाले के शिष्य तुर्रावाले कहलाए। किंतु ये दोनों ही अपना संबंध धर्म से जोड़ते हैं। कलगी वाले अपने को माया और तुर्रावाले ब्रह्म का उपासक मानते हैं। इसी प्रकार के विवादों को लेकर उनके अखाड़ों में प्रतिस्पर्धा होती रहती है।

ख़यालबाजी मध्यम श्रेणी की जनता की वस्तु है। इसमें कभी-कभी साधारण और कभी बहुत उच्च कोटि के भाव भी मिल जाते हैं। भाषा साधारण हिंदी अथवा हिंदी-उर्दू मिली होती है। यहाँ खयाल का एक चौक दिया जाता है, जिसकी भाषा चलताऊ उर्दू है—

नजर मिला कर बचाओ दामन, अजी शरारत ये कम नहीं है।
तुम्हारी नाराजगी हमारे लिए, कयामत से कम नहीं है॥
अगर यकीं हो हमारी बातों पे, तो सितमगर तू आज सुन ले।
तुम्हारा दुश्मन के बर पे होना, खुली अदावत से कम नहीं है॥
अगर तू खंजर का वार कर दे, है बेवफाई से लाख बेहतर।
कि जीना इस कशमकश से दो दिन, किसी भी जिल्लत से कम नहीं है॥
नजर मिला के बचाओ दामन• ॥

अब तक हमने ब्रज की उस पद्धति का वर्णन किया है जिसकी परम्परा प्राचीन है, जिसके स्वरों को पूर्वकाल से ही वाग्दान मिलता रहा है। किंतु आज का लोक-गायक रेडियो और सिनेमा से भी प्रेरणा प्राप्त कर गायन करता है। ब्रज के वर्तमान लोक-गायक गोपालजी शर्मा ने 'शाहजहाँ' नामक फिल्म में 'हाय-हाय रे जालिम जमाना' नामक गीत को किस प्रकार अपने शब्दों में भर कर उसे ब्रज लोकोपयोगी बना दिया है—

आओ कुंजन में बाँके बिहारी ।
कर में मुरली लिये, काँधे कामर दिये, श्याम कारी ।
आओ कुंजन में बाँके बिहारी ॥
दीन दुखियों की सुधि क्यों बिसारी ।
रोते व्रजबाल हैं, गोएँ बेहाल हैं, हे मुरारी !
आओ कुंजन में बाँके बिहारी ॥
चंद आनन पै अद्भुत छटा है ।
कंज लोचन पै मन रम रहा है ।
केश कुंचित लटें, कब हैं हिय तें हटें, छबि तिहारी ।
आओ कुंजन में बाँके बिहारी ॥
शोभा बनमाल की है निराली ।
आभा पटपीत ने है सँभारी ।
फबि रही कौधनी, ए हो ब्रज के धनी, हम दुखारी ।
आओ कुंजन में बाँके बिहारी ॥
मन के मन्दिर में आके बिराजो ।
प्रेम - पथ मे उठाओ गिरा जो ।
मोहिनी साँवरी, आँख हैं बावरी, लखि तिहारी ।
आओ कुंजन में बाँके बिहारी ॥

वाद्य

भारतीय साहित्य में विविध वाद्ययंत्रों की चर्चा बहुत मिलती है। संगीताचार्यों ने वाद्यों के चार भेद किए हैं—१. तार या तंतु से बजने वाले 'तत' वाद्य, २. वायु के दबाव से बजने वाले 'सुषिर' वाद्य, ३. चमड़े से मढ़े हुए 'आनद्ध' वाद्य तथा ४. ठोकर से बजने वाले 'घन' वाद्य। प्राचीन ब्रज में ये चारों प्रकार के बाजे प्रचलित थे। यहाँ की मूर्तिकला में इन बाजों के अनेक रूपों का चित्रण मिलता है।

वाद्यों का विशद उल्लेख ब्रज के भक्त कवियों की वाणियों में मिलता है। भक्त कवियों की इन रचनाओं को देखने से पता चलता है कि मुगल काल में ब्रज में वीणा, किन्नरी, पिनाक, सारंगी,

रवाब, स्वरमंडल, अमृतकुंडली, यंत्र, तानपूरा नामक 'तत' वाद्यों; बाँसुरी, महुवरि, मुखचंग, सिंगी, संख आदि सुषिर वाद्यों; मृदङ्ग (या पखावज), मादिलरा, मुरज, रुंज, आवज, दुंदुभि, भेरि, निसान, पटह, ढोल, डमरू, डिमडिमी, चंग, डफ, डफली, खंजरी, उपंग आदि आनद्ध वाद्यों और ताल, करताल, कठताल, झालरि, झाँझ, मँजीरा, घुंघुरू और जलतरंग आदि घन वाद्यों का यथेष्ट प्रचार था[1]।

उपर्युक्त वाद्यों में से किन्नरी (वीणा), पिनाक, रवाब, अमृतकुंडली, यंत्र, मुखचंग, मुरज, रुंज, आवज, भेरि और निसान अब ब्रज में देखने को नहीं मिलते। कुछ नये वाद्यों का भी प्रचलन हुआ है, यथा—इकतारा, दोतारा, इसराज, तबला, भेरी, मोहन-वाद्य, खड़ताल, चिकारा आदि।

इनमें से कुछ वाद्य ऐसे हैं जिनसे साधारणतया सभी परिचित हैं, जैसे—सारंगी, इकतारा, दोतारा, इसराज, मृदङ्ग या पखावज, तबला, ढोल, डमरू, चंग, मंजीरा, झालरि, घुँघुरू, जलतरंग आदि। अन्य वाद्यों का परिचय नीचे दिया जाता है—

बीन—यह 'वीणा' शब्द का अपभ्रंश है। ब्रज में बीन का प्रयोग तीन अर्थों में होता है—(१) तूंबे वाली वीणा, (२) सँपेरों की बीन, जिसे महुवरि कहते हैं और (३) भैरों के उपासकों का वाद्य।

तुरही—धतूरे के फ़ूल के आकार की दो हाथ लम्बी पीतल की नलिका 'तुरही' कहलाती है।

सनाई—धतूरे के फ़ूल के आकार की एक हाथ लम्बी लकड़ी की बनी होती है। आधे वेर के बीज के आकार वाले एक-एक अँगूठे के अन्तर से इसमें आठ छेद होते हैं। इसका मुख चार अंगुल लंबा होता है तथा शब्द उत्पन्न करने को हाथीदाँत के दो पत्ते लगे रहते हैं।

अलगोजा—जिस बाँसुरी का मुख अँगूठे की भाँति का होता है उसे 'अलगोजा' कहते है।

---

१. इन वाद्यों के संबंध में विस्तृत जानकारी के लिए देखिए चुन्नीलाल 'शेष', 'अष्टछाप के वाद्ययंत्र' (मथुरा, सं० २०१३)।

जोड़ी—जिन अलगोजों में पाँच स्वर-स्थान होते हैं तथा उनमें से दो एक साथ बजाए जाते हैं उसे 'जोड़ी' कहते हैं।

भेरी—यह ध्वनि-विस्तारक यंत्र-स्वरूपा होती है। फूंक देने पर 'भोंओं' शब्द निकलता है।

झाँझ—ये काँसे के बने हुए मंजीरे-जैसे वाद्य आठ से बारह अँगुल तक व्यास के चौरस, बीच में दो अँगुल गहरे तथा मध्य में एक-एक डोरी लगा कर बनाए हुए होते हैं। इन डोरियों में एक-एक हत्थी बँधी रहती है। प्रायः कीर्तन करते समय बजाए जाते हैं।

तार या ताल—काँसे की बनी हुई, आध सेर से तीन पाव तक की जोड़ी होती है। मध्य में छिद्र होता है, जिसमें एक डोरी कपड़े की पट्टियों से बँधी रहती है। एक को बाएँ हाथ से मजबूत पकड़ते हैं और दूसरे को दाहिने हाथ से ढीला। फिर पहले पर प्रहार कर शब्द उत्पन्न करते हैं।

कठताल—यह ग्यारह-ग्यारह अंगुल लंबे दंडों की जोड़ी होती है। सामूहिक रूप में मृदङ्ग या तबले के साथ बजने वाले कठताल अत्यंत प्रिय लगते हैं। अहीरों में वर शोभा-यात्रा, गणेश चौथ तथा होली की दण्डेशाही में ये बजाए जाते हैं।

खड़ताल—ब्रज का यह विशेष वाद्य है, जो कीर्तन में प्रायः बजाया जाता है। छह, नौ अथवा बारह इंच लंबे तथा चार अंगुल चौड़े लकड़ी के चौरस दो टुकड़े लिये जाते हैं। इनके सिरों को एक-एक अंगुल छोड़कर दो-दो झिरी इतनी लंबी-चौड़ी निकाली जाती हैं कि उनमें दो-तीन अंगुल व्यास के काँसे के गोल टुकड़ों की जोड़ी, जिन्हें 'छैना' कहते है, आसानी से फँसाई जा सके। लकड़ी के मध्य में इस प्रकार कटाव किया जाता है कि एक में चार अँगुलियाँ आसानी से जा सकें तथा दूसरी में अँगूठा जा सके। ये दो जोड़ी, एक बाएँ तथा दूसरी दाएँ हाथ में लेकर, एक साथ बजाई जाती हैं। प्रायः रसिया, होली तथा कीर्तन में ये बजाए जाते हैं।

किन्नरी—यह किन्नरी वीणा से पृथक्, किन्नरी नामक घन वाद्य है, जिसे यहाँ करकरी, किरकिरी या किंगरी भी कहते हैं। यह त्रिकोणात्मक पक्के लोहे की छड़ होती है, जिसे दूसरे लोहे के टुकड़े से बजाया जाता है।

बेला—यह काँसे का बना हुआ एक प्रकार का चपटा कटोरा होता है, जो लकड़ी के टुकड़े से बजाया जाता है। अहीरों के विवाह में इसका चलन बहुत है।

ढप—यह फारसी शब्द 'दफ' का अपभ्रंश है; पहले 'डफ' हुआ और फिर ब्रज में 'ढप'। यह एक हाथ से डेढ़ हाथ तक व्यास का, छह अंगुल चौड़ा फरास की लकड़ी का घेरा होता है, जो एक ओर से पतले चमड़े से मढ़ा रहता है। बाएँ हाथ से पकड़ कर, छाती तक ऊँचा उठाकर इसे दाएँ हाथ की अँगुली तथा हथेली के सयोग से बजाते हैं। यह ढप होली के अवसर पर बाहर निकलता तथा होली की समाप्ति पर बंद करके रख दिया जाता है।

चंग—एक हाथ से कम के व्यास वाला ढप 'चंग' नाम धारण कर लेता है।

ढपली—दस अंगुल के व्यास का ढप-जैसा वाद्य ढपली' कहलाता है।

खंजरी—ढपली में तीन जोड़े छैने लगे हों तो वह खंजरी होती है।

उपर्युक्त ढप, चंग, ढपली तथा खंजरी के बजाने में किंचित् भेद रहता है। सगीतबिद् उनके शब्दों को सुनकर ही समझ लेता है कि किस वाद्य का वादन हो रहा है।

उपंग—होली के अवसर पर ब्रज के छोटे बालक सिगरेट वाले टीन के डिब्बों में नीचे छेद कर उसमें एक रस्सी डाल लेते हैं। जब इस रस्सी को कपड़े से पकड़ कर सूतते हैं तो कुत्ते के भूकने-जैसा शब्द निकलता है। यह उपग का ही साधारण रूप है।

उपंग मिट्टी, लकड़ी अथवा धातु का बना हुआ, डमरू या ढोल के आकार का सोलह से बीस अंगुल लंबा एक खोल होता है। वह एक ओर चमड़े से मढ़ा रहता है। इस चमड़े के मध्य से एक ताँत की डोरी बाहर की ओर खोल के अन्दर होती हुई आती है। यह उपंग बाईं बगल में दाब कर अथवा कंधे पर लटका कर लकड़ी के टुकड़े से ताँत पर आघात कर बजाई जाती है।

मोहन वाद्य—यह मोटे दल की मिट्टी की मटुकिया होती है, जिसमें एक मुख पेट की ओर थोड़ा निकला हुआ बना रहता है, जो मुख्य मुख से व्यास में लगभग आधा होता है। ये दोनों मुख चमड़े से मढ़े रहते हैं। छोटे मुख के मध्य में एक बटन लगी रहती है, जिसमें होकर स्टील का एक तार मटुकिया के दूसरी ओर निकलता है, जहाँ लगी हुई लकड़ी की खूँटी में वह बाँध दिया जाता है। बस खूँटी को कड़ा या ढीला करने से उसके स्वर में आरोह-अवरोह हो जाता है तथा दूसरे वादचों से आसानी से मिलाया जा सकता है।

नगाडा—शंकु के आकार का मोटे चमड़े से मढ़ा हुआ तथा तसमों से कसा हुआ वादच 'नगाड़ा' कहलाता है। व्रज के स्वाँगों में नगाड़े का प्रयोग 'दुंदुभि' के अर्थ में होता है, जिसमें एक बड़ा नगाड़ा तथा एक छोटी नगड़िया होती है। इसे 'झील' या 'अधौटी' कहते हैं। होली के अवसर पर एक बहुत बड़ा नगाड़ा एक गाड़ी पर रखकर निकाला जाता है। यह लकड़ी के डंडों से दोनों हाथों से बजाया जाता है।

उपर्युक्त नामावली से प्रकट है कि वर्तमान ब्रज में अनेक पुराने वादच नहीं मिलते। उनके स्थान पर कई नये वादच प्रचलित हैं। प्रमुख वादच किन अवसरों पर बजाए जाते हैं, इसकी संक्षिप्त चर्चा यहाँ की जा रही है—

कीर्तन के समय वल्लभकुल-सम्प्रदाय के मंदिरों में सारंगी, पखावज, झाँझ तथा हारमोनियम बजाया जाता है। बंगाली वैष्णव झाँझ और पखावज पर ही नृत्य तथा कीर्तन करते हैं। कामवन में

श्री गोकुलचंद्रमाजी के मंदिर में मोहन वादद्य बजाया जाता है, जिसको बरसाना के आगे ढोला, आल्हा आदि गाने वाले बजाते हैं। देवी के जागरण में, जो चैत्र तथा आश्विन मास में होता है, जोगी लोग डमरू तथा सारंगी बजाकर देवी के गीत गाते हैं।

ब्रज की रास-मंडलियों द्वारा रास में पखावज, सारंगी, झाँझ, मंजीरा और किन्नरी बजाई जाती है। यहां की भगत (स्वाँग) में नगाड़ा, ढोलक, सारंगी तथा हारमोनियम का प्रयोग होता है। घरेलू नृत्यों और गीतों में प्रायः ढोलक और मंजीरा ही बजाए जाते है। विवाहादि अवसरों पर वर-शोभा-यात्रा में ढोल और ताशों के अतिरिक्त कुछ विदेशी वादद्य, जिन्हें यहाँ अग्रेजी बाजा कहते हैं, बजाए जाते हैं। हाईलैण्डर्स बैंड, जो बीनबाजा कहलाता है, भी कभी-कभी बजाया जाता है। राया (जि० मथुरा) के अब्दुल्ला की नफीरी बहुत प्रसिद्ध है, जिसका प्रदर्शन धनी-मानी लोग विवाहादि अवसरों पर कराते है। महाराजा भरतपुर का बाँसुरी बैंड भी अति उत्तम माना जाता है। अहीरों की बरात में तवला, बेला और बाँसुरी पर नाचते हुए लोग वर के आगे-आगे चलते है।

ब्रज के दो मुख्य मेलों में यहाँ के प्रायः सभी वादद्यों का समावेश हो जाता है—(१) होली का मेला, (२) रथ का मेला। होली के अवसर पर नित्यप्रति बजने वाले वादद्य तो बजते ही हैं, साथ ही मंदिरों में ढप, नगाड़ा, उपंग, किन्नरी आदि वादद्य भी बजने लगते है। चतुर्वेदियों की चौपाइयों में ताल, नगाड़ा और हारमोनियम बजाए जाते हैं। सनाढ्य ब्राह्मणों की चौपाइयों में तबला और मजीरा बजते हैं। चतुर्वेदियों में मोहन बाग की चौपाई सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। रथ का मेला वृन्दावन में श्री रंगजी के मंदिर में चैत्र कृष्णा २ से आरंभ होकर चैत्र कृष्णा १२ तक चलता है। इसमें श्री रंगनाथजी की सवारी प्रतिदिन निकलती है। सवारी के साथ तुरही, सहनाई आदि वादद्य बजते हैं।

जिस प्रकार शास्त्रीय संगीत में ब्रज के ध्रुपद गीत तथा

लोकगीतों में रसिया, मल्हार आदि अपना निजी अस्तित्व रखते हैं और ठेठ ब्रज के गीत कहलाते हैं, उसी प्रकार उपंग, मोहन वादय आदि ब्रज के विशेष वाद्य हैं। हाल में ब्रज में अनेक प्रसिद्ध गायक और वाद्य बजाने वाले हो गए हैं। गायकों में श्री गणेशीलाल तथा श्री चंदन चौबे भारत-प्रसिद्ध रहे हैं। प्रख्यात पखावजी मक्खनजी, इसराज के मर्मज्ञ लालनजी तथा हारमोनियम बजाने में अत्यंत निपुण श्री रणछोरजी कुछ वर्ष पूर्व ही स्वर्ग सिधारे हैं। वर्तमान समय में भी ब्रज में लक्ष्मणजी-जैसे कुशल ध्रुपद-गवैया, प्रेमबल्लभ-जैसे पखावजी और हीरासिंह-जैसे नर्तक, जिन्हें उत्तर प्रदेश में सर्वश्रेष्ठ नर्तक घोषित किया जा चुका है, विद्यमान हैं। शास्त्रीय संगीत के मर्मज्ञ तथा गायक सर्वश्री रामचंद्र मूगा, शिवकुमारजी, उत्तमरामजी शुक्ल, बालजी, आनंदबिहारी जी तैलंग आदि आज भी हमारे बीच हैं। लोकगीतों के भी अनेक प्रसिद्ध गायक मथुरा, लोहवन, बरसाना, हाथरस, आगरा, भरतपुर आदि में मौजूद हैं[1]।

नृत्य

ब्रज के कुछ ठेठ ग्राम्य नृत्यों की चर्चा करने के पहले यह आवश्यक है कि यहाँ के दो प्रसिद्ध लोकनाट्यों का वर्णन कर दिया जाए, जिनमें गीत, वाद्य तथा नृत्य—तीनों का समिश्रण मिलता है। ये दोनों लोकनाट्य रास तथा भगत हैं।

रास

रास ब्रज की प्रमुख वस्तु है। इसके प्रचलन की परम्परा श्रीकृष्ण के समय से मानी जाती है। भगवान् कृष्ण ने गोपियों के साथ जो रासलीला की उसका वर्णन हरिवंश, विष्णु, भागवत आदि पुराणों में विस्तार से मिलता है।[2] इसके प्राचीन नाम हल्लीशक,

---

१. ब्रज के लोकसंगीत तथा उसके गायकों के सम्बन्ध में देखिए आगे अध्याय ५।

२. द्रष्टव्य कृष्णदत्त वाजपेयी, संस्कृत साहित्य में रास, 'ब्रजभारती', वर्ष ६, सं० २, पृ० १७–१९।

हल्लीसक, मंडल-नृत्य, रासक आदि मिलते हैं। भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में रासक के तीन प्रकारों का उल्लेख है—ताल रासक, दंड रासक तथा मंडल रासक। गुजरात में प्रचलित गर्वा नृत्य ताल रासक, ब्रज के अहीरों का वर की शोभा-यात्रा के समय दंडेशाही का नाच दंड रासक तथा बिना ताल और दंड की सहायता के मंडलाकार नृत्य मंडल-रासक हैं। अन्तिम प्रकार का रास ब्रज की गूजरियों में अब भी प्रचलित है।

गुजरात में शरद पूर्णिमा के अवसर पर गाँव-गाँव में गर्वा की धूम मच जाती है। एक घड़े के ऊपर दूसरा घड़ा रखकर उस पर चौमुखा दीपक जलाया जाता है। इसके चारों ओर स्त्रियाँ ताली बजाकर नाचती हैं। कहते हैं कि भगवान् कृष्ण के साथ ही ब्रज से रास का यह रूप सौराष्ट्र तथा गुजरात में गया और वहाँ गर्वा नृत्य कहलाया।

बंगाल में भी भगवान् कृष्ण के रास का एक रूप प्रचलित है जो वहाँ की यात्राओं में देखा जा सकता है। वहाँ की वेशभूषा ब्रज से भिन्न होती है, किंतु अभिनय उच्च कोटि का होता है।

असम के मणिपुर इलाके में भी रास का प्रदर्शन मिलता है। वहाँ की वेशभूषा अति आकर्षक होती है तथा अभिनय भावुकता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वहाँ रास के तीन भेद माने गए हैं—(१) वसंत रास, (२) नृत्त रास और (३) महारास। प्रथम दो क्रमशः वसंत और आश्विन मास में होते हैं। महारास किसी समय भी हो सकता है।

ब्रज में रास का वर्तमान रूप कब से प्रचलित हुआ और उसके प्रारंभकर्ता कौन थे, इस संबंध में विभिन्न मत हैं।[1] कुछ

---

१. इस विषय पर विस्तार के लिए देखिए प्रभुदयाल मीतल, **नारायण भट्ट**, 'ब्रजभारती', वर्ष ४ (सं० २००३), अंक २, पृ० ६–११; कृष्णदत्त वाजपेयी, **रास** 'ब्रजलोक संस्कृति' (मथुरा, सं० २००५), पृ० १३६-४७; रामनारायण अग्रवाल, **रासलीला के आरंभकर्ता**, 'ब्रजभारती', वर्ष ५,

लोग निंबार्क संप्रदाय के श्री घमंडदेव को तथा अन्य श्री नारायण भट्ट को यह श्रेय देते हैं। कहा जाता है कि जब श्री वल्लभाचार्यजी मथुरा आए तब स्वामी हरिदासजी ने विश्रामघाट पर उनकी बैठक में रास का उद्धार करने की इच्छा प्रकट की। दोनों महात्माओं ने सहमत होकर मथुरा के चतुर्वेदियों से रास के लिए आठ बालक माँगे। स्वयं वल्लभाचार्यजी ने कृष्ण का और स्वामी हरिदास ने राधा के स्वरूप का शृङ्गार किया। उसी समय आकाश से एक मुकुट उतरा, जो कृष्ण को धारण कराया गया। परंतु अकस्मात् कृष्ण बने हुए बालक का अन्तर्ध्यान हो गया! इससे स्वामी हरिदासजी ने लीला का विचार त्याग घमंडदेवजी को रास आरंभ करने की आज्ञा दी। घमंडदेवजी ने बरसाना के समीप करहला में उभयकरण और खेमकरण नामक ब्राह्मणों की सहायता से रास का आरम्भ किया। तभी से करहला रासलीला का केन्द्र बन गया। रास के प्रारंभ और प्रचार में नारायणभट्ट जी का निश्चय ही महत्वपूर्ण योग रहा। उन्होंने 'ब्रजभक्तिविलास' आदि अनेक प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की तथा ब्रज-यात्रा का प्रचार किया।

ब्रज में इस समय रास के दो मुख्य प्रकार मिलते हैं—एक तो शास्त्रीय बंधनों से मुक्त लोक-नृत्यों के रूप में और दूसरा शास्त्रीय रूप। रास का प्रथम प्रकार लोक-नृत्य के रूप में स्त्री-पुरुष दोनों में प्रचलित है। विशेष अवसरों पर नंदगाँव और बरसाना के समीप गूजरियों में इसकी अद्भुत छटा देखने को मिलती है। वे बिना किसी वाद्य के मंडलाकार रूप में नाचती हुई अपने हाथों से विविध मुद्राएँ प्रदर्शित करती हैं। हरिवंश पुराण में जिस हल्लीशक का वर्णन है, उसमें किसी वाद्य का उल्लेख नहीं है। गोपियों द्वारा हथेली बजाने और कूदने का ही कथन है। गूजरियों द्वारा अभिनीत नृत्य प्राचीन हल्लीशक की याद दिलाता है। वात्स्यायन के कामसूत्र (२,१०,२५)

(सं० २००४), अंक ४, पृ० १२–१४ तथा नारविन हाइन, रासलीला के विदेशी दर्शक, पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, ७१३–१७।

में आए हुए 'हल्लीसक' शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार यशोधर ने लिखा है कि स्त्रियों के मंडलाकार इस नृत्य में एक नेता होना चाहिए, उसी प्रकार जिस प्रकार गोपियों के मध्य में कृष्ण। किंतु गूजरियों के मध्य में कोई पुरुष नहीं होता और न उसका कोई प्रीतम ही होता है। संभवत: गूजरियों का नृत्य कृष्ण के अन्तर्ध्यान होने के पश्चात् का है। जिस स्वरलहरी में वे गायन करती हैं वह अत्यंत कोमल होती है तथा करुणरस-मिश्रित होती है। यह भी संभव है कि समय के प्रभाव से ब्रज में प्राचीन सहनृत्य की परिपाटी समाप्त हो गई हो और स्त्री तथा पुरुषों का पृथक्- पृथक् नृत्य होने लगा हो। अहीरों के विवाह-अवसर पर वर-शोभा-यात्रा में अहीर लोग दंड (डंडे) लेकर मंडलाकार बजाते हुए तथा अनेक भाव बताते हुए अथवा प्रत्येक ताल के साथ 'हो' शब्द करते हुए अब भी देखे जा सकते हैं। इनके साथ बाँसुरी, बेला तथा तबले बजते चलते हैं।

ब्रज में रास के दो शास्त्रीय भेद हैं—एक रास, जिसे लीला-विशेष से पृथक् रास-मंडलियाँ करती हैं तथा दूसरा महारास, जिसके विषय में यह धारणा है कि उसे भगवान् कृष्ण ने शरद पूर्णिमा को यमुना-पुलिन पर किया। कहते हैं कि जब श्रीकृष्ण ने महारास का प्रारम्भ किया तब वहाँ जितनी गोपियाँ थीं उतने ही कृष्ण स्वरूप प्रकट हुए। दो-दो गोपियों के बीच में एक-एक कृष्ण थे अथवा दो-दो कृष्ण के बीच में एक गोपी थी। ब्रज की मंडलियाँ जिस समय महारास का प्रदर्शन करती हैं, तब उनमें भरत के 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित तीनों रासकों का मिश्रण देखने को मिलता है।

भरत के 'नाट्यशास्त्र' से यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में रास का यथेष्ट प्रचार था और उसके विविध रूपों का वर्गीकरण हो गया था, किंतु धीरे-धीरे कई रूपों का लोप हो गया। इन रूपों के पुनरुद्धार के लिए ही ब्रज के सन्त-महात्माओं ने सोलहवीं शती में चेष्टा की।

इस समय ब्रज में रास की जो पद्धति[1] प्रचलित है वह लगभग चार सौ वर्ष प्राचीन है। इसमें रास आरम्भ करते समय पहले समाजी लोग मंगलाचरण करते हैं। इस समाज में वे वादक होते हैं जो रास में विविध वाद्यों को बजाते हैं। ये वाद्य सारंगी, पखावज, किन्नरी और झाँझ-मँजीरा हैं। मंडली का मालिक, जो स्वामी होता है, प्रायः सारंगी बजाता है। मंगलाचरण के पश्चात् ध्रुपद में कीर्तन होता। फिर स्तुति और आरती होती है। आरती के पश्चात् सखीगण प्रिया-प्रीतम से प्रार्थना करती हैं कि वे लीला हेतु पधारें। इस बीच अनेक पद गाए जाते हैं और सभी स्वरूप नृत्य करते हैं। तत्पश्चात् लीला आरम्भ होती है।

ये लीलाएँ प्रायः भागवत से संबंधित होती है। कुछ ऐसी लीलाएँ भी हैं जो भक्तों की भावना पर अवलंबित हैं। इनमें अष्टछाप, व्यासजी, स्वामी हरिदासजी आदि संत कवियों के पदों का गायन होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रास प्रारंभ होने के पहले लीला-विषयक साहित्य प्रचलित न था। इन तथा अन्य भक्त कवियों ने इसकी पूर्ति कर हिन्दी-साहित्य की वृद्धि की।

ब्रज में रासलीला की गायकी कभी-कभी अपनी ध्रुपद परंपरा को छोड़कर रसिया, गजल आदि की ओर भी झुक जाती रही है। परंतु अधिकांश मंडलियाँ नवीन शैली को न अपना कर प्राचीन परम्परा को ही अपनाती चली आ रही हैं।

रास के नृत्य आध्यात्मिक भावना से ओतप्रोत होने के साथ अपूर्व छटायुक्त होते हैं। जब कृष्ण, राधिका और सखीगण हाथों को फैलाए पगताल देते हुए मंडल में नृत्य करते हैं तब वह दृश्य अत्यन्त सुन्दर होता है। उस समय मंडली के स्वामी इस प्रकार गाते हैं—

नाचत रास में रासबिहारी नचवत हैं ब्रज की सब नारी।
तादीम तादीम तत तत थेई–थेई थुंगन-थुंगन देत गति न्यारी।।

---

१. द्रष्टव्य श्री सूर्यप्रकाश शर्मा, ब्रज की रास परिपाटी, ब्रजभारती', वर्ष १४, (सं० २०१३), अंक २, पृ० ४४–५३।

इस गीत को पहले धीमी ताल में गाते हैं, फिर दुगुने ताल । दुगुना ताल होते ही श्रीकृष्ण-राधिका तथा सखीवृन्द एकदम रों की ताल को बढ़ाकर चक्कर लगाना आरम्भ कर देते हैं । चार ा पाँच चक्कर खाकर सब नियमानुसार (राधिका के सामने कृष्णजी ोच-बीच में सखियाँ) घुटनों के बल बैठ जाते हैं और वाद्यों के ाल के अनुसार हाथों को कई प्रकार से नचा-नचा कर भाव दर्शाते । संग में मुख, कमर आदि अङ्गों से भी भाव दर्शाते हैं । फिर ब एक पंक्ति में खड़े हो जाते हैं । श्री कृष्णजी के बाईं ओर ाधिका और दोनों ओर सखियाँ रहती हैं । इसके पश्चात् निम्न-लखित तालों पर वे सब अलग-अलग नाचते हैं । पहले कृष्ण, फिर ाधा और अन्त में एक-एक या दो-दो सखियाँ । सबसे पहले पुराने ीत को ही, जिसकी ताल द्विगुण के स्थान पर अब चौगुनी कर ते हैं, स्वामीजी इस प्रकार गाते हैं—

ततत्ता थेई ततत्ता थेई ततत्ता थेई ।

इसके बोलते ही कृष्ण पगताल देते हुए पंक्ति से निकल ड़ते हैं और लगभग चार-पाँच कदम आगे फिर कर राधा की ओर ह करके खड़े होते हैं । वे वाद्य पर पगताल देते, कूदते और फुदकते । हाथों से वे स्वामीजी द्वारा गाए जाने वाले निम्नलिखित गीत र भाव दर्शाते हैं—

तिकट तिकट धिलांग धिकतक तोदीम धिलांग तकतो ।
तिकट तिकट धिलांग धिकतक तोदीम धिलांग तकतो ।।
ताचिलंग धिग धिलंग धिकतक तोदीम तोदीम घेताम घेताम ।
धिलांग धिलांग धिलांग तक गदगिन थेई ।
ततत्ता थेई ततत्ता थेई ततत्ता थेई ।।

इसके पश्चात् श्रीराधा तथा अन्य सखियाँ भी इसी प्रकार त्य करती हैं ।

महारास में नृत्य का जो सुदर समां बँध जाता है वह अत्यंत भावोत्पादक होता है । अन्य कतिपय लीलाओं के नृत्य भी दर्शनीय

होते हैं। रास के कथनोपकथन, वाद्यों के साथ उठी हुई सुंदर स्वर-लहरी तथा संपूर्ण अंगों में थिरकन उत्पन्न करने वाले भावात्मक नृत्य भारतीय संगीत में रास का विशिष्ट स्थान सिद्ध करते हैं।

रास के कुछ गीत यहाँ दिए जाते हैं, जिन्हें कृष्ण, राधिका तथा सखियाँ—सभी स्वरूप पंक्ति में खड़े होकर गाते हैं—

१

आज गोपाल रास-रस खेलत, पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी।
शरद विमल नव चंद्र बिराजै, रोचक त्रिविध समीर री सजनी॥
चम्पक बकुल मालती मुकुलित, मत्त मुदित पिक कीर री सजनी।
देश सुगंध राग-रँग नीको, ब्रज युवतिन की भीर री सजनी॥
मघवा मुदित निसान सजायो, उत छोड्यो मुनि धीर री सजनी।
'श्री हरिवंश' मुदित मन श्यामा, हरत मदन घन पीर री सजनी॥

२

बाँसुरी बजाई आज रँग सों मुरारी।
शिव समाधि भूलि गये, ऋषि मुनि की तारी॥
वेद पढ़त ब्रह्मा भूले भूले ब्रह्मचारी॥ बाँसुरी०॥
रम्भा साम ताल चूकी भूली नृत्यकारी।
जमुना जल उलटि बह्यो शोभा आज भारी॥ बाँसुरी०॥
वृन्दावन बंसी बजी तीन लोक प्यारी।
ग्वाल बाल मगन भये ब्रज की सब नारी॥ बाँसुरी०॥
सुन्दर श्याम मोहनी मूरत नटवर बपुधारी।
सूर के प्रभु मदनमोहन चरणन बलिहारी॥ बाँसुरी०॥

भगत

इसका दूसरा नाम 'स्वाँग' है। मथुरा और उसके पास के कुछ स्थानों में इसका भगत नाम प्रचलित है। मेरठ की ओर इसे 'नौटंकी' कहते हैं। 'आईने-अकबरी' में भगत के संबंध में लिखा है कि ब्राह्मणों के लड़के अनेक प्रकार के वेश बनाकर गान और नृत्य किया करते थे।

भगत में कभी-कभी कृष्णलीला-संबंधी रास का वर्णन होता है, परंतु उसे रास नहीं कह सकते। दोनों की वेशभूषा में बहुत-

कुछ साम्य होते हुए भी उनकी पद्धति में अन्तर है। भगत तथा रास की गायन-शैली, वाद्य तथा नृत्य भी पृथक्-पृथक् हैं।

'रास सर्वस्व' ग्रन्थ से पता चलता है कि अठारहवीं शती में कुछ रासमंडलियों में यह परिपाटी चल पड़ी थी कि वे भक्तों की पदावली को छोड़कर गजल, रेखता आदि गाने लगी थीं। संभव है इसी से प्राचीन परिपाटी का अनुसरण करने वाली मंडली 'रास-मंडली' और नवीन रूप को अपनाने वाली 'भगत मंडली' कहलाई हो। भगत-मंडलियों में देवी के भक्त कोरिया लोग बड़ी संख्या में होते थे।

मथुरा और हाथरस स्वाँग या भगत के केन्द्र रहे हैं। हाथरस में नत्थासिंह के समय से इसका विशेष नाम हुआ। मथुरा में यह इससे पूर्व प्रसिद्धि पा चुकी थी। भगत का प्रारंभिक रूप कृष्ण-लीलाओं से ही संबधित था, परंतु उसमें मोड़ देने का श्रेय बाबू श्यामाचरण को है, जो एक बंगाली विद्वान् थे तथा ब्रजवास की इच्छा से मथुरा में रहने लगे थे। उन्होंने सबसे प्रथम 'प्रहलाद-चरित्र' नाटक खेला। फिर 'सँपेरा नाटक', 'ऊषा चरित्र' और 'रुक्मिणी-हरण' नामक विविध कथानकों का स्वाँग कराया। ये स्वाँग सच्चे अर्थों में हिंदी के थे और खुले रंगमंच पर सफलतापूर्वक खेले गए थे। श्यामाचरणजी के स्वाँगों में ढोलक, बेला या वायलिन और हारमोनियम बजता था। ढोलक बजाने के लिए होडल से रूढ़ा नामक प्रसिद्ध ढोलकिया आता था। वायलिन स्वयं बाबू श्यामाचरण बजाते थे।

स्वाँग के आरंभ में गणेशजी की स्तुति का मंगलाचरण होता था। फिर भंगी आकर झाड़ू लगाता और भगवान् की स्तुति में एक चीज कहता था। उसके बाद भिश्ती आकर छिड़काव का अभिनय करके गाता था। तब कथा आरम्भ होती थी।

इन स्वाँगों में हिंदी के दोहे इत्यादि गाए जाते थे और चौबोलों के स्थान पर कुंडलियाँ गाई जाती थीं। ये चौबोलों की

गायन-शैली से पृथक् होती थीं, किंतु चौबोलों की भाँति ही समां बाँध देती थीं।

ब्रज में स्वाँगों का इतना प्रचार रहा है कि अकेले मथुरा में ही दो अखाड़े थे—एक लाल दरवाजे में मनिया भट्ट का तथा दूसरा विश्रांतघाट में उस्ताद बिरजीसिंह का। आरंभ से ही इन अखाड़ों में लाग-डाट थी, जो अभी तक उनकी शिष्य-परंपरा में चली आती है। यदि कोई एक स्वाँग करता है तो दूसरे को स्वाँग करने के लिए ललकारता है। इस आपसी होड़ से अनेक स्वाँगों की रचना हुई, जिनके प्रायः सभी कथानक प्रेम पर आधारित हैं। वर्तमान काल में 'कृष्णार्जुन युद्ध' तथा 'महारास' की रचना हुई, जो इन अखाड़ों की प्राचीन परिपाटी से भिन्न हैं। पहले स्वाँग वाले अपनी रचनाओं में दोहा, चौबोला, दौड़, वैहरतवील, कव्वाली, लावनी आदि का प्रयोग करते थे। अब सिनेमा की तर्जों के आधार पर भी कुछ गीत बनने लगे हैं।

श्यामाचरण के अखाड़े की यह विशेषता थी कि उनके परिधान सादे होते तथा स्वाँग सुगंधित फूलों से सुसज्जित किए जाते थे। अन्य अखाड़ों के स्वांगों के परिधान राजसी होते थे; उनमें नीचे से ऊपर तक अनेक प्रकार के अलंकार लगे होते थे। उनमें ढोलक, नगाड़ा, सारंगी तथा हारमोनियम का वादन होता था और अब भी होता है।

ब्रज के इन मुख्य अखाड़ों को भगत-प्रेमी जनों का सहयोग प्राप्त है। स्वांगों के प्रदर्शन में काफी रुपया व्यय होता है। कुछ ऐसी भी मंडलियाँ हैं जो धनोपार्जन की दृष्टि से बनाई गई हैं। इनमें सबसे प्रमुख हाथरस की नत्थासिंह की मंडली है, जिसके रचे गए स्वाँग जन-साधारण को अत्यधिक पसंद हैं। नत्थासिंह की मंडली समस्त उत्तर भारत में अपने प्रदर्शन कर अद्वितीय स्थान प्राप्त कर चुकी है।

जिस भगत या स्वाँग-पद्धति का वर्णन ऊपर किया गया है

वह प्रबंध काव्य के अंतर्गत महानाटक श्रेणी में आती है। 'स्वाँग' शब्द का अर्थ अभिनय भी होता है। ब्रज में इसका प्रदर्शन लोग विविध रूप धारण कर होली के अवसर पर करते हैं। मंदिरों में तो 'शयन' के दर्शनों के समय आकर्षक वेश धारण कर अब भी गान और नृत्य होता है। पहले नगर में स्वाँगों की धूम मच जाती थी। समाज की बुराइयों, सरकार की अनीतियों आदि पर लोग मनोरंजक दृश्य बना कर निकलते थे। किंतु इस नई सभ्यता के युग में ये स्वाँग समाप्तप्राय हो गए हैं।

रास और स्वाँग ब्रज की अमूल्य नाट्य-निधियाँ हैं, जो यहाँ की जनता के हृदय में घर किए हुए हैं। इनका संबंध ग्रामजीवन और नागरिक जीवन दोनों से है। भगवान् कृष्ण ने अपने रास द्वारा ब्रज के स्त्री-पुरुषों के हृदयों में नृत्य की उमंगें-तरंगें भर दी हैं। वे यहाँ के जानपद जीवन को झंकृत किए हुए हैं।

उक्त नृत्य विशेष कर विवाहादि अवसरों पर, फसल पक जाने पर तथा मेलों के अवसर पर देखे जा सकते हैं। विवाह और मेलों के अवसर पर भीड़भाड़ अधिक होने के कारण नृत्य उतने रोचक नहीं होते जितने कि फसल पकने के समय के होते हैं। उस समय किसान का हृदय अपनी लक्ष्मी को घर में आता देखकर आनंद-विभोर हो उठता है और उसके पैर आप ही आप थिरकने लगते हैं। ब्रज में दो फसलें होती हैं—एक क्वार के महीने में और दूसरी होली के लगभग पकनी आरम्भ होती है। उसी समय विशेष अवसरों पर इन नृत्यों का समारोह होता है। विविध स्थानों पर उनका रूप विविध प्रकार का होता है। इनमें से कुछ का परिचय यहाँ दिया जाता है—

चरकला

चरकला नामक लोकनृत्य मथुरा के ऊमरी, नगरी और रामपुर गाँवों में विशेष रूप से प्रदर्शित किया जाता है। चरकला (या चरखुला) काठ की बनी हुई एक विशेष वस्तु होती है, जिसमें

नीचे एक तँबेहड़ी लगी रहती है। उसके बगल में नीचे-ऊपर गोलाकृति पंखुरियाँ बनी होती हैं, जिन पर तेल से भरे दीपक रखे जाते हैं। कुल अड़तीस दीपक जलाए जाते हैं। इस चरकले को एक स्त्री सिर पर रखती है और दोनों हाथों पर जल से भरा हुआ एक-एक लोटा रखती है। इन लोटों पर भी दीपक जला दिए जाते हैं। तब वह नृत्य करती है। उसका देवर लगने वाला गाँव का एक व्यक्ति उसके आगे नाच-नाच कर ताल देता है और नर्तकी को प्रोत्साहित करता है। नृत्य की यह खूबी रहती है कि दीपक बुझने नहीं पाते। इस नृत्य में गाँव की बहुएँ ही भाग लेती हैं, कन्याएँ नहीं। उक्त गांवों के वृद्धों का कहना है कि पहले चरकला बजनदार बनाए जाते थे और नीचे की तँबेहड़ी को रेत से भर दिया जाता था। उसे सिर पर रखकर कोई-कोई जाट स्त्री लगातार ४-५ घंटों तक सरपट्टे से नाचती थी।

चरकला का रूप गर्बा से मिलता-जुलता है। इसमें नीचे कलश के स्थान पर तँबेहड़ी होती है। कभी-कभी तँबेहड़ी के ऊपर छोटे कलश होते हैं। कलात्मक ढंग का चरकला बनाने में साँवलिया नामक बढ़ई बहुत सिद्धहस्त था।

चरकला नृत्य चैत्र कृष्ण प्रतिपदा से लेकर पंचमी तक होता है। यह नृत्य रात में होता है। इसके साथ-साथ मृदंग-दमामे आदि बाजे बजते हैं। इन बाजों के बजाने वालों की टोलियाँ ऊमरी, नगरी तथा रामपुर के अतिरिक्त आस-पास के अन्य गाँवों से भी आती हैं। बाजों के निनाद के साथ चरकला नृत्य की शोभा बढ़ जाती है।

ब्रज के प्रसिद्ध नर्तक हीरासिंह का दीपक-नृत्य अपने ढंग का निराला है। वह सिर के ऊपर थाली में दीपक रखकर तथा दोनों हाथों की थालियों में एक-एक दीपक रखकर नाचता है। नृत्य करते समय वह हाथों को इस प्रकार चलाता है कि पूरा चक्कर ले लेने पर भी एक भी दीपक नहीं बुझता। तलवार-नृत्य में वह दो नंगी

तलवारों पर बड़ी अदा से पैरों की ताल देता है। उस समय ऐसा मालूम होता है मानों वह पृथिवी पर ही चरण-प्रहार कर रहा हो। इसी प्रकार सात घड़ों को एक के ऊपर दूसरा रखकर जब हीरासिंह बल खाता हुआ नाचता है तब व्रज के इस लोकगीत की याद आ जाती है—

गोरी धन पानीरा कूँ जाय।
जाकी कमर लपेटा खाय॥
सिर पर घड़ा, घड़े पर गागर,
पतरी कमर बल खाय-खाय जाय॥

ललमनियाँ

चरकला नृत्य की भाँति यह भी एक प्रकार का दीपक-नृत्य है। इसका प्रदर्शन प्रायः विवाह के अवसर पर होता है, जब कि वर पक्ष के लोग जीमने बैठते हैं। पहले इस नृत्य का विशेष प्रचार था, किंतु अब यह बहुत कम देखने को मिलता है। समधी आदि जब विवाह-मंडप के नीचे भोजन करने बैठते हैं तब ऊपर एक स्त्री ललमनियाँ नामक नृत्य करती है। वह दोनों हाथों में आभूषण धारण किए रहती है। दाहिने हाथ की पाँचों अंगुलियों पर पाँच सींकें, जिन पर तेल से भीगी हुई रुई लिपटी रहती है, बाँध दी जाती हैं और जला दी जाती हैं। ये बत्तियाँ बहुत धीरे-धीरे जलती हैं। यह नृत्य समधियों के सम्मुख होता है, इसीलिए स्त्री का मुख ढका रहता है। पहले वह समधी की आरती उतारने का अभिनय करती है। फिर बाएँ हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ की कोहनी को रखकर बत्ती वाले हाथ को घुमाया जाता है, जिससे आधे अंग का संचालन होता है। तत्पश्चात् हाथ में एक पायजेब लेकर उसे बाएँ हाथ की हथेली पर मार-मार कर पैरों के घुँघुरुओं की ध्वनि उत्पन्न की जाती है। फिर पायजेब और ढोलक की ताल पर नृत्त (अभिनय विशेष) आरंभ होता है। साथ ही निम्नलिखित लोकगीत चलता रहता है—

देखु लालमनियां, नजर को मारो मरि-मरि जाइगो,
तेरी कमाई को खाइगो ।

गीत की समाप्ति पर हाथ की पायजेब रख दी जाती है। फिर केवल अँगुलियों और हाथ की मुद्राओं द्वारा ही नृत्त प्रदर्शित होता है। इसमें अन्य स्त्रियाँ यह गीत गाती हैं—

पूआ खाइगी के पापरी, मेरी खेलेगी भवानी ।

यह इस नृत्य का अन्तिम गीत होता है।

चाँचर

यह भी होली का एक नृत्य है, जिसका प्रदर्शन गिरि गोवर्धन की तलहटी पर स्थित जतीपुरा गावँ में होता है। अष्टछाप आदि भक्त कवियों की रचना में 'चाँचर खेलने' का उल्लेख आया है। इससे प्रतीत होता है कि चाँचर कोई खेल है। किंतु जिन लोगों ने चाँचर देखा है वे बता सकते हैं कि चाँचर में एक बहुत बड़ा भाग नृत्य का होता है। अतः इसको खेल न कहकर नृत्य ही कहना उपयुक्त होगा।

होली के दूसरे दिन प्रातःकाल कुछ ब्रजवनिताएँ सुंदर वस्त्रों से सुसज्जित होकर होली का निमंत्रण दे आती हैं। संध्या समय सभी स्त्री-पुरुष एक मैदान में इकट्ठे होते हैं जहाँ ढप आदि बाजे बजते हैं। एक ओर पुरुष और दूसरी ओर स्त्रियाँ खड़ी हो जाती हैं। स्त्रियाँ पुरुषों पर प्रहार करती हैं, पुरुष उसे रोकते हैं। इस प्रकार यह खेल थोड़ी देर तक चलता है। फिर सब लोग इकट्ठे होकर 'मुखारविंद' पर आते हैं और स्त्री-पुरुष, जिनमें पति-पत्नी अथवा देवर-भाभी होते हैं, जोड़े बना-बना कर नाचते हैं। बगल में ढप, नगाड़े आदि बाजे बजते हैं तथा रसिया गाए जाते हैं।

झूला-नृत्य

यह प्राचीन होलिका-नृत्य है। राधाकुंड के समीप पुखरई

गाँव में चैत्र कृष्णा २ की रात को यह नृत्य होता है। लोहे के एक गोल पहिए के चारों ओर दीपक जलाए जाते हैं । उसमें नीचे की ओर फुँदने लगे रहते हैं तथा मध्य में सात घड़े, जो क्रमानुसार छोटे होते जाते हैं, रखे जाते हैं। इसे 'झूला' कहते हैं । ये नाचने वाली स्त्री के सिर पर रख दिए जाते हैं और नृत्य आरंभ होता है । इस नृत्य के साथ कोई वाद्य नहीं बजता, फिर भी यह इतना सुंदर होता है कि दर्शक मंत्रमुग्ध-से खड़े रहते हैं।

नरसिंह नृत्य

भारतीय लोक-नाट्य में 'कठपुतली' का तमाशा अपना विशेष स्थान रखता है। नरसिंह चतुर्दशी को होने वाली 'नरसिंह-लीला' उसी का विकसित रूप कही जा सकती है। किंतु इसमें नाटक के स्थान पर नृत्य ही अधिक होता है । इसलिए इसे 'नरसिंह-नृत्य' कहना समुचित होगा। ब्रज में इसे 'नरसिंह कौ नाच' नाम से संबोधित करते हैं । यह मूक नृत्य है तथा मुख पर विशेष चेहरा लगा कर किया जाता है ।

यह नृत्य मध्य रात्रि से आरंभ होता है । पहले गणेशजी, फिर महादेव, फिर वराह भगवान् और फिर ताड़का का नृत्य होता है। तदनंतर पौराणिक कथा 'नृसिंहावतार' के आधार पर नृत्य होता है। इसमें हिरण्यकश्यप का नृत्य होता है। कभी चेहरा लगा कर तथा कभी राजा के रूप में सजकर वह नाचता है। इसके पश्चात् प्रहलाद अपने शिक्षक संडामर्कट के सहित आते हैं । ये 'पंडितजी' अपनी अटपटी पोशाक में बेत हाथ में लिए प्रवेश करते हैं। वे लड़कों के लिए विशेष मनोरंजन की वस्तु होते हैं । इन्हें इस नृत्य का विदूषक कहा जाए तो युक्तिसंगत होगा। वे अपनी पुरानी लकड़ी को हिलाकर लड़कों को पढ़ने का आदेश देते हैं । लड़के उन सभी कार्यों का तथा शब्दों का खुलकर प्रयोग करते हैं, जिन्हें आज-कल के उद्दण्ड विद्यार्थी प्रायः सभी स्थानों पर प्रयोग करते देखे जाते हैं।

पुरुष चूड़ीदार पाजामा, अचकन तथा पगड़ी पहन कर कमर में एक पटुका लपेट लेता है। ढाँड़िन लहँगा, ओढ़नी और चोली पहनती है।

जन्मोत्सव में ये लोग पहले भाँड़ों की तरह नकल करते हुए कहते है—"अहो नंदजी के लाला भयौ।" तत्पश्चात् नृत्य करते हैं और गाते हैं। यही नृत्य ढाँड़ा-ढाँड़ी का नृत्य कहलाता है।

द्वारकाधीश मंदिर में यह नृत्य पहले बहुत हुआ करता था और नंदोत्सव कहलाता था। बधाई देने वाले ढाँड़े-ढाँड़िनों को मंदिर की ओर से पारितोषिक दिया जाता था।

अध्याय ३

ब्रज में भाषा का विकास

[१]

ब्रज मंडल की स्थिति उस मंहत्वपूर्ण 'मध्यदेश' में है जो सदैव भारतीय संस्कृति और भाषा का केन्द्र रहा। यहाँ की भाषा समस्त भारत पर छाई रही है। प्राचीन साहित्य में यहाँ की समृद्धि और उत्कर्ष के गौरवपूर्ण उल्लेख मिलते हैं। मध्ययुग में इस प्रदेश की सरस भाषा प्रायः समस्त उत्तरी भारत के भावोद्गारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस तथ्य को यों कहा है[१]—"मध्य युग के उत्तर भारत के साहित्यिक इतिहास में ब्रजभाषा का स्थान सबको विदित है। ऐसा जॅचता है कि अपनी बेटी ब्रजभाषा में शौरसेनी अपभ्रंश को नवीन कलेवर मिला, नये आयुकाल को उसने प्राप्त कर लिया। उत्तर बंगाल से लेकर महाराष्ट्र और पश्चिम पंजाब तक ब्रजभाषा कविता, संगीत और राधाकृष्ण-विषयक वैष्णव शास्त्र-ग्रन्थों की भाषा बनी। बंगाल के कवियों की लिखी ब्रजभाषा-कविता मिली है, जैसे शौरसेनी अपभ्रंश की। कवि भूषण ने अपनी ओजमयी ब्रजभाषा में महाराष्ट्र कुलभूषण हिंदू-तिलक श्री शिवराज की प्रशस्ति लिखी।···मराठे 'पोवाड़ा' या युद्धगीत के लेखक लोग भी कभी-कभी ब्रजभाषा······का व्यवहार करते थे। सिक्ख गुरुओं के धर्मोपदेश की भाषा तो अपने मूल में ब्रज और खड़ी बोली ही है।······तुर्क और पठान सुल्तानों के राज्यकाल में दिल्ली में और उसके बाद अकबर बादशाह के समय में आगरे में जब मुगल सल्तनत की राजधानी

---

१. पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ८०।

प्रतिष्ठित हुई और आखिर जब दिल्ली फिर पायतख्त बनी, तब ब्रज-भाषा और दिल्ली की खड़ी बोली, हिंदी के ये दो रूप उत्तर भारत में फिर प्रतिष्ठित हुए......।" ब्रजभाषा के इस अखिल उत्तर भारत व्यापी प्रभाव का कारण ऐतिहासिक है। ब्रजभाषा एक प्राचीन भाषा-परंपरा की कड़ी है, उसे उस परंपरा का उत्तराधिकार मिला है। इस प्रदेश की इस भाषा-परंपरा को संक्षेप में देख लेना आवश्यक है।

प्राचीन युग

भारत की सबसे प्राचीन भाषा का रूप हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। वैदिक साहित्य का सम्पादन और नियोजन महर्षि वेदव्यास ने मध्यदेश में ही किया।[1] यहीं उक्त महर्षि ने पुराणों का संग्रथन किया। यहीं भगवान् कृष्ण के उपदेशों का प्रचार हुआ। इस प्रकार आर्य तथा अनार्य संस्कृतियों के मिश्रण के सूत्र इस प्रदेश में व्यवस्थित हुए। इस समन्वित संस्कृति का वहन संस्कृत भाषा ने किया। किंतु इस संस्कृत तक पहुँचने में भी भाषागत इतिहास की कई स्थितियाँ आती हैं।

आर्यों की एक नहीं, अनेक शाखाएँ (गोत्र) भारत में आईं और अपने साथ भाषागत अनेक बिशिष्टताएँ लाईं।[2] अतः कुछ भाषागत पार्थक्य स्वाभाविक था। फिर आर्यों के आगमन के समय भारत जनशून्य नहीं था। यहाँ पर कई अनार्य जातियाँ पहले से निवसित थीं। उनसे सम्पर्क हुआ, संघर्ष भी हुआ। अन्त में समन्वय भी हुआ। इसका परिणाम भी भाषा के गठन और रूप में परिवर्तन और पार्थक्य हुआ। भाषा की विभिन्नता और विभेद का एक और कारण डा० ग्रियर्सन बताते हैं।[3] वेदों के मंत्र और ऋचाएँ विभिन्न समयों और विभिन्न स्थलों पर बने। उनमें से कुछ गन्धार में, कुछ आधुनिक अफगानिस्तान में तथा कुछ सरस्वती और यमुना के किनारों

---

१. पो० अ० ग्र०, पृ० ७७।

२. राजस्थानी भाषा, पृ० ४२।

३. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, जिल्द १, अ० ११, पृ० ११५।

पर बने। हर्टेल का भी मत था कि अनेक वैदिक ऋचाओं की रचना फारस में उस समय हो गई थी जब तक आर्य जाति का भारत में पदार्पण भी नहीं हुआ था।[१] अनेक कारणों से उत्पन्न हुए अन्तर आगे के साहित्य में अधिक स्पष्ट होते गए। संस्कृत तथा छन्दस् में जो अन्तर स्पष्ट हुए उनसे कुछ विद्वानों ने यह धारणा बनाई कि मध्यदेशीय परिष्कृत संस्कृत का मूल स्रोत छन्दस् नहीं है। किंतु जब यह स्पष्ट है कि जातीय मिश्रण, प्रचलित बोलियों का प्रभाव तथा स्थलों और समयों की भिन्नता भाषागत, ध्वन्यात्मक, व्याकरणगत अन्तरों के लिए उत्तरदायी हैं, तो इस अन्तर के आधार पर किसी भाषा का मूल स्रोत ही अलग ठहराना उचित नहीं है। इस प्रकार की विभिन्नताओं का एक चित्र देकर ए० एच० कीन निष्कर्ष निकालते हैं—"इस चार्ट से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषाओं के बीच कितना अंतर विद्यमान है। यह अंतर सभी परिवार की भाषाओं के बीच इतना नहीं है। इस अंतर का मुख्य कारण यह है कि आर्य भाषाएँ अनार्य जातियों में भी फैली। अनार्य जातियों के प्रभाव से आर्य भाषा, ध्वनियाँ तथा व्याकरण भी मुक्त न रह सके।"[२] बूलनर उन बोलियों तथा भाषाओं को भी इस युग की भाषाओं में सम्मिलित करते हैं जिनसे महाकाव्यों की भाषा, पतंजलि तथा पाणिनि की संस्कृत निकली हैं। इस प्रकार समस्त भारतीय आर्य भाषाओं का उद्गम छन्दस् को ही मानना उचित दीखता है। अथवा छन्दस् साहित्यिक रूप की आधारभूत अथवा उस काल में प्रचलित भाषाएँ उद्गम रही होंगी।

ऋग्वेद में तीन बोलियों का रूप दीखता है[४]—पहली पश्चिम पंजाब

---

१. Das Btahman in Indogermanische Forschunagen, XLI, p. 188.

२. एथ्नोलॉजी, पृ० ४१२।

३. इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत, पृ० ४१२।

४. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, राजस्थानी भाषा, पृ० ४२।

की आर्य बोली (जो ईरान के पड़ोस की बोली थी)। इसी बोली के आधार पर ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा 'छान्दस्' बनी। दूसरी कोई ऐसी बोली जो ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना के समय मध्यदेश में स्थापित हुई। तीसरी वह बोली जो वैदिक क्षेत्र के पूर्व की ओर प्रचलित थी। यजुर्वेद और अथर्ववेद के समय में आर्य लोग मध्यभारत की ओर आए। ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना के समय संभवतः वे 'दक्षिण-पर्वत' (विंध्यगिरि) से परिचित हो गए।[1] ब्राह्मण ग्रंथों के उल्लेख से पता चलता है कि उत्तर भारत में आर्यावर्त का विस्तार गंधार से लेकर विदेह तक हुआ। इसकी भाषा को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता था—उदीच्य, मध्यदेशीय तथा प्राच्य। एक प्रकार से ऋग्वेद में मिलने वाली तीनों बोलियों का ही यह विकास था। अंतर पहले से अधिक स्पष्ट हो गया। इस मध्यदेशीय भाषा के क्षेत्र में ही शूरसेन प्रदेश (मथुरा मंडल) आता है। अतः शूरसेन क्षेत्र की भाषा-परंपरा का आरंभ ऋग्वेद की दूसरी बोली तथा ब्राह्मण-ग्रंथों में उल्लिखित मध्यदेशीय भाषा से हुआ। संभवतः मथुरा प्रदेश में होकर ही मध्यदेशीय भाषा राजस्थान तथा मालवा में फैली। बौद्ध साहित्य में सोलह महाजनपदों का उल्लेख मिलता है। इनमें से नौ मध्यदेश में थे। इनमें शूरसेन जनपद भी प्रमुख था। भाषा और संस्कृति की दृष्टि से मनुस्मृतिकार ने चार जनपदों को मिला दिया तथा इस मिलित प्रदेश को 'ब्रह्मर्षि' नाम दिया। ये चार जनपद कुरु, पांचाल, मत्स्य तथा शूरसेन हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भाषा की दृष्टि से इन चारों जनपदों का घनिष्ठ संबंध रहा। कालांतर में इसी जनपद की भाषा और संस्कृति अन्य जनपदों को अत्यधिक प्रभावित करने लगी। शूरसेन जनपद एक प्रकार से मध्यदेशीय संस्कृति और भाषा का प्रतिनिधित्व करने लगा।

---

१. वही, पृ० ४३।

२. कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥ (मनु०, २,१९)

वैदिक साहित्य में चार संहिताएँ मुख्य रूप से आती हैं। इन चारों संहिताओं की भाषाओं में उक्त कारणों से कुछ अन्तर उपस्थित हो गया है, फिर भी इनकी भाषा आन्तरिक दृष्टि से एक ही है। यद्यपि अथर्ववेद की भाषा ऋग्वेदीय भाषा की अपेक्षा कम प्राचीन है, फिर भी उसे छान्दस् के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। 'छान्दस्' एक सजीव भाषा थी। यह उस समय में जीवित भाषाओं के समान लचीली और परिवर्तनशील थी। संधि के कृत्रिम और सुनिश्चित नियम छान्दस् में प्रचलित नहीं थे। उसमें एक पूर्ण उच्चारण-व्यवस्था थी। ध्वनि का उतार-चढ़ाव था। ध्वनि परिवर्तन भी होता था[1]। कुछ स्थानों पर 'स्कंभन' शब्द मिलता है। आगे इसका विकसित रूप केवल 'कम्भन' भी मिलता है। कई स्थलों पर 'श्चन्द्र' के स्थान पर केवल 'चन्द्र' ही मिलता है।

आगे एक समय ऐसा अवश्य आया कि छान्दस् एक सुस्थिर तथा अपरिवर्तनीय भाषा बन गई। मत्र दैवी प्रतीक बन गए। इन ध्वन्यात्मक प्रतीकों के रूप में परिवर्तन करना अमंगलकारी समझा जाने लगा। वे जिस रूप में थे उसी रूप में पवित्र और इच्छित फल-प्रदाता समझे गए। इस प्रकार समय तो बदलता रहा, किंतु भाषा किसी परिवर्तन को स्वीकार नहीं करती थी। यह सुस्थिर भाषा जन-जन के दैनिक कार्यों में प्रयुक्त होने वाली भाषा नहीं रह गई। ऐसी अवस्था में प्रदेशीय बोलियाँ जनभाषा के रूप में पनपती हैं। कोई भी जन-वर्ग प्रस्तरीभूत भाषा को जनभाषा नहीं रख सकता।

हम छान्दस् के समय में जनता के द्वारा बोली जाने वाली भाषा के रूप और गठन के संबंध में अनभिज्ञ हैं। उस भाषा का रूप समझने के लिए आज हमारे पास उदाहरण नहीं हैं, क्योंकि उसका लिखित रूप उपलब्ध नहीं है। पाणिनि और अन्य वैयाकरणों ने जिस भाषा के नियम निर्धारित किए वह अवश्य 'लौकिक' भाषा

---

१. 'वैदिक ग्रामर' (मैकडानल रचित) में इसके अनेक उदाहरण हैं।

के नाम से पुकारी जाती थी । छंदस् तो दैवी ध्वनि-प्रतीकों की भाषा बन गई थी । हो सकता है कि लोक-प्रचलित भाषा को उससे भिन्न स्तर पर रखने के लिए 'लौकिक' शब्द प्रयुक्त हुआ हो ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा भी इस दृष्टि से लौकिक ही ठहरती है । निश्चित रूप से यह तो नहीं कहा जा सकता कि 'लौकिक' शब्द का किस समय प्रयोग हुआ; पर यह तो निश्चय है कि लौकिक कही जाने वाली भाषा का सबसे प्राचीन लिखित रूप हमें ब्राह्मणों में ही मिलता है । यह भी अनिश्चित है कि लौकिक के स्थान पर 'प्राकृत' शब्द कब आया । किंतु एक बात अवश्य है कि पाणिनि के व्याकरण-नियम एक सुनिश्चित स्तरवाली संस्कृत भाषा के नियम हैं । इतना भी समझा जा सकता है कि जिस भाषा को एक समय मे लौकिक भाषा कहा जाता था वह प्राकृत कही जाने वाली भाषा से सबधित अवश्य रही होगी ।

पाणिनि और पतंजलि ने लोक-प्रचलित भाषाओं के विरोध में अनेक बातें कही हैं । अतः कुछ अन्य प्रादेशिक बोलियाँ अवश्य रही होंगी । जिनको लक्ष्य करके इन्होंने ऐसी बातें कहीं । इस समय में देशी शब्द बहुत आ गए थे और शुद्ध वैदिक शब्द बहुत कम रह गए थे । इन भाषाओं के पारस्परिक विकास-संबंध के विषय में विद्वानों का एक मत यह है कि 'क्लासीकल' संस्कृत वैदिक भाषा से विकसित हुई और प्राकृत भाषाएँ सस्कृत के विकसित या बिगड़े हुए रूप है । साथ ही यह निष्कर्ष भी निकाला जाता है कि वैदिक साहित्यिक भाषा अनेक प्रादेशिक प्राकृत भाषाओं से संबंधित थी । क्लासीकल संस्कृत एक कृत्रिम भाषा के रूप में प्रकट हुई । पहले तो इस 'लौकिक' संस्कृत को वैदिक (दैवी) से संबंधित रखा गया । कालांतर में यह लौकिक संस्कृत वैदिक के साथ नहीं चल सकी और समय की प्रगति के साथ यह प्राकृतों पर आधारित होने लगी ।[1]

---

१. हिस्ट्री आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० १८७ ।

वैदिक संस्कृत तथा क्लासीकल संस्कृत ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से एक ही स्थिति में दीखती हैं।[1] शब्दों और अक्षरों के ध्वनि-तत्व दोनों में प्रायः समान हैं। कुछ उदाहरण ऐसे हैं (यथा सध...सह; गृभ...गृह) जिनमें व्यंजनत्व का लोप हो गया है और केवल हकार शेष रह गया है । वैदिक मंत्रों के अनेक शब्द ब्राह्मण-साहित्य में आते-आते लुप्त हो गए हैं । ब्राह्मण साहित्य की भाषा क्लासीकल संस्कृत से अधिक मिलती-जुलती है । अतः पाणिनि के व्याकरण-नियमों का आधार यही भाषा रही होगी । यह भाषा पाणिनि के समय में प्रचलित रही होगो।

ब्राह्मण-साहित्य की भाषा के पश्चात् भाषा का वह युग आता है जिसका प्रतिनिधित्व यास्क का साहित्य करता है । अवैदिक साहित्य में यह सबसे प्राचीन भाषा मानी जाती है। 'निरुक्त' में अनेक अप्रचिलित पुरानी शैली के शब्दों का प्रयोग मिलता है, जैसे 'उपजन' (proximity) उपेक्षितव्य (finding or observing) । कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द मिलते हैं जिनका प्रयोग निरुक्त के पश्चात् के साहित्य में नहीं मिलता ।

यास्क के पश्चात् संस्कृत भाषा में एक विशेष परिवर्तन होने लगता है । यह परिवर्तन शैलीगत है । पुराने युग की सरल, सुबोध, प्रगतिशील तथा क्रिया-बहुल शैली निश्चितता की ओर बढ़ती जाती है । बढ़ते-बढ़ते दार्शनिक साहित्य की शैली उस रूप तक आ जाती है जो आज प्रचलित है । शंकराचार्य का भाष्य दोनों शैलियों के बीच की एक कड़ी है। यहाँ प्राचीन भाष्य-शैली समाप्त होती हुई दीखती है और प्रस्तरीभूत-शैली के बीज जमने लगते हैं । वाक्य अपेक्षाकृत अधिक लंबे होने लगते हैं । शैली का रूप ऐसा हो जाता है जैसे एक निबंध हो या व्याख्यान । पूर्वयुगीन वाद-विवाद वाली शैली समाप्तप्राय होती जाती है । शंकर से पीछे के आचार्य क्रियाओं का प्रयोग न्यून से न्यूनतर करते जाते हैं; लंबे-लंबे संयुक्त रूप प्रयुक्त

१. आर० जी भंडारकर, विल्सन फिलोलाजीकल लेक्चर्स, पृ० २६० ।

होते हैं । विचार संज्ञाओं में प्रकट होते हैं । अधिकांश भाववाचक संज्ञाओं का प्रयोग मिलता है । इस सिद्धान्त-शैली का चरमरूप नैयायिकों के साहित्य में मिलता है ।

किंतु इस सुनिश्चित, अप्रगतिशील शैली का प्रसार दार्शनिक-साहित्य में ही अधिक रहा । साहित्य की अन्य दिशाओं में यह इस सीमा तक नहीं पहुँची । यथार्थ क्लासीकल संस्कृत तो वह है जो महाकाव्यों, पुराणों, छंद-शास्त्रों, काव्य-उदाहरणों तथा नाटकों में प्रयुक्त हुई है । इस शैली के रूप संस्कृत की क्रियाओं से ही अधि-कांश में उत्पन्न हुए हैं । किंतु आगे के साहित्य में यह शैली भी रूढ़ होती जाती है । कुछ विद्वान् इसका कारण प्राकृतों का प्रभाव बताते हैं । किंतु यह प्रगति भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अत्यंत स्वाभाविक है । इस विकास-क्रम के लिए प्राकृत-प्रभाव को उत्तरदायी ठहराना ठीक नहीं है । प्राकृतों के स्रोत से शब्द तो आ सकते हैं, किन्तु व्याकरण इतना प्रभावित नही हो सकता । इस प्रकार संस्कृत के बिकास की तीन स्थितियाँ मध्यदेश की भाषा-परंपरा में सम्मिलित की जाती हैं—१. वैदिक युग(संहिता साहित्य, ब्राहमण युग) २. वैदिक भाषा की अंतिम स्थिति जो पाणिनि की भाषा बनती है; ३. क्लासीकल संस्कृत युग (महाकाव्य, काव्य, नाटक, स्मृतियाँ) । मध्यदेश की प्राकृत-पूर्व भाषा-परम्परा का संक्षेप में यही इतिहास है । इस साहित्य में से कुछ शूरसेन जनपद की भी उपज था । पर यहाँ तक मध्यदेश की भाषा-परम्परा को शूरसेन-प्रदेश से सम्बन्धित करके विशेष रूप से नहीं दिखाया जा सकता ।

[२]

प्राकृत युग

जब संस्कृत भाषा का स्वरूप वैयाकरणों ने स्थिर,सुनिश्चित तथा अपरिवर्तनीय कर दिया तब भाषा-विकास की स्थिति उत्पन्न हुई । ई० पू० छठी शताब्दी से लेकर ईसा की दसवीं शती तक का

यह समय है। इसे डा० ग्रियर्सन ने द्वितीय श्रेणी की प्राकृत (Secondary Prakrits) का युग कहा है।[1] डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस काल की भाषाओं को Middle Indo-Aryan Speech कहा है। इस काल को उन्होंने तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है–

१. प्राकृतों की आरंभिक अवस्था—४०० ई० पूर्व से १०० ई० तक।

२. मध्यकालीन अवस्था (प्राकृतों का काल)–१०० ई० से ५०० ई० तक।

३. उत्तरकालीन अवस्था (अपभ्रंश काल)–५०० ई० से १००० ई० तक।

प्रारंभिक अवस्था के परिवर्तनों को संक्षेप में यों दिया जा सकता है—

१. द्विवचन और आत्मनेपद का ह्रास।

२. षष्ठी और चतुर्थी का एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग।

३. सर्वनाम के परप्रत्ययों का संज्ञा के परप्रत्ययों के लिए प्रयोग।

४. क्रिया के लकारों में लुट्, लङ्, लिट् और लृङ् के रूपों का लोप।

५. विधिलिङ् और आशीर्लिङ् का प्रायः एकीकरण।

६. क्रियारूपों और संज्ञारूपों की बहुलता में कमी।

७. ऐ, औ, ऋ और लृ स्वरों का लोप।

८. ह्रस्व ए और ओ का आविर्भाव।

९. विसर्ग का अभाव, व्यंजनों का समीकरण, संयुक्त व्यंजनों का वहिष्कार और अनेक स्वरों का साथ-साथ प्रयोग होना आदि।[2]

इस प्रारंभिक अवस्था से संबंधित भाषाओं के रूप जहाँ उपलब्ध होते हैं वह पालि और अशोक के शिलालेखों की प्राकृत है। पालि के

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया (१९२७), पृ० १२१।

२. डा० बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृ० २६१।

विकास में विद्वानों ने संस्कृत की अपेक्षा वैदिक भाषा और प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल की बोलियों का अधिक प्रभाव माना है।[1]

मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाकाल की मध्यकालीन अवस्था में परिवर्तन और भी द्रुत हो गया। इस काल की भाषाओं की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

१. संयुक्त व्यंजनों में केवल आनुनासिक और उस वर्ण का स्पर्शवर्ण दिखाई देते हैं : म्ह, ण्ह और ल्ह ।

२. दो स्वरों के बीच के स्पर्शवर्ण का लोप । काक:= काओ; पूय.=पूओ ।

३. विभक्तियों में चतुर्थी विभक्ति का पूर्णरूपेण लोप ।

४. पंचमी का प्रयोग अत्यन्त न्यून ।

५. क्रियारूपों की जटिलता हटाने का क्रम और द्रुत ।

६. क्रियाओं और संज्ञाओं के पश्चात् परसर्गों का भी प्रयोग ।

इस प्रकार पाणिनि की शुद्ध, परिष्कृत भाषा सामान्य जन-भाषा से पृथक् हो गई । प्राकृतों का इस युग में विकास हुआ । 'प्राकृत' शब्द ही स्वयं जन-भाषा-रूप का द्योतक है । इस संबंध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के मत संक्षेप में नीचे दिए जा रहे हैं ।

मुख्यत: सात प्राकृत मानी जाती है[2]—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी तथा अपभ्रंश । किंतु इनमें 'पालि' का उल्लेख नहीं है । पालि प्राकृतों की आरंभिक स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है । पालि को कुछ विद्वान् आरंभिक मागधी प्राकृत मानते हैं । बुद्धघोष ने इसे 'मगध बोहार' नाम से संबोधित किया है ।[3] एक मत यह भी है कि पालि नाम सिंहलियों द्वारा दिया हुआ है ।[4] इसका संबंध 'पल्ली' से भी जोड़ा जाता है ।

---

१. वही, पृ० २६३ ।

२. वुलनर, इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत, पृ० ४ ।

३. विजयचन्द्र मजूमदार, हिस्ट्री आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० १९३ ।

४. वही, पृ० १९३ ।

पल्ली का अर्थ है ग्राम और 'पालि' का अर्थ ग्राम-भाषा। कुछ इसे प्राकृत नाम से ही पुकारते हैं। 'छन्दस्' के समय में अनेक 'प्राकृत' अथवा प्रादेशिक भाषाएँ प्रचलित थीं। उनसे पालि संबंधित थी। 'छन्दस्' से पालि का संबंध दीखता है।

भंडारकर का मत है कि पालि मध्य-संस्कृत का प्रतिनिधित्व करती है, जिसका समय 'ब्राह्मणों' की रचना तथा यास्क-पाणिनि युग के बीच ठहरता है।[1] वी० फॉसबॉल ने 'सुत्तनिपात' की भूमिका में लिखा है—वैदिक भाषा के जो भव्य रूप पालि में प्राप्त होते हैं वे क्लासीकल संस्कृत में भी प्राप्त नहीं होते[2]। अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि पालि और प्राचीन मागधी प्राकृत एक ही बोली है। इस संबंध में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का मत ही अधिक वैज्ञानिक दीखता है—"पाली दर-असल मध्यदेश की ही भाषा का साहित्यिक रूप है, मगध की बोली के आधार पर पाली नहीं बनी।..... कलिंग-राज खारवेल ने जिस भाषा में अपने लेख को लिखवाया था वह सचमुच मथुरा प्रान्त से आए हुए अपने जैन-गुरु या शिक्षकों की निजी शौरसेनी थी। खारवेल की यह भाषा पाली से खूब मिलती-जुलती है। इसके अतिरिक्त अश्वघोष ने अपने नाटकों में पुरानी शौरसेनी या मध्यदेशीय प्राकृत का प्रयोग किया[3]।"

मध्यकालीन भाषाकाल में अनेक प्रादेशिक भाषाएँ अस्तित्व ग्रहण करने लगीं। मध्यदेश में भी कई प्राकृतों का विकास हुआ, किंतु मध्यदेश की प्राकृतों पर संस्कृत का प्रभाव अधिक रहा। अन्य प्राकृतों पर यह प्रभाव कम होता गया।

'प्राकृत' शब्द प्रकृति से व्युत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि ये भाषाएँ उस मूल भाषा से उत्पन्न हुईं जिसमें

---

१. कलक्टेड वर्क्स आफ आर० जी० भंडारकर, जिल्द ४, पृ० ३१२।

२. सै० बु० ई०, जिल्द ६।

३. राजस्थानी भाषा, पृ० ४५।

किसी प्रकार का संस्कार या विकार उत्पन्न नहीं हुआ था । सांख्य में प्राकृत का यही अर्थ है—वह जो प्रकृति से उत्पन्न हुआ मौलिक तत्व हो । किंतु रूढ़ परंपराओं में प्राकृत का एक और भी अर्थ होता रहा—स्वाभाविक, साधारण, अपरिमार्जित, प्रादेशिक । यह शब्द पहले-पहल साधारण बोलचाल की भाषा के लिए भी प्रयुक्त हुआ हो सकता है, जो परिष्कृत संस्कृत से भिन्न समझी जाती थी । अब प्राकृत के वैयाकरणों का प्राकृत की उत्पत्ति के संबंध में मत देखना समीचीन होगा ।

प्राकृत के प्रायः सभी वैयाकरण–हेमचंद्र,[1] मार्कण्डेय[2] आदि प्राकृत को संस्कृत से ही विकसित मानते हैं । षड्भाषाचंद्रिकाकार[3] ने भी यह मत स्वीकृत किया है । 'प्राकृतचंद्रिका'[4] भी यही बात कहती है । 'प्राकृत संजीवनी'-कार का कथन है कि समस्त प्राकृतों का जन्म संस्कृत से हुआ[5] । वैयाकरण जब एकमत होकर यह घोषित करते है तो काव्यशास्त्र के व्याख्याता भी इस मत का पोषण किए बिना नहीं रह सकते ।[6] किंतु कुछ विद्वान् इस मत को अस्वीकृत भी करते हैं । ८वीं शती के वाक्पतिराज का कथन है—समस्त भाषाएँ तथा बोलियाँ प्राकृत में ही प्रविष्ट होती हैं और उसी से निर्गत होती हैं, जैसे समस्त जल समुद्र में ही गिरता और वही से निकलता है ।[7] ११वी शती के एक जैन-विद्वान् नमिसाधु रुद्रट के 'काव्यालंकार'

१. सिद्ध हेमचन्द्र, ८।१।१—प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत् आगतं वा प्राकृतम् ।
२. मार्कण्डेय, प्राकृत सर्वस्व, पृ० १—प्रकृतिः संस्कृतम् तत् भवं प्राकृत-मुच्यते ।
३. प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता ।
४. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम् । पीटरसन की थर्ड रिपोर्ट, ३४३–७ ।
५. प्रकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः । वासुदेव, कर्पूरमञ्जरी पर टीका, ९।११ ।
६. प्रकृतेरागतं प्राकृतं प्रकृतिः संस्कृतम्, दशरूपक, २,६४ ।
७. गौडवहो, सपा० एस० पी० पंडित, इन्ट्रोडक्सन, पृ० १०० ।

की टीका करते समय लिखते हैं—प्राकृत भाषा का स्वाभाविक प्रयोग है। उसका प्रयोग संसार के सभी प्राणी करते हैं। यह व्याकरण आदि के द्वारा परिष्कृत नहीं हुई है। यह भाषा स्वयं प्रकृति से निकली है, अतः प्राकृत कहलाती है।[1] प्राकृत का अर्थ यह विद्वान् 'आदि उत्पन्न' भी मानता है (प्राक्–कृत)। यह भाषा सभी बच्चे और स्त्रियों द्वारा समझी जा सकती है। साथ ही यह समस्त भाषाओं का मूल स्रोत है। यही आदि भाषा संसार के सभी देशों में वितरित की गई। धीरे-धीरे इसी भाषा को परिष्कृत किया गया। यही आगे चलकर संस्कृत बनी। काव्य के क्षेत्र में यह मत इतना मान्य हुआ कि जो हेमचन्द्र व्याकरण के क्षेत्र में प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से बताता है वही हेमचन्द्र 'काव्यानुशासन' में कुछ और ही बात कहता है—प्राकृत अकृत्रिम है, मधुर शब्दावली में युक्त है। वही समस्त भाषाओं में परिणत हुई है[2]। इन दोनों ग्रन्थों के पश्चात् हेमचन्द्र ने 'देशी नाममाला' ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ एक प्रकार से भाषा से ही संबंध रखता है। इसमें भी हेमचन्द्र दूसरे मत की ही पुष्टि करता है। आरम्भिक श्लोक में वह जैन-भाषा (अर्द्धमागधी) को प्रणाम करता है जो समस्त भाषाओं का आदि-स्रोत है।[3] अर्द्ध-मागधी अन्य भाषाओं में भी विकसित हुई, इसकी पुष्टि में देशी नाममाला के द्वितीय श्लोक में हेमचन्द्र लिखता है—जिन-भाषा देवों की देवी, मानवों की मानवी, शवरों की शबरी है तथा पशु-पक्षी उसे अपनी भाषा मानते है।

---

१. वाग्भटालंकार, २।१२।

२. अकृत्रिमस्वादुपदां परमार्थाभिधायिनीम्।
सर्वभाषापरिणतां जैनीं वाचमुपास्महे॥

काव्यानुशासन, पृ० १, श्लोक १।

३. गमणय पमाणगहिरा सहियथहियग्गंगमरहस्सा।
जयइ जिणिं दाण असे समासपरिणामिणी वाणी।

देशी नाममाला, श्लोक १

काव्य-शास्त्र के टीकाकार और व्याख्याकारों के प्राकृत-संबंधी विचार इस प्रकार समझे जा सकते हैं—

१. समस्त भाषाएँ प्राकृत में प्रविष्ट होती और निकलती हैं।[1]

२. प्राकृत भाषा का स्वाभाविक रूप है। व्याकरण के द्वारा यह 'संस्कृत' नही है, स्वयं प्रकृति से निकली हुई भाषा प्राकृत है।[2]

३. यह सर्व-सुबोध है, स्त्री और बच्चे भी इसे समझ सकते हैं।[3]

४. समस्त भाषाएँ इससे निकली है।[4] विभिन्न देशों में यही भाषा भिन्न रूपें में फैली है। पीछे परिष्कार किया जाने से यही संस्कृत बनी।

५. इस भाषा में मधुर शब्दावली है।[5]

प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति के सबंध में आधुनिक विद्वानों का मत जान लेना भी अनुचित न होगा। आर० काल्डवेल का मत है कि इन प्राकृतों का जन्म द्राविड़ी तथा सिथियन भाषाओं के प्रभाव से हुआ।[6] उनके मत से सस्कृत की शब्दावली का कुछ ही भाग इन अनार्य भाषाओं से लिया गया। इस प्रकार के शब्दों की एक सूची भी उक्त विद्वान् ने दी है।[7] किंतु इन शब्दो का अस्तित्व साहित्यिक द्राविड़ी भाषा में नही मिलता। बीम्स ने इस मत का पूर्ण खंडन किया है। इस मत को वे भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा भाषावैज्ञानिक दृष्टि से निर्मूल बताते हैं। आर्यों के उपनिवेशों और द्राविड़ी भाषाओं के बीच में मुंडा भाषा पड़ती है। फिर आर्य भाषा इन अनार्य भाषाओं के सम्पर्क में आई कब? यदि वैदिक युग में यह सम्पर्क हुआ, तो वैदिक भाषा संश्लिष्टात्मक कैसे रह सकी?

---

१. वाक्पतिराज, गौडवहो, श्लो० ९३।

२. नमिसाधु वाग्भटालंकार, २,१२।

३–४. वही।

५. हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० १, श्लोक ५।

६. कम्परेटिव ग्रामर आफ द्रविडियन लैंग्वेजेज, पृ० ३७।

७. वही, पृ० ४३९–४८।

अतः अनार्य भाषाओं के प्रभाव से प्राकृतों के जन्म का सिद्धान्त खंडित हो जाता है ।[१] आधुनिक आर्य भाषाओं का विश्लेषणात्मक गठन की ओर अग्रसर होना एक भाषावैज्ञानिक विकास-नियम का परिणाम है, किसी बाहरी प्रभाव के कारण ऐसा नहीं हुआ । श्री विजयचन्द्र मजूमदार भी द्राविड़ी प्रभाव वाले सिद्धान्त के पक्ष में हैं ।[२] इसके उत्तर में भी यही बात कही जा सकती है कि वैदिक भाषा में इस प्रभाव का चिह्न क्यों नही मिलता । डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का इस संबंध में मत यह है—द्राविड़ी प्रभाव तो स्पष्ट दीखता है, किंतु प्रत्यय तथा उपसर्गों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्राविड़ी तत्व सीधे उधार नही लिए गए । यह भी नही कहा जा सकता कि आर्य भाषाओं का गठन उनकी शैली पर हुआ ।[३] बीम्स प्राकृतों की उत्पत्ति बोली जाने वाली संस्कृत से मानता है, जो साहित्यिक संस्कृत से पृथक् थी । इस शैली का अनुसरण करते हुए डा० जे० म्योर जर्मन विद्वानों के मत का सारांश इस प्रकार देता है—"लासेन तथा बेनफे के अनुसार संस्कृत (वह भाषा जो पीछे की संस्कृत से कुछ अंगों में पृथक् तथा वैदिक से मिलती-जुलती थी) एक समय में बोली जाने वाली भाषा थी । वेबर के अनुसार यह वह भाषा थी जो 'संस्कृत' के विकसित होने से पूर्व प्रचलित वर्नाक्यूलर थी[४] ।" वेबर के अनुसार इससे आगे के युग में संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं रह गई । उस युग में प्राकृत भाषाएँ बोली जाती थीं, जो प्राचीन आर्य 'वर्नाक्यूलर' से विकसित हुईं ।[५] डा० ग्रियर्सन का भी मत देख लेना युक्तियुक्त होगा—वैदिक तथा संस्कृत 'आदि प्राकृतों' (Primary Prakrits) से विकसित

१. विशेष विवरण, के लिए देखिए कम्परेटिव ग्रामर आफ दि माडर्न इंडियन लैंग्वेजेज् ।

२. हिस्ट्री आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ५८–५९ ।

३. दि ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ दि बंगाली लैंग्वेज, जि० १, पृ० १७३

४. दि ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, जिल्द २, पृ० १४४ ।

५. Indische Literaturgeschichte, page 1.

हुईं । पाणिनि के समय में साहित्यिक रूप में इन प्राकृतों का अस्तित्व समाप्त हो गया । इन्हीं प्राकृतों से आगे की साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ निकलीं, जैसे—पाली, जैन अर्द्धमागधी, अशोक के शिला-लेखों की भाषा । इन भाषाओं की मध्य स्थिति का प्रनिनिधित्व नाटकों की प्राकृत तथा जैन महाराष्ट्री करती हैं। इनकी अन्तिम स्थिति अपभ्रंश के द्वारा प्रकट होती है।[1] इस प्रकार आधुनिक मतों के अनुसार यही निकलता है कि प्राकृत वैदिक या संस्कृत से विकसित नही हुई; संस्कृत तथा प्राकृत दोनों ही आरंभिक प्राकृतों से उत्पन्न हुईं ।

प्राय: सभी प्राकृत अभी संलिष्टात्मक स्थिति में थीं। प्राचीन व्याकरण की जटिलताएँ सरलता की ओर प्रगतिशील थीं । ऋग्वेद में कारक और क्रियाओं के अनेक रूप मिलते हैं, उनमें से अनेक रूप पाणिनि तक आते-आते छूट जाते हैं । अपभ्रंश तक आते-आते व्याकरण बहुत सरल हो गया । इस सरलता के होते हुए भी व्या-करण के मूलरूप में कोई अंतर नही हुआ । महत्वपूर्ण साहित्यिक रचनाएँ भी अभी संस्कृत में होती थीं। अर्द्धमागधी तथा अन्य जैन-बौद्ध प्राकृतें धार्मिक साहित्य की वाहिका होने के कारण जन-साधारण से अलग पड़ गईं थीं; उनका भी साहित्यिक रूप निश्चित होने लगा । यह अवश्य दीखता है कि सभी संस्कृतभाषी साहित्यिक प्राकृतों को समझ लेते थे। शौरसेनी प्राकृत तो संस्कृत से इतनी प्रभावित थी कि उसका बोलने वाला तो सस्कृत शिक्षित हुए बिना ही संस्कृत के अनेक शब्दों और वाक्यों को समझ लेता था । इससे पूर्वकाल में तो यह अंतर और भी कम होगा ।

जब प्राकृतें लोकप्रिय होने लगीं तब उन पर व्याकरण लिखे गए। प्राकृतों के छह मुख्य व्याकरण आज उपलब्ध हैं। वररुचि का 'प्रकृत प्रकाश' तथा हेमचन्द्र का हेम-व्याकरण इनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। हेमचन्द्र ने 'देशी नाममाला' नामक एक कोष भी लिखा। महाराष्ट्री को

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, जिल्द १, पृ० १२७—२८।

दोनों ही प्रमुख प्राकृत मानते थे। हेमचन्द्र 'महाराष्ट्री' नाम नहीं लिखता, उसे केवल 'प्राकृत' कह देता है। ये सभी प्राकृतों का जन्म संस्कृत से मानते हैं। वररुचि और हेमचंद्र महाराष्ट्री की भाँति शौरसेनी को भी संस्कृत से निकली हुई मानते हैं। साथ ही ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि शौरसेनी, पैशाची और मागधी का आधार थी। हेमचंद्र कुलिका और अपभ्रंश का भी व्याकरण लिखता है। दंडी अपभ्रंश को आभीरों की भाषा मानता है। त्रिविक्रम अपनी 'प्राकृत-सूत्र-वृत्ति' में छह भाषाओं का व्याकरण देता है। 'चन्द्र' ने 'षड्भाषा-चंद्रिका की रचना की। लक्ष्मीधर भी छह भाषाओं का विवरण देता है।

वैसे प्राकृतों में स्वतंत्र साहित्य भी मिलता है, पर मुख्यतः इनका प्रयोग नाटकों में किया गया है। सम्भ्रान्त स्त्रियाँ नाटकों में शौरसेनी प्राकृत बोलती हैं। स्त्रियाँ यदि कविता या गीतों का प्रयोग करती हैं तो माध्यम महाराष्ट्री प्राकृत बनती है। शौरसेनी का प्रयोग कुछ निम्न कोटि के पात्र भी करते हैं। साधारण सिद्धान्त तो यह दीखता है कि जिस प्रदेश का पात्र होता है वह उसी प्रदेश की प्राकृत का प्रयोग करे। साहित्यदर्पणकार ने इस संबंध में अत्यंत सूक्ष्म नियम दिए हैं। इन नियमों में अनेक भाषाओं का उल्लेख मिलता है। पर ये समस्त भाषाएँ प्रादेशिक अंतरजनित हैं। सभी विद्वान् मुख्य छह प्राकृत मानते हैं।

शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत

प्राकृतों के युग में दो प्राकृत प्रमुख होती दीख़ती हैं—शौरसेनी तथा महाराष्ट्री। पालि मध्यदेश की भाषा थी। मध्यदेश उस समय उज्जैन से लेकर मथुरा तक विस्तृत था।[1] यह पालि एक प्रकार से पश्चिमी हिंदी-क्षेत्र की पूर्व भाषाओं में से एक मानी जा सकती है। इसी क्षेत्र में आगे चलकर शौरसेनी प्राकृत विकसित

१. सुनीतिकुमार चटर्जी, इण्डो एरियन ऐण्ड हिन्दी, पृ० १६१।

हुई। इसका प्रमाण यह है कि पालि तथा शौरसेनी में ध्वनि-विकास की अनेक स्थितियाँ समान हैं। कुछ नवीन ध्वनि-विकार भी शौरसेनी में हैं, जो पालि से आगे के विकास की सूचना देते हैं। यह संक्षेप में देखा जा चुका है कि शौरसेनी प्राकृत इस युग की सबसे अधिक उन्नत, लोकप्रिय तथा संस्कृत से प्रभावित भाषा थी। शौरसेनी ब्रजभाषा का पुराना रूप है। दूसरी मुख्य प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत है, जैसा कि इस नाम से विदित होता है। यह महाराष्ट्र प्रदेश की प्राकृत होगी। महाराष्ट्री प्राकृत के विस्तार-क्षेत्र के संबंध में इस प्रचलित मत के अतिरिक्त एक और मत सामने आता है। इस मत का प्रारम्भ सम्भवत: मनमोहन घोष ने किया। उन्होंने यह माना कि महाराष्ट्री प्राकृत का संबंध मराठा देश से नहीं है। यह मध्यदेश की ही भाषा थी। यह शौरसेनी के विकास की द्वितीय स्थिति की सूचना देने वाली है।[1] इस मत की पुष्टि डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने वररुचि के व्याकरण के आधार पर की है।[2] यदि महाराष्ट्री प्राकृत उस प्रदेश की भाषा होती तो आज की मराठी भाषा उसी तरह विकसित हुई होती। मॉलिसवर्थ ने महाराष्ट्री के कोष में अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति हिंदी से मानी है। इससे 'मराठी' भाषा पर शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव दीखता है। साथ ही यह तो कोई भी नहीं कह सकता कि मराठी का जन्म महाराष्ट्री प्राकृत से हुआ। मराठी भाषा के अनेक रूप शौरसेनी और मागधी प्राकृतों से भी मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार यह मत निराधार नहीं है कि महाराष्ट्री प्राकृत मध्यदेश की ही भाषा थी और शौरसेनी प्राकृत के विकास की आगे की स्थिति थी। अत: महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनो प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की एक कड़ी है। इस प्रकार 'आर्यदेश' में सदैव ही मध्यदेश की भाषा प्रधान रही। ईसा से पूर्व पालि सर्वमान्य भाषा बनी। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में शौर-

---

१. महाराष्ट्री, ए लेटर फेज़ आफ शौरसेनी, पृ० ८६।

२. इण्डो आर्यन ऐण्ड हिन्दी, पृ० १६२।

सेनी और महाराष्ट्री प्रमुख हुईं तथा लगभग १००० ई० या १२०० ई० तक 'अपभ्रंश' उत्तरापथ की भाषा बनी रही।

मध्यदेश की संस्कृत से अत्यधिक प्रभावित शौरसेनी प्राकृत सर्वप्रमुख थी। यही ब्रजभाषा तथा हिंदी के क्षेत्र की प्राकृत थी। इसी से हिंदी-क्षेत्र की बोलियों का विकास हुआ। मथुरा के आस-पास का प्रदेश शौरसेनी प्रदेश कहा जाता था। यहाँ की प्राकृत का भी यही नाम हुआ। संस्कृत के प्राचीन नाटकों में इसी प्राकृत का प्रयोग मिलता है। अन्य नाटकों में तो इसका प्रयोग स्त्री, विदूषक तथा परिचारक ही करते हैं, पर 'कर्पूरमंजरी' में इसका प्रयोग राजा भी करता है। यह संस्कृत से सबसे अधिक समीप है। अतः इसे संस्कृत और हिंदी (पश्चिमी हिंदी) के बीच की स्थिति का प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

शौरसेनी प्राकृत

शौरसेनी प्राकृत की संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ दे देना असंगत न होगा। संस्कृत नाटकों में स्त्री-पात्रों तथा मध्य कोटि के पुरुष-पात्रों द्वारा शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया जाता था। वररुचि ने अपने प्राकृत-प्रकाश में शौरसेनी प्राकृत की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है। इस प्राकृत ने अनेक प्राकृतों को प्रभावित किया। पैशाची भी इस पर आधारित रही।[1] मागधी की प्रकृति भी शौरसेनी के तत्वों से निर्मित थी।[2] हेमचंद्र भी अनेक प्राकृतों का आधार शौरसेनी प्राकृत को ही मानता है।[3] शौरसेनी प्राकृत का विस्तार यदि नाम के आधार पर देखा जाए तो शूरसेन-प्रदेश में इस भाषा के प्रचलन का अनुमान लगाया जा सकता है। पर यह समस्त मध्य-देश में प्रचलित थी। गंगा-यमुना की घाटी इसका प्रमुख विस्तार-

---

१. वररुचि, प्रा० प्र०, १०।२।

२. प्रकृतिः शौरसेनी, वही ११।२।

३. सिद्ध हेमचन्द्र, शब्दानुशासन, (४।४४६)।

क्षेत्र था।[१] शौरसेनी प्राकृत का आधार महाराष्ट्री प्राकृत मानी गई है।[२] किंतु अनेक आधुनिक विद्वानों ने महाराष्ट्री को शौरसेनी प्राकृत का परवर्ती रूप माना है। इस संबंध में ऊपर पर्याप्त विचार हो चुका है। अतः प्राकृत-वैयाकरणों ने शौरसेनी की उन विशेषताओं को ही दिया है जो महाराष्ट्री से भिन्न थीं। वररुचि ने शौरसेनी का आधार संस्कृत माना है।

प्रकृति : संस्कृतम्[३]

इस सूत्र का यह तात्पर्य दीखता है कि अन्य प्राकृतों की अपेक्षा शौरसेनी प्राकृत संस्कृत से अधिक सम्पृक्त और सम्बन्धित रही। इसकी ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ वररुचि ने अपने 'प्राकृत-प्रकाश' में इस प्रकार दी हैं—

१. दो स्वरों के बीच में स्थित संस्कृत के त् और थ् का क्रमशः द् और ध् हो जाता है[४]—

गच्छति = गच्छदि
यथा = जधा

दो स्वरों के बीच में स्थित द् और ध् वैसे ही रहते हैं—

जलदः = जलदो
क्रोधः = क्रोधो

२. व्यापृत शब्द में त के स्थान पर ड हो जाता है[५]—

व्यापृत = वावुडो

पुत्र शब्द में प्रयुक्त त का भी कभी-कभी ड हो जाता है[६]—

पुत्रः = पुड्डो

---

१. दिनेशचन्द्र सरकार, ग्रामर आफ दि प्राकृत लैंग्वेज, पृ० १०१।

२. प्रा० प्र०, १।६१।

३. वही, १२।२।

४. वही, १२।३।

५. "व्यापृते डः" (प्रा० प्र०, १२४)।

६. "पुत्रेऽपि क्वचित्" (प्रा० प्र० १२।५) ब्रजभाषा में भैंस के बच्चे को पड्डा कहा जाता है।

३. गृध्र-जैसे शब्द में ऋ के स्थान पर इ हो जाती है[1]—

गृध्र=गिद्ध

आज भी ब्रज की बोली में गिद्ध शब्द ही प्रचलित मिलता है।

४. ण्य, ज्ञ तथा न्य के स्थान पर कभी-कभी ञ्ञ हो जाता है[2]—

ब्रह्मण्य=बम्हञ्ञं (बम्हण्णं भी)

विज्ञ=विञ्ञो (विण्णो भी)

यज्ञ=जञ्ञो (जण्णो भी)

कन्यका=कञ्ञका (कण्णका भी)

'सर्वज्ञ' के 'ज्ञ' और इंगित के 'ङ' के स्थान पर 'ण' आ जाता है[3]—

सर्वज्ञ=सव्वणो

इंगित=इण्णिदो

'त्वा' के स्थान पर 'इअ' आ जाता है[4]—

कृत्वा=करिअ

ब्रज की बोली में आज केवल 'करि' अवशिष्ट है। शौरसेनी प्राकृत की ये कतिपय ध्वन्यात्मक विशेषताएँ हैं। शौरसेनी प्राकृत पर हेमचंद्र ने भी पर्याप्त विचार किया है।[5] पुरुषोत्तमदेव ने अपने प्राकृतानुशासन[6] में इसकी विशेषताएँ लिखी हैं। उन्होंने शौरसेनी का सम्बन्ध कुछ अन्य भाषाओं से भी माना है। पैशाची भाषा की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करके 'शेषे शौरसेनी' लिखा है।[7]

---

१. "इ गृध्र-समेषु" (१२।६)।

२. "ब्रह्मण्य, विज्ञ, यज्ञ, कन्यकानां ण्य-ज्ञ-न्यानां ञ्ञो वा" (१२।७)

३. "सर्वज्ञेङ्गित योर्णः" (प्रा० प्र०, १२।८)।

४. प्रा० प्र०, १२।६। प्राकृतानुशासन में श्री पुरुषोत्तमदेव ने 'कदुअ' रूप दिया है (१६।३६)।

५. हेमचन्द्र, ४.२६०-८६।

६. वही, अध्याय ६।

७. प्राकृतानुशासन, १०।१४।

अवन्ती भाषा में महाराष्ट्री और शौरसेनी दोनों तत्वों का समावेश माना है।[१] मागधी को भी शौरसेनी पर आधारित माना है।[२] टक्कदेशीय विभाषा भी शौरसेनी और संस्कृत से सम्बन्धित मानी है।[३] कैकय पैशाचिका संस्कृत और शौरसेनी की विकृति के रूप में मानी गई है।[४] पैशाचिका का एक भेद ही शौरसेनी पैशाचिका माना है। इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत के मध्य की स्थिति उसके प्रभाव का विस्तार पूर्व और पश्चिम की ओर करती रही। कही उसका प्रभाव संस्कृत के साथ होकर पहुँचा, कही स्वतंत्र रूप से और कही महाराष्ट्री के साथ होकर। शौरसेनी का प्रभाव-क्षेत्र अत्यंत विस्तृत रहा। पुरुषोत्तमदेव ने शौरसेनी प्राकृत की ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। संक्षेप में उनको दिया जाता है—

थ······ध[५]

प······ब[६]

फ······भ[७]

द, ध, ब और य में कोई परिवर्तन नहीं होता। वे जैसे संस्कृत में रहते हैं, वैसे ही शौरसेनी प्राकृत में रहते हैं।[८] 'मदनिका' आदि शब्दों को छोड़ कर क में कोई परिवर्तन नहीं होता।[९] 'आर्य' शब्द में र्य का ज्ज मे परिवर्तन नही होता, उसका य्य हो जाता है।[१०] क्षेत्र आदि शब्दों में क्ष का परिवर्तन ख में हो जाता है।[११] ब्रजभाषा में

---

१. "महाराष्ट्री शौरसेन्योरैक्यम" वही, ११।१।
२. "शौरसेनीत—प्राय:" (वही, १२।१)।
३. "संस्कृत शौरसेन्यो": (१६।१)।
४. "संस्कृत शौरसेन्योर्विकृति:" (प्राकृतानुशासन, १६।३)।
५. "थस्य ध:" (प्राकृतानुशासन, १६।१०)।
६. "पस्य ब :" (वही, १६।११)।
७. "फस्य भ :" (वही, १६।१२)।
८. "दधवया: प्रकृतय:" (वही, १६।१४)।
९. "ककार : प्रकृत्यामदनिकादे:" (वही, १६।१७)।
१०. वही, १६।२०।
११. वही, १६।२१।

क्ष का परिवर्तन कभी छ में और कभी ख में होता है ।

क्षीर…खीर; क्षत्री…छत्री ।

'दश' और 'चतुर्दश' शब्द में, ऐच्छिक रूप से 'श' का 'ह' हो जाता है।[1] ब्रज की भाषा में आज यह प्रवृत्ति नहीं मिलती है। 'स्त्री' का 'इत्थी' हो जाता है ।[2] 'एवस्य' का 'य्येव' हो जाता है ।[3] 'इव' का 'विग्र' हो जाता है।[4] 'आश्चर्य' का 'अच्छरिग्र' हो जाता है ।[5] 'शत्रुघ्न' 'सत्तुद्ध' में परिवर्तित हो जाता है।[6] 'तावक' औ 'मामक' शब्द क्रमशः 'तुहकेर' और 'महकेर' हो जाते हैं ।[7] व्याकरण के संबंध में श्री पुरुषोत्तमदेव ने कहा है कि संधि-विधान संस्कृत-जैसा है । इस प्रकार ध्वनि-संबंधी नियम देने के पश्चात् व्याकरण-नियम दिए गए हैं। श्री पुरुषोत्तमदेव ने शौरसेनी प्राकृत पर सबसे अधिक लिखा है ।

अपभ्रंश-युग

वैयाकरणों ने अपभ्रंश की भी चर्चा की है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह प्राकृत से आगे की स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है। यह आधुनिक भाषाओं तथा प्राकृतों के बीच की विकास-कड़ी है। विशेषतः पुरानी हिंदी, ब्रजभाषा और गुजराती से तो इसकी बहुत ही समानता है ।

अपभ्रंश का व्याकरण हेमचंद्र, त्रिविक्रम और क्रमदीश्वर ने लिखा है । वररुचि ने अपनी रचना में अपभ्रंश की चर्चा भी नहीं की है। किंतु यह प्रायः सिद्ध है कि अपभ्रंश का अपना साहित्य भी था । हेमचंद्र ने व्याकरण के नियमों के उदाहरण-स्वरूप अनेक

---

१. "दश-चतुर्दश्यो : शस्य हो वा" (वही, १६।२२)।

२. वही, १६।२७ ।

३. वही, १६।२८ ।

४. वही, १६।२६ ।

५, वही, १६।३० ।

६. वही, १६।३१ ।

७. "तावक मामकादेः" (वही, १६।३२)।

पद्यों को उद्धृत किया है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक, चतुर्थ अङ्क में राजा की विक्षिप्तावस्था में जो वाक्य निकलते हैं, वे अपभ्रंश में ही हैं। हेमचंद्र ने जो उदाहरण दिए हैं वे प्रायः उसी छन्द में हैं जो पुरानी हिंदी अथवा ब्रजभाषा में मिलते हैं। सबसे अधिक लोकप्रिय छन्द दोहा-चौपाई है। ब्रजलालजी द्वारा खोजे हुए ग्रन्थों[1] की भाषा हेमचंद्र की दी हुई अपभ्रंश से पीछे की लगती है। इसके साहित्य पर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि वररुचि ने अपने 'प्राकृत-प्रकाश' में अपभ्रंश की चर्चा भी नहीं की है। चंडकृत 'प्राकृत-लक्षण' में अपभ्रंश के स्वरूप का दर्शन होता है। उसमें अन्य प्राकृतों से अपभ्रंश की यह विशेषता बताई गई है कि उसमें अधोरेफ का लोप नहीं होता। इसके पश्चात् हेमचन्द्र ने तो इसका स्वरूप विस्तार से बताया है। किंतु अपभ्रंश के भेदों का इसमें उल्लेख नहीं है। इसमें दिए हुए उदाहरणों से एक विशेषता हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि कुछ शब्दों में 'ऋ' स्वर पाया जाता है।[2] 'र' का लोप तो केवल विकल्प से होता है।[3] हेमचंद्र के व्याकरण की दूसरी प्रवृत्ति आदि में स्वर मे असंयुक्त क, ख, त, थ, प और फ के स्थान पर क्रमशः ग, घ, द, ध, ब और भ का आदेश हो जाता है।[4] हेमचन्द्र के पश्चात् के वैयाकरण—क्रमदीश्वर, मार्कण्डेय और रामतर्कवागीश अपभ्रंश के तीन भेद बताते हैं—व्राचड, नागर और उपनागर। 'स्वयंभू' के 'हरिवंश पुराण' में ढक्का भाषा में विरचित एक 'कडवक' मिलता है।[5] "यह भाषा······पंजाब के 'ढक्क' देश

---

१. पं० ब्रजलाल मुञ्जरास की कृति का उल्लेख करते हैं, जो अपभ्रंश में लिखी है और जिसका दूसरा नायक प्रसेनजित नाम का राजा है, किंतु उसकी भाषा हेमचन्द्र की भाषा से अधिक आधुनिक प्रतीत होती है। दे० आर० जी० भंडारकर, कलेक्टेड वर्क्स. जिल्द ४, पृ० ३६३।

२. प्राकृत व्याकरण, ८,४,३९३।

३. वही।

३. वही।

५. अपभ्रंश पाठावली (अहमदाबाद, १९३४ ई०) उद्धरण ४, ११।

की प्रतीत होती है, क्योंकि इसमें मागधी के लक्षण दिखाई नहीं देते।[1] इस 'ढक्की' भाषा की एक धारा सिंध की ओर तथा दूसरी गुजरात की ओर प्रवाहित हुई। वहाँ अहमदाबाद के 'नगर' प्रदेश में प्रतिष्ठित होने के कारण उसका नाम 'नागरी' हुआ। सम्भवतः आभीरों के साथ यह प्रवृत्ति गुजरात में आई। इसी से नमिसाधु ने इसे ही आभीरी कहा होगा।[2] इसमें परुष वर्णों को मृदुल बनाया गया। इसी से इस भाषा ने साहित्यिक क्षेत्र में स्थान प्राप्त किया। ब्राचड 'ग्राम्य' कहलाई। गुजरात से सिंध तक इसका मिश्रण पाया गया; मिश्रण 'उपनागर' बनी। विभिन्न प्रदेशों की अपभ्रंशों में भिन्नता रही होगी, पर धारा का प्रवाह आन्तरिक रूप से समान था। अतः सभी अपभ्रंश कहलाईं। अनेक प्राचीन लेखों से अपभ्रंश और देशी समानार्थक प्रतीत होते हैं। इसको राहुलजी ने भी स्वीकार किया है।[3]

अपभ्रंश भाषा का विस्तार बहुत अधिक था। वह अपने युग की एक महत्वपूर्ण साहित्यिक भाषा बनी। उत्तरी भारत के राजपूतों के दरबारों में तुर्कराज्य स्थापित होने से पूर्व उसका चलन था। यही वह भाषा थी जो बंगाल से महाराष्ट्र तक चलती थी। बंगाल तथा उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्रदेशों के कवियों द्वारा यह ग्रहण की गई।[4] महापंडित राहुल सांकृत्यायन इसकी पुष्टि करते हुए कहते हैं—"जहाँ सरहपा और शबरपा विहार-बंगाल के निवासी थे, वहाँ अब्दुर्रहमान का जन्म मुल्तान में हुआ था। स्वयंभू और कनकामर शायद अवधी और बुंदेली क्षेत्रयुक्त प्रान्त के थे, तो हेमचन्द्र और सोमप्रभ गुजरात के। और रसिक तथा आश्रयदाता होने के कारण मान्यखेट (मालखेड, निजाम हैदराबाद) का भी

---

१. हीरालाल जैन, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५० (सं० २००२), अंक ३–४, पृ० १०३।
२. वही, पृ० १०३।
३. हिंदी काव्यधारा, भूमिका, पृ० ३।
४. सुनीतिकुमार चटर्जी, इण्डो आर्यन ऐण्ड हिंदी, पृ० १६४।

इस साहित्य के सृजन में हाथ रहा है। इस प्रकार हिमालय से गोदावरी और सिंध से ब्रह्मपुत्र तक ने इस साहित्य (अपभ्रंश) के निर्माण में हाथ बटाया है।"[१]

किंतु यह साहित्यिक भाषा बोलचाल की बोलियों का ही सामान्य परिष्कृत रूप था। इन बोलचाल की भाषाओं की एक सूची 'प्राकृत-चंद्रिका' में दी हुई है—व्राचडी, कैकेयी, लाटी, गौड़ी, वैदर्भी, औड्री (उड़िया), नागरी, सैंहली, बर्बरी, गुर्जरी, आवन्ती (मालवी), आभीरी, पांचाली, मध्यप्रदेशी, टक्की आदि। मार्कण्डेयक के 'प्राकृत-सर्वस्व' की प्रमुख अपभ्रंश ये हैं—पांचाली (कनौज-बरेली), सैंहली, वैदर्भी (बरारी), आभीरी, लाटी (दक्षिण गुजराती), मध्यदेशीया, औड्री, गुर्जरी, कैकेयी, पाश्चात्या (पछैयाँ), गौड़ी।

'कुवलयमाला' में कितनी ही अपभ्रंशों की सूची है—गोल्ली (गौड़ी), मध्यदेशीया, मागधी, अन्तर्वेदी, कीरी, टक्की, सिंधी, मरु-देशी, गुर्जरी, लाटी, मालवी, कोसली तथा महाराष्ट्री। इन भिन्न भाषा अथवा बोलियों के होते हुए भी एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी अवश्य चलती थी।

शौरसेनी अपभ्रंश

आजकल विद्वान् लोग यह कल्पना करते हैं कि प्रत्येक प्राकृत की एक अपभ्रंश भी थी। इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत से संबंधित शौरसेनी अपभ्रंश होगी। पर व्याकरण के प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार से विभाजन उपलब्ध नहीं होता। रुद्रट के अनुसार देश-भेद से बनने वाली अपभ्रंशों की बात अवश्य कही गई है।[२] शारदातनय (१३ वीं शती) ने अपभ्रंश के तीन भेद किए हैं—नागरक, ग्राम्य और उपनागरक।[३] पुरुषोत्तमदेव के अनुसार भी अपभ्रंश के तीन

---

१. हिंदी काव्यधारा, भूमिका, पृ० ५–६।

२. "षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः" (काव्यालंकार २।१२)।

३. "एता नागरक ग्राम्योपनागरकभेदतः।
त्रिधाभवेयुरेतासां व्यवहारो विशेषतः॥" (भावप्रकाश, पृ० २१०)।

भेद हैं—नागरक, व्राचड और उपनागरक। इनमें नागरक को मुख्य माना गया है। मार्कण्डेय (१७वीं शती) ने भी इसी प्रकार विभाजन किया है (प्राकृत सर्वस्व)। इस प्रकार वैयाकरणों ने अपभ्रंशों का देशगत विभाजन नहीं किया। अपभ्रंश साहित्य का विभाजन तीन वर्गों में किया गया है[1]—

१. पश्चिमी अपभ्रंश,
२. दक्षिणी अपभ्रंश,
३. पूर्वी अपभ्रंश।

पश्चिमी अपभ्रंश का क्षेत्र लगभग वही माना गया है जिसे ग्रियर्सन ने शौरसेन प्रदेश माना है। इस क्षेत्र में गुजरात, राजस्थान और हिंदी प्रान्त आते हैं। पश्चिमी अपभ्रंश इस प्रकार ब्रज प्रदेश से संबंधित हुई। इसको सुविधा की दृष्टि से 'शौरसेनी अपभ्रंश' कहा जा सकता है। इसमें निम्नलिखित साहित्य उपलब्ध होता है—

१. कालिदास—विक्रमोर्वशीय के पद्य।
२. जोइन्द्र—परमात्म-प्रकाश और योगसार।
३. देवसेन—सावयधम्म दोहा।
४. रामसिंह—पाहुड दोहा।
५. धनंजय—दशरूप में कुछ पद्य।
६. धनपाल—भविसदत्तकहा।
७. भोज—सरस्वतीकंठाभरण के कुछ पद्य।
८. जिनदत्त—उपदेशतरंगिणी, अपभ्रंश काव्यत्रयी।
९. लक्ष्मणगणि—सुपासणाह चरिअ।
१०. हरिभद्र—सनत्कुमार चरित।
११. हेमचन्द्र—सिद्धहेम, हरिवंश पुराण।
१२. सोमप्रभ—कुमारपालप्रतिबोध।

शौरसेनी अपभ्रंश को भी साहित्य के क्षेत्र में वही प्रतिष्ठा

---

१. हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, पृ० १५।

प्राप्त हुई जो कभी शौरसेनी प्राकृत को प्राप्त थी। शौरसेनी अपभ्रंश या पश्चिमी अपभ्रंश की ध्वनि और व्याकरण की समस्त विशेषताओं को यहाँ नहीं दिया जा सकता। सामान्य विशेषताओं का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

इन समस्त प्रान्तीय भाषाओं में शौरसेनी या मध्यदेशीय अपभ्रंश प्रमुख हुई। इस अपभ्रंश का स्थान सर्वोच्च था। नागर अपभ्रंश को शिष्ट, प्रचलित तथा महत्वपूर्ण अपभ्रंश माना गया। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के मतानुसार यह शौरसेनी अपभ्रंश के अतिरिक्त कुछ नहीं थी—"लगभग ८०० ई० से शुरू होकर १२००-१३०० तक शौरसेनी अपभ्रंश भाषा, जो 'नागर अपभ्रंश' भी कहलाने लगी, उत्तर भारत में एक विराट् साहित्यिक भाषा के रूप में विराजती थी। संस्कृत के बाद इस शौरसेनी अपभ्रंश ही का स्थान उस समय था। विभिन्न प्रान्तीय अपभ्रंश भाषाएँ थीं तो सही, पर उनमें साहित्य-सर्जना मानों नहीं के बराबर ही थी। चार-छह सौ वर्षों तक सिंध प्रदेश से पूर्वी बंगाल तक कश्मीर, नैपाल, मिथिला से लेकर महाराष्ट्र और उड़ीसा तक तमाम आर्यावर्ती देश इस शौरसेनी या नागर अपभ्रंश साहित्यिक भाषा का क्षेत्र बन गया था। राजपूत राजाओं का प्रभाव इसका एक कारण हो सकता है। पर मेरी राय में इससे उत्तर भारत का एक साधारण भाषा-साम्य या भाषा-विषयक सहज-बोधता भी प्रमाणित होती है।......पछाँह-खंड में, जो कि शुद्ध हिंदी का अपना देश है, और मालव, राजस्थान तथा गुजरात में तो शौरसेनी अपभ्रंश की निजी भूमि ही थी।...... यह सच है कि शौरसेनी अपभ्रंश उन दिनों की आंतर-प्रादेशिक भाषा ही थी और आजकल की ब्रजभाषा, खड़ी बोली आदि विभिन्न प्रकार की हिंदी का उद्भव इस शौरसेनी अपभ्रंश से ही हुआ है[१]।" आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी यही बात प्रतिपादित की है[२]। हेमचंद्र

---

१. पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ, पृ० ७९।

२. बुद्धचरित की भूमिका, पृ० १०२।

ने जिस अपभ्रंश का उल्लेख अपने व्याकरण में किया है वह पछाँही भाषा है, जिसका व्यवहार ब्रज-मंडल से लेकर राजपूताना और गुजरात तक था। इस बात को उन्होंने 'शेषं शौरसेनीवत्' कह कर स्पष्ट किया है। अपभ्रंश के जो दोहे उन्होंने दिए हैं वे पछाँही भाषा के हैं। 'प्रबंध चिंतामणि' और 'कुमारपाल-प्रतिबोध' आदि ग्रन्थों में जो पद्य हैं उनका ढाँचा पच्छिमी हिंदी का है। इन उदाहरणों में ब्रजभाषा के अनेक नियमों और रूपों का बीज मिल जाता है।

छन्दस् से पालि और पालि से प्राकृतों के विकास में केवल कुछ क्लिष्ट उच्चारणों को सरल किया गया। व्याकरण के वृहत् कलेवर को भी छोटा किया गया और द्विवचन आदि कुछ प्रयोगों को समाप्त कर दिया गया। प्राकृतों में यह अन्तर और अधिक हो गया। सुवन्त, तिङंत या शब्दरूप और धातुरूप की शैली में कोई मौलिक अंतर नहीं आया। किंतु अपभ्रंश ने उस धारा को एक बहुत बड़ा मोड़ दिया। भाषा के ढाँचे में ही परिवर्तन हो गया। नवीन सुवन्त तथा तिङन्तों की इस प्रकार अपभ्रंश संस्कृत पालि और प्राकृत की मूलधारा से भिन्न पड़ गई और वह हिंदी के अधिक समीप आ गई। इसको 'प्राचीनतम हिंदी' नाम दिया जा सकता है। ब्रजभाषा के जन्म की स्थिति यहीं से आरम्भ होती है।

सरलता के साथ-साथ अपभ्रंश में मृदुलता और माधुर्य भी लाने का प्रयत्न प्रबल हो उठा। माधुर्य शौरसेनी अपभ्रंश में बस गया और लालित्य उसके पूर्वी रूप में। अपभ्रंश का स्वरूप संक्षेप में श्री हीरालाल जैन ने दिया है। उसको ज्यों का त्यों यहाँ दिया जाता है[1]—

१. स्वरों में ऐ और औ का सर्वथा और ऋ का प्रायः अभाव एवं स्वरों में परस्पर अनियमित व्यत्यय।

२. मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का प्रायः लोप और केवल उनके संयोगी स्वरों का कहीं-कहीं 'य' अथवा 'व' श्रुति के साथ या

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अङ्क ३-४, पृ० १०३-४।

बिना इनके भी उच्चारण तथा महाप्राण व्यंजनों के स्थान पर 'ह्' का आदेश ।

३. कारक विभक्तियों की कमी ।

४. सर्वनामों में विशेष उल्लेखनीय हैं—उत्तमपुरुष एकवचन का 'हउ' और मध्यमपुरुष तृतीया का 'पइ' ।

५. क्रिया पदों में उल्लेखनीय हैं—उत्तमपुरुष एकवचन की विभक्ति 'उं' तथा अन्यपुरुष एकवचन की विभक्ति 'इ' । विभक्ति से पूर्व क्रिया को अकारांत बना लेने की प्रवृत्ति ।

६. कृदंत भूतकालिक अव्यय की विभक्तियाँ 'इय', 'इवि', 'एवि', 'एविणु', 'एफिणु' और 'ऊण' हैं ।

७. स्वार्थक और विशेषणात्मक प्रत्यय अल्ल, इल्ल, एल्ल, आल इर, य (क) ड आदि का प्रयोग ।

८. ध्वनिसूचक नाना शब्दों का प्रयोग ।

इस स्वरूप के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश का ढाँचा अत्यधिक परिवर्तित हो गया था । इसमें वे तत्व विकसित हो गए थे जो आगे की भाषाओं में विकसित हुए । शौरसेनी अपभ्रंश से हिंदी के प्रायः समस्त रूपों और विशेषत. ब्रजभाषा का जन्म हुआ ।

आधुनिक भाषाएँ

इन प्रादेशिक अपभ्रंशों में से होकर आधुनिक भाषाओं के रूप खड़े होने लगे । यद्यपि अपभ्रंश ने आधुनिक आर्य भाषाओं को जन्म दे दिया था, फिर भी बहुत समय तक अपभ्रंश की परम्परा बनी रही । आगे चलकर इस अपभ्रंश की परम्परा के दो रूप मिलते हैं—या तो शुद्ध अपभ्रंश के रूप में या उसका वर्ण-विज्ञान, शब्दकोश तथा उसकी प्रवृत्तियाँ आधुनिक आर्य भाषाओं पर छाए रहे । अतः हम आधुनिक आर्य-भाषाओं के आदि रूप को अर्द्ध-अपभ्रंश का नाम भी दे सकते हैं । पृथ्वीराज. रासो की भाषा अर्द्ध अपभ्रंश ही कही जा सकती है । पूर्वी भागों में इसी को अवहट्ट

नाम दिया जाने लगा था। १५वीं शती के 'प्राकृत-पैंगल' की रचना अपभ्रंश की परंपरा के जीवित रहने की सूचना देती है। यह अपभ्रंश उसी क्षेत्र की भाषा थी जिस क्षेत्र में पालि और शौरसेनी प्राकृत तथा आधुनिक हिंदी प्रचलित है।

राहुल सांकृत्यायन ने ७६०-११०० ई० के मध्यकालीन युग के कवियों का संग्रह प्रकाशित किया है।[1] उसकी भूमिका के आरंभ में वे कहते हैं—"हमारे इस युग की भाषा और आज की भाषा में काफी अन्तर है......तो भी हम बतलाएगे कि मूलतः वह भाषा और आज की भाषा एक है[2]।" उसी संग्रह की भाषा-विषयक प्रस्तावना का उपसंहार करते हुए वे कहते है—"अपभ्रंश के कवियों को विस्मरण करना हमारे लिए हानि की वस्तु है। वही कवि हिंदी काव्यधारा के प्रथम सृष्टा थे[3]।" पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिंदी से।[4] कुछ उदाहरण गुलेरीजी ने ऐसे दिए हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं।[5]

अपने 'पुरानी हिंदी' नामक लेख में स्व० गुलेरीजी ने लिखा है–पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेल कर बनाए गए हैं......कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक-सी ही थी, जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता ब्रजभाषा कहलाती थी, वैसे अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देशकाल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।[6] ग्राउज महोदय ने जहाँ भाषा-क्रम दिया है, वहां अपभ्रंश का

१. हिन्दी काव्यधारा।
२. वही, भूमिका, पृ० ३।
३. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १२।
४. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, निबन्ध रत्नावली, बा० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित, पृ० २६१।
५. वही।
६. वही, पृ० २६३।

उल्लेख न करके उसके स्थान पर ब्रजभाषा को ही बताया है।[1] इस प्रकार अपभ्रंश और आधुनिक आर्य-भाषाओं के बीच कोई सुस्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। राहुलजी के अनुसार यह युग ७६० ई० से ११०० ई० तक था, जिस युग की रचनाओं को आदि हिंदी की रचनाएँ कहा जा सकता है। वुल्नर के अनुसार इस प्रकार की भाषा का युग १२वीं शताब्दी के हेमचन्द्र के व्याकरण में उल्लिखित अपभ्रंश तथा प्राचीन हिंदी के आदि काव्य की भाषा के मध्य में है।[2] उनके अनुसार पृथ्वीराज रासो हिंदी का आदिग्रंथ है (लगभग १२वीं शती)। वस्तुतः यह युग राहुलजी द्वारा निर्धारित युग के आगे का युग है।

ब्रजभाषा—विविध नाम

ब्रजभाषा कई नामों से जानी जाती है। यह कभी 'भाषा' नाम से ही अभिहित रही। कभी 'मध्यदेशी' इसका नाम रहा। 'अंतर्वेदी' संज्ञा भी इसको दी गई। 'ग्वालेरी' भाषा तो बहुत प्रसिद्ध रही। राजस्थान में इसका 'पिंगल' नाम रहा। ब्रजभाषा नाम तो है ही। इन नामों के सम्बन्ध के लेखों पर एक दृष्टि डाल लेना उपयुक्त होगा।

भाषा (भाखा)

जिस समय अपभ्रंश वर्तमान भाषाओं का रूप धारण कर रही थी उस समय इन सभी रूपों को भाषा कहा जाने लगा। रूढ़ रूप में संस्कृतेतर भाषाएँ 'भाखा' कहलाने लगीं। महाकवि चंदवरदाई ने अपनी भाषा के सम्बन्ध में लिखा है—

"षट भाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया"

---

१. संस्कृत से पाली, उससे शौरसेनी प्राकृत और फिर उससे ब्रजभाषा का विकास हुआ, (दि नॉन आर्यन एलीमेण्ट इन हिन्दी स्पीच, इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द १ (सन १८९२ ई०), पृ० १०३।

२. इण्ट्रोडक्शन टु प्राकृत, पृ० २।

इसमें षट् भाषा शब्द महत्व का है। यहाँ भाषा रूढ़ अर्थ में नहीं, व्यापक अर्थ में ही है।[1] तुलसी ने अपनी भाषा को 'भाखा' लिखा है।[2] नन्ददासजी भी 'भाखा' शब्द का प्रयोग करते हैं।[3] केशवदासजी को भी विवश होकर 'भाखा' का कवि होना पड़ा।[4] 'कृष्ण-रुक्मिणी री बेलि' के रचयिता भी 'भाखा' में लिखते हैं।[5] कुलपति मिश्र संस्कृत के समकक्ष भाषा को रखते हैं।[6] इस प्रकार 'भाखा' शब्द किसी प्रदेश से बँध कर नहीं रहा। मिरजाखाँ ने भाखा शब्द का स्पष्टीकरण किया है। वह इस प्रकार है—संस्कृत और प्राकृत को छोड़कर सभी बोलियाँ 'भाखा' कहलाती हैं।[7] साथ ही वह यह कहता है कि खास तौर से 'भाखा' का संबंध ब्रज से ही है।[8] लल्लूलालजो ने अपनी 'ब्रज भाषा व्याकरण' (अँग्रेजी) में[9]

---

१. भिखारीदासजी ने इस षट्भाषा का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

ब्रजमागधी मिले अमर नग यमन भाखानि।
सहज पारसी हू मिले षट्विधि कहत बखानि॥

इस दोहे में 'अमर' से संस्कृत का भी बोध होता है। रूढ़ अर्थ में 'भाषा' में संस्कृत नहीं आती। मिश्रित भाषा को स्पष्ट करने वाला एक और दोहा पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने उद्धृत किया है, दे० 'भारती', जून, १९५४, पृ० ७—

अन्तर्वेदी नागरी, गौड़ी पारस देस।
अरु जामें अरबी मिलै, मिश्रित भाषा भेस॥

२. भाखा बद्ध करब मैं सोई। (रामचरितमानस)

३. ताही ते यह कथा जथामति भाखा कीनी।

४. भाषा कवि भो मन्दमति तिहिं कुल केसोदास। (कविप्रिया)

५. भाखा संस्कृत प्राकृत भणंतां, मूझ भारती ए मरय।
चरण भाट सुकवि भाखा चित्र, करि एकठा तो अरथ कहि।

६. जिती देवबानी प्रगट, है कविता की घात।
तें भाषा में होय तो सब समझैं रस बात॥ (रसरहस्य)

७. ग्रामर आफ द ब्रजभाखा, जियाउद्दीन, पृ० ७।

८. वही।

९. जनरल प्रिंसिपल्स आफ इनफ्लेक्शन ऐण्ड कंजूगेशन इन द ब्रजभाषा, कलकत्ता, १८११।

'भाखा' का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"तीसरी नरवाणी या 'भाखा' है। इस भाखा का हम व्याकरण लिख रहे हैं। 'भाखा' संस्कृत शब्द है, जिसका मूल अर्थ सामान्य भाषा से है। किंतु अब इसका प्रयोग नरबानी या हिंदुओं की जीवित भाषा से लिया जाता है। खास तौर से यह 'भाखा' ब्रज प्रदेश में बोली जाती है। ब्रज आगरा और दिल्ली के बीच एक जिला है, जिसमें भरतपुर भी सम्मिलित है।" आगे लल्लूलालजी कृष्णकवि का एक दोहा उद्धृत करते हैं, जिसमें भाखा की स्थिति बतलाई गई है—

पौरुष कविता त्रिविध है, कबि सब कहत बखान।
प्रथम देवबानी बहुरि, प्राकृत भाखा जान।।

इस प्रकार रूढ़ अर्थ 'भाखा' शब्द से ब्रज भाषा का बोध होता था। सामान्यतः सभी संस्कृतेतर बोलियों का भी बोध होता था, (ग्रामर आफ द ब्रजभाखा, जियाउद्दीन, पृ० ७)। गार्सा द तासी ने भाषा का प्रयोग किया है (हिंदुई साहित्य का इतिहास, अनु० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० २)।

पिंगल—अर्द्ध अपभ्रंश की स्थिति अपभ्रंश और भाखा के बीच की स्थिति बताती है। इसका रूप पृथ्वीराज रासो तथा राजस्थान के 'पिंगल'-साहित्य में मिलता है।[1] गुरु गोविंदसिंह (सं० १७२३ से ६५) के विचित्र नाटक में यह शब्द मिलता है।[2] इसके पश्चात् इस शब्द का प्रयोग राजस्थान के अनेक चारण कवियों ने किया। बांकीदास[3], बुधाजी[4], सूरजमल[5], मुरारिदान[6] आदि ने इस

१. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, इन्डोएरियन ऐण्ड हिन्दी, पृ० ६६।
२. दशमग्रंथ, श्री गुरुमत प्रेस, अमृतसर द्वारा प्रकाशित, पृ० ११७—'भाषा पिंगल दी'।
३. बाँकीदास ग्रंथावली, भाग २, पृ० ८१।
४. वही, पृ० २।
५. वंश भास्कर. प्रथम रश्मि, चतुर्थ मयूख, पृ० ४०।
६. डिंगल कोष, पृष्ठ १६।

शब्द का प्रयोग किया है। पिंगल शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा के लिए होता था।[1] डा० ग्रियर्सन ने पिंगल की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से बताई है।[2] डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी यही बात कही है।[3] सूरजमल ने 'पिंगल उपनायक गिरा' की स्थिति दिल्ली और ग्वालियर के बीच बताई है।[4]

मध्यदेसी—यह नाम बहुधा नहीं मिलता। बनारसीदास जैन के अर्द्ध-कथानक में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है—

मध्य देस की बोली बोलि।
गर्भित बातें कहूं जी खोलि॥

मध्यदेश का परिचय तो 'कविप्रिया' में महाकवि केशवदासजी ने भी दिया था और वहाँ की भाषा को 'सुभाषा' लिखा है, अर्थात् सुन्दर भाषा।[5] इन पद्यों में भाषा मध्यदेशी नहीं कही गई, केवल मध्यदेश की बोली या भाषा की बात कही गई है।

अन्तर्वेदी—पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने एक दोहा उद्धृत किया है[6]—

---

१. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृष्ठ १४।

२. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, भाग प्रथम, पृष्ठ १२६।

३. राजस्थानी भाषा, पृष्ठ ६४।

४. पुर दिल्ली औ ग्वालियर, बीच ब्रजादिक देस।
पिंगल उपनायक गिरा, तिनकी कथा बिसेस॥

५. आछे-आछे असन बसन बस पास पसु,
दान सनमान मान वाहन बखानिए।
लोग भोग योग आग बाग राग रूपयुत,
भूषननि भूषित सुभाषा मुख आनिए॥
सातौ पुरी तीरथ सरित सब गंगादिक,
'केशोदास' पूरन पुरान गुन जानिए।
गोपाचल-ऐसे गढ़ राजा मानसिंहजू-से,
देशन की मणि यह मध्यदेश जानिए॥

६. भारती', जून, १९५४, पृ० ७।

अन्तर्वेदी नागरी, गौड़ी पारस देस ।
अरु जामें अरबी मिलै, मिश्रित भाषा भेस ।।

इसमें 'अन्तर्वेदी' शब्द आया है । डा० ग्रियर्सन ने भी लिखा है कि ब्रजभाषा को अन्तर्वेदी भी कहा जाता है ।[1] अन्तर्वेद की भाषा इसका अर्थ है । अन्तर्वेद का परिचय उन्होंने इस प्रकार दिया है—यज्ञों की भूमि के अंतर्गत स्थित पवित्र देश ।[2]

ग्वालियरी—श्री अगरचन्द नाहटा ने 'ग्वालियरी हिंदी का प्राचीनतम ग्रन्थ' नामक एक लेख लिखा है ।[3] उनके अनुसार जयकीर्ति ने सं० १६८६ (सन् १६२६) में 'कृष्ण-रुक्मिणी री बेलि' पर टीका लिखी थी । उसने ग्वालेरी भाषा के संबंध में एक दोहा उद्धृत किया है ।[4] जयकीर्ति ने जिस ग्वालेरी भाषा वाली टीका के बारे में कहा है उसका कर्ता गोपाल कवि है, जो अपनी पुस्तक में अपनी भाषा को 'ब्रजभाषा' कहता है । अर्थात् ग्वालियरी भाषा और ब्रजभाषा कभो पर्याय थीं ।[5] भाषा कई थीं, पर उन सबमें 'ग्वालेरी' भाषा 'रससार' मानी जाती थी ।[6] राहुलजी के मत से 'ब्रज बुंदेलखंडी' भाषा ग्वालेरी कही जाने लगी ।[7]

प्रारम्भ में 'भाखा' कहलाने वाली भाषा 'ब्रज भाखा' हुई ।[8] डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार 'ब्रजभाषा' शब्द का प्रयोग पहले-पहल

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, जिल्द ६, भाग १, पृ० ६६ ।
२. वही ।
३. 'भारती', मार्च १६५५ ।
४. ग्वालेरी भाषा गपिल, मन्द अरथ मतिभाव ।
बात बन्ध किय भाषवित्, समझत हिय समभाव ।।
५. राहुल सांकृत्यायन, 'भारती', अगस्त १६५५, पृ० १६७ ।
६. देस-देस तें होत सो, भाषा बहुत प्रकार ।
लेखत हैं तिन सबन में, ग्वालियरी रससार ।।
लल्लूलालजी द्वारा 'जनरल प्रिंसिपल्स आफ इनफ्लेक्शन ऐण्ड कंजूगेशन इन द ब्रजभाषा' की भूमिका में उद्धृत ।
७. 'भारती', अगस्त १६५५, पृ० १६७ ।
८. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १८ ।

दास ने अपने काव्य-निर्णय में इस भाषा की व्याख्या की है।[1] ब्रजभाषा शब्द इस प्रकार काफी प्रचलित रहा।

विकास

डा० ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा का संबंध शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश से बताया है।[2] डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ब्रजभाषा की परम्परा इस प्रकार बताई है—"ऐतिहासिक विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उदीच्य और मध्यदेश, पंजाब और पछांह, विशेष करके मध्यदेश, में भारतीय आर्य सभ्यता ने अपनी विशेषताएँ प्राप्त कीं और इन प्रान्तों की भाषा युग-युग में सर्वजनगृहीत और सर्व-जनसमादृत हुई—संस्कृत, पालि, शौरसेनी, अपभ्रंश, ब्रजभाषा[3]।" मोतीलाल मेनारिया का मत है, "चौदहवीं शताब्दी में जिस समय राजस्थानी भाषा का उदय हो रहा था लगभग उसी समय शूरसेन देश अथवा ब्रज मंडल में ब्रजभाषा विकसित हो रही थी, जिसका आधार शौरसेनी अपभ्रंश था। आरम्भ में यह भाखा कहलाती थी, पर बाद में ब्रजभाषा के नाम से पुकारी जाने लगी।"[4] गार्सा द तासी ने भी अपने इतिहास में 'भाखा' ही लिखा है।[5] डा० सुनीतिकुमार चटर्जी इसके विकास-क्रम को इस प्रकार बताते है—"ऐसा जँचता है कि अपनी बेटी ब्रजभाषा में शौरसेनी अपभ्रंश को नवीन कलेवर मिला; नए आयुकाल को उसने प्राप्त कर लिया।"[6] आगे वे मध्यदेश की भाषाक्रम के सूत्र देते हैं[7]—

---

१. ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहै सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रकट जु होय॥

२. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, जिल्द ६, भाग १, पृ० २।

३. ऋतम्भरा, हिन्दी की उत्पत्ति, पृ० ७।

४. राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १०।

५. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनु० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० २।

६. पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ८०।

७. वही, पृ० ८१।

१. संस्कृत ।

२. प्राचीन शौरसेनी, जिसका एक साहित्यिक रूप है, पालि ।

३. शौरसेनी प्राकृत ।

४. शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसी का रूप-भेद नागर अपभ्रंश ।

५. राजस्थान की पिंगल भाषा तथा पुरानी ब्रजभाषा ।

६. मध्यकालीन ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली की मिश्र शैली ।

७. दकनी ।

८. दिल्ली की खड़ी बोली ।

९. आधुनिक नागरी हिंदी, उसका मुसलमानी रूप उर्दू । उर्दू का जन्म भी ब्रजभाषा से हुआ ।[1] मौलाना आजाद का भी यही मत था ।[2]

ब्रजभाषा का विस्तार

भिखारीदासजी ने लिखा है कि ब्रजभाषा की कविता करने के लिए ब्रजवास आवश्यक नहीं है । ब्रजभाषा का परिचय ब्रज से बाहर रहने वाले कवियों से भी मिल सकता है ।[3] सोलहवीं शती के मध्य तक ब्रजभाषा सारे मध्यदेश की साहित्यिक भाषा हो गई

---

१. मद्रास में उर्दू, बाकर आगाह; इब्राहीमिया मशीन प्रेस, हैदराबाद, पृ० ४६ ।

२. चन्द्रबली पांडेय, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ८६ ।

३. सूर, केसव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिन्तामणि, मतिराम, भूषन, सुजानिए ।
लीलाधर सेनापति, निपट, नेनाज, निधि,
नीलकण्ठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए ॥
आलम, रहीम, रसखान, सुन्दरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए ।
ब्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमानौ,
ऐसे - ऐसे कविन की बानी हू सौं जानिए ॥

थी ।[1] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने 'मध्यदेश का विकास' शीर्षक लेख ऐतरेय से लेकर अलबरूनी तक का विकास चित्रित किया है । उनके अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण में मध्यदेश का अर्थ कुरु, पांचाल, वंश और उशीनरों का प्रदेश था, अर्थात् पश्चिम में प्रायः कुरुक्षेत्र से लेकर पूर्व में फर्रुखाबाद के निकट तक और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में प्रायः चम्बल नदी तक का आर्यावर्त देश ऐतरेय ब्राह्मण के युग में मध्यदेश गिना जाता था ।[2] मनु के अनुसार हिमालय और विंध्य के बीच का देश जो पश्चिम में विनशन तक और पूर्व में प्रयाग तक है, मध्यदेश बताया गया है ।[3] विनशन मेवाड़ या उदयपुर के पश्चिम का मरुदेश है ।[4] बौद्ध साहित्य में मध्यदेश की सीमाएं इस प्रकार दी हुई हैं—मध्यदेश की पूर्व दिशा में कजंगल नामक कस्बा है । उसके बाद बड़े शाल के वन हैं और फिर आगे सीमांत (प्रत्यंत) देश हैं । पूर्व-दक्षिण में सललवती नामक नदी है । उसके आगे सीमान्त देश दक्षिण दिशा में सेत कारणक नामक कस्बा है । उसके बाद सीमान्त देश पश्चिम दिशा में थून नामक ब्राह्मण ग्राम है । उसके बाद सीमांत उत्तर दिशा में उशीरध्वज नामक पर्वत है । उसके बाद सीमांत देश है ।[5] इत्सिंग ने अपनी यात्रा के विवरण में मध्य-देश की ये सीमाएं लिखी हैं—स्थूल रूप से भारत के मध्यदेश से

---

१. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० ११ । यहाँ लेखक ने एक टिप्पणी दी है—"कनौज के राजकवि राजशेखर (सं० ९३७ से ७७) के अनुसार बनारस मध्यदेश का पूर्वी बिन्दु था । पञ्जाब के कर्नाल जिले का पृथूदक अथवा पिहोवा उसकी उत्तरीय एवं आबू पर्वत पश्चिमीय सीमा थे । दक्षिण में उसका विस्तार गोदावरी तक था, जिसमें राजस्थान का भी एक बड़ा भाग सम्मिलित था ।"

२. 'विचारधारा', पृ० १० ।

३. "हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥" (मनु० २, ११)

४. 'भारती', जून १९५४, पृ० ७ ।

सीमांत भूमियों (प्रत्यंतक) तक का अन्तर पूर्व में और पश्चिम में ३० योजन से अधिक है। दक्षिण में और उत्तर में प्रत्यंतक की दूरी ४०० योजन से अधिक है।[१] सं० १३६१ में मेरुतुंगाचार्य ने, 'प्रबंध चिंतामणि' में मध्यदेश का नाम तो दो बार लिया है पर उसकी सीमाएं नहीं लिखीं।[२] ई० चौदहवीं शती के अन्त में 'मानकुतूहल' की रचना हुई। उसका फारसी अनुवाद सन् १६६६ में फ़कीरुल्ला ने किया। उसने लिखा है कि मानसिंह तोमर द्वारा प्रवर्तित ध्रुपद के पद देशी भाषा में लिखे जाते थे। वह इस प्रदेश को 'सुदेश' कहता है। इस सुदेश की सीमाओं के संबंध में वह लिखता है—"सुदेश से मतलब है ग्वालियर से, जो आगरा का राज्य-केन्द्र है और जिसके उत्तर में मथुरा तक, पूर्व में उन्नाव तक और दक्षिण में ऊज तथा पश्चिम में बारां तक है। भारतवर्ष में इस बीच की भाषा सबसे अच्छी है।[३] कवि केशवदासजी ने सं० १६०१ में मध्यदेश में सातों पुरी, सब तीर्थ, गंगादिक नदी, गोपाचलगढ़ लिखे हैं।[४] बनारसीदास जैन ने अपने 'अर्द्ध-कथानक' में सीमा तो नहीं लिखी पर अपना निवास 'मध्यदेश' में बताया है।[५] उन्होंने अपनी भाषा को मध्यदेश की बोली बताया है।[६] इस प्रकार मध्यदेश और ब्रज-भाषा का संबंध माना जाता रहा।

पीछे के लेखकों ने व्रजभाषा की सीमाओं पर जो लिखा है उस पर और दृष्टि डाल लेनी चाहिए, ताकि ब्रजभाषा के विस्तार का विकास स्पष्ट हो। 'वंश भास्कर' के रचयिता प्रसिद्ध चारण

---

१ इत्सिंग की भारत यात्रा, (सन्तराम बी० ए०), भूमिका, पृ० 'य'।

२. प्रबन्ध चिंतामणि, सिंघी जैन ग्रंथमाला, पृ० ४५ तथा ८७।

३. हरिहरनिवास द्विवेदी, मानसिंह और मानकुतूहल, पृ० ६१।

४. यह कवित्त 'कविप्रिया' में है और पीछे उद्धृत हो चुका है।

५. याही भरत सुखेत में, मध्यदेस सम ठाऊं।
बसै नगर रोहतिगपुर, निकट बिहोली गाऊं॥

६. मध्यदेस की बोली बोलि। गर्भित बातें कहूँ जो खोलि॥

सूरजमल ने एक दोहे में ब्रजभाषा का प्रदेश दिल्ली और ग्वालियर के बीच माना है ।[1] 'तुहफतुल-हिंद' के कर्ता मिरजाखाँ ब्रजभाषा के क्षेत्र का इस प्रकार उल्लेख करते हैं—भाखा ब्रज तथा उसके पास-पड़ोस में बोली जाती है । ग्वालियर तथा चन्दवार[2] भी उसमें सम्मिलित हैं । गंगा-यमुना का दोआब भी ब्रजभाषा का क्षेत्र है ।[3] इसके पश्चात् जो ब्रजभाषा व्याकरण मिलता है वह लल्लूलालजी का है । उसमें ब्रजभाषा का क्षेत्र दिया हुआ है । मुखपृष्ठ पर ही लेखक ब्रजभाषा को स्पष्ट करता हुआ लिखता है कि ब्रजभाषा वह भाषा है जो ब्रज, जिला ग्वालियर, राज भरतपुर, बुएस्वर, भदावर, अंतर्वेद तथा बुंदेलखंड में बोली जाती है ।[4] आगे लेखक बताता है कि ब्रज और ग्वालियर जिलों की भाषा शुद्ध 'ब्रजभाखा' है । डा० ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के विस्तार को इस प्रकार लिखा है—मथुरा को केन्द्र मानते हैं । दक्षिण में यह आगरे तक, भरतपुर राज्य के बड़े भाग में, धौलपुर में तथा करौली में ब्रजभाषा बोली जाती है । ग्वालियर के पश्चिमी भागों तथा जयपुर के पूर्वी भाग तक यही भाषा है । उत्तर में गुड़गाँव के पूर्वी भाग तक ब्रजभाषा प्रचलित है । उत्तर-पूर्व में इसकी सीमाएँ दोआब तक, बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा तथा गंगापार तक, बदायूँ, बरेली तथा नैनीताल के तराई परगनों तक जाती हैं ।[5] मध्यवर्ती दोआब की भाषा को 'अंतर्वेदी' कहा गया

---

१. पुर दिल्ली औ ग्वालियर, बीच ब्रजादिक देस ।
पिंगल उपनायक गिरा, तिनकी मधुर विसेस ।।

२. आगरा के पूर्व २५ मील पर स्थित; मथुरा से इटावा वाले रास्ते पर यमुना नदी के किनारे चौहानों की बस्ती । देखिए जैरेट्स, आईने-अकबरी, पृष्ठ १८३ ।

३. जियाउद्दीन, द ग्रामर आफ ब्रजभाखा, भूमिका, पृष्ठ ७ ।

४. जनरल प्रिंसीपल्स आफ इनफ्लेक्शन ऐण्ड कंजूगेशन इन द ब्रजभाखा ।

५. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, जिल्द ९, पृष्ठ ६९ ।

है।[1] मध्यवर्ती दोग्राब की सीमाओं में आगरा, एटा, मैनपुरी, फर्रुखाबाद तथा इटावा जिले आते हैं। यहाँ इतनी बात जान लेनी चाहिए कि इटावा और फर्रुखाबाद में कनौजी है, शेष में ब्रजभाषा।

अलीगढ़ की भाषा को अधिकांश ब्रजभाषा कहा गया है।[2] मैनपुरी की भाषा को गजेटियर में ब्रज नाम नहीं दिया गया है। पर यहाँ की भाषा की जो विशेषताएँ दी गई हैं, वे ब्रज से मिलती-जुलती हैं[3]।

कैलांग ब्रजभाषा के क्षेत्र के विषय में कहता है कि राजपूताना की बोलियों के उत्तर-पूर्व, पूरे 'अपर दोआब' में तथा गंगा-यमुना की घाटियों में ब्रजभाषा बोली जाती है[4]। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इन सीमाओं को और विस्तृत कर दिया है और उसका प्रसार निम्नलिखित प्रदेशों में माना है—उत्तर प्रदेश के मथुरा, अलीगढ़, आगरा, बुलंदशहर, एटा, मैनपुरी, बदायूँ तथा बरेली के जिले; पंजाब के गुड़गांव जिले की पूर्वी पट्टी; राजस्थान में भरतपुर, धौलपुर, करौली तथा जयपुर का पूर्वी भाग; मध्यभारत में ग्वालियर का पश्चिमी भाग। क्योंकि ग्रियर्सन साहब का यह मत लेखक को मान्य नहीं कि कनौजी स्वतंत्र बोली है, इसलिए उत्तर प्रदेश के पीलीभीत, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा और कानपुर के जिले भी ब्रज प्रदेश में सम्मिलित कर लिए गए हैं[5]।

ब्रज साहित्य मंडल के फीरोजाबाद अधिवेशन में भाषण करते हुए श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने ब्रज की सीमाओं के विषय में श्रीनारायण चतुर्वेदी के मत का उल्लेख करते हुए कहा था कि

---

१. वही, पृष्ठ ६९।

२. एच० आर० नौविल, अलीगढ़ गजेटियर, पृ० ५५-५६। ९४.१४ प्रतिशत जनसंख्या अन्तर्वेदी बोलती है।

३ स्टैटिस्टीकल डिस्क्रिप्टिव ऐण्ड हिस्टोरीकल एकाउंट आफ एन० डब्ल्यू० प्राविंसेज आफ इंडिया (एटकिंसन), जिल्द ४, भाग १, पृ० ५६९।

४. ग्रामर आफ दि हिंदी लैंग्वेज, पृ० ६६।

५. ब्रजभाषा, पृ० ३३।

अभी तक ब्रज की सीमाएँ पूर्णतया निश्चित नहीं हो पाईं। परंतु एक दृष्टि से दिल्ली के दक्षिण से लेकर इटावे तक और अलीगढ़ से लेकर धौलपुर और ग्वालियर तक ब्रज मंडल का विस्तार है[१]। श्री जगदीश चतुर्वेदी के अनुसार उत्तर-पूर्व में ब्रजभाषा की सीमा अलीगढ़ जिले तक तथा एटा जिले में सोरों के आसपास तक जाती है; पूर्व में यह भाषा शिकोहाबाद, इटावा व मैंगपुरी की सीमाओं तक बोली जाती है। आगरा जिला तो ब्रज के क्षेत्र में है ही। दक्षिण में धौलपुर, ग्वालियर राज्य की उत्तर सीमा तक यही भाषा है। दक्षिण-पश्चिम में धौलपुर तथा ग्वालियर राज्य का कुछ भाग इस भाषा क्षेत्र में सम्मिलित है[२]।

यह बोली जाने वाली भाषा की सीमाएँ हुईं। काव्य के लिए इस भाषा का प्रयोग बहुत व्यापक था। इस संबंध में डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहते हैं—"ब्रज की वंशी-ध्वनि के साथ अपने पदों की अनुपम झंकार मिलाकर नाचने वाली मीरा राजस्थान की थीं, नामदेव महाराष्ट्र के थे, नरसी गुजरात के थे, भारतेंदु हरिश्चंद्र भोजपुरी भाषा क्षेत्र के थे। ब्रजभाषा को अपनाकर एक से एक कवियों की रससिद्ध वाणी से उसे इतना समृद्ध बना देने वाले पुष्टिमार्ग के आचार्य भी दाक्षिणात्य थे। बिहार में भोजपुरी, मगही और मैथिली भाषा क्षेत्रों में भी ब्रजभाषा के कई प्रतिभाशील कवि हुए हैं"।[३] अगरचंद नाहटा के एक लेख[४] के अनुसार ब्रजभाषा कच्छ तक समादृत थी। वहां के महाराव लखपत बड़े विद्याप्रेमी थे। इसके प्रचार के लिए उन्होंने एक विद्यालय खोला था, जिसमें मारवाड़, गुजरात आदि दूर-दूर से ब्रज-काव्य की शिक्षा पाने के इच्छुक पहुँचते रहे हैं। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार सुदूर दक्षिण में भी

---

१. 'ब्रजभारती', वर्ष ५, सं० १ पृ० ३।
२. 'ब्रजभारती', वर्ष २, अंक ४, पृ० २६।
३. 'नई धारा', पटना. वर्ष ४, अंक ११, पृ० ६।
४. सुन्दर शृङ्गार की भाषा. 'भारती' अप्रैल १६५५, पृ० ३१२ से १४।

ग्वालियरी भाषा पहुँची थी। ग्वालेरी का उल्लेख जयकीर्ति आदि ने ही नहीं किया, बल्कि सुदूर दक्षिण में स्थापित बहमनी उत्तराधिकारिणी रियासतों के साहित्यकार भी ग्वालेरी कविता का बड़ी श्रद्धा के साथ उल्लेख करते थे[१]। अगरचंद नाहटा ने भी ब्रजभाषा के प्रसार पर अपना मत देते हुए लिखा है—"मध्यकाल में ब्रजभाषा का प्रसार ब्रज एवं उसके आसपास के प्रदेशों में ही नहीं, पूर्ववर्ती प्रदेश में भी रहा है। बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, काठियावाड़ एवं कच्छ आदि में भी ब्रजभाषा की रचनाएँ हुई हैं"।[२] बंगाल के कवियों ने भी ब्रजभाषा में कविता लिखी[३]। मराठा पोवाड़ा या युद्धगीत के लेखक भी कभी-कभी ब्रजभाषा का प्रयोग करते थे[४]।

मद्रास में उर्दू का आधार बनकर ब्रजभाषा पहुँच गई[५]।

ब्रजभाषा का विकास

१००० ई० तक अपभ्रंश भाषा और साहित्य का बोलबाला रहा। उसके पश्चात् एक नवीन मोड़ आता है। प्राकृतें प्रादेशिक अपभ्रंशों की राह से परिवर्तित होकर आधुनिक भारतीय भाषाओं का रूप ग्रहण करने लगीं। वैसे अपभ्रंश की परम्परा इस समय भी थोड़ी-बहुत चल रही थी। यह अपभ्रंश-परम्परा दो रूपों में रही—शुद्ध रूप में तथा देशी भाषाओं की शब्दावली तथा मुहावरों के रूप में। इस प्रकार एक अर्द्ध-अपभ्रंश और अर्द्ध नवीन भाषा साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित हुई। पश्चिम में इस भाषारूप के दर्शन राजस्थान के डिंगल तथा पृथ्वीराज रासो आदि पिंगल ग्रंथों में मिलते

---

१. 'भारती', अगस्त १९५५, पृ० १६७।

२. 'ब्रजभारती', वर्ष १२, सं० १ (सं० २०११), ब्रजभाषा का विशिष्ट ग्रन्थ प्रवीणसागर।

३. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ८०।

४. वही।

५. बाकर आगाह, मद्रास में उर्दू, इब्राहिमिया मशीन प्रेस, हैदराबाद १९३८, पृ० ४६।

है। पिंगल और ब्रजभाषा में कोई मौलिक अन्तर नही है। अपभ्रंश का नव्यभारतीय भाषा से मिश्रित या प्रभावित एक रूप १४०० ई० के लगभग पूर्वी भारत में 'अवहट्ट' के रूप में भी विकसित हो रहा था। नव्यभाषा की प्रतिष्ठा दृढ़ से दृढ़तर होती जा रही थी। इसमें सांस्कृतिक कारण भी कार्य कर रहा था।

तुर्कों के साथ एक असहिष्णु, आक्रामक धर्म भारत में प्रविष्ट हुआ। उच्च और जागरूक वर्गों के सामने आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सुरक्षा का प्रश्न प्रबल था। सभी वर्गों में भारतीय सस्कृति के तत्त्वों को पहुँचाने का प्रश्न था। इस कार्य के लिए लोक-भाषा ही माध्यम हो सकती थी। ब्राह्मणों ने रामायण, महाभारत, तथा अन्य पुराणों के अध्ययन और अनुवाद प्रस्तुत किए। दूसरा प्रचारक वर्ग साधुओं का था, जो राम, शिव आदि का मर्मोद्घाटन करता फिरता था। इनकी शैली भक्तिपूर्ण गीतों और पदों की थी। अपनी परम्परा के अनुसार इस धार्मिक और पौराणिक साहित्य की रचना अध्यदेश की भाषा में हुई। पश्चिमी अपभ्रंश समस्त उत्तर भारत की काव्य-भाषा बन गई थी। पश्चिमी अपभ्रंश का विकास दो रूपों में हुआ।

आकारान्त और औकारान्त परम्परा

हेमचंद्र (१०८८-११७२ ई०) ने अपने प्राकृत व्याकरण में पश्चिमी अपभ्रंश के प्रचलित साहित्य के कुछ उदाहरण दिए हैं। नीचे एक उदाहरण है—

भल्ला हुआ जो मारिआ वाहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जम् तु वयस्सि अहु, जइभग्गा घर एन्तु॥

इस पद्य में भल्ला, हुआ, मारिआ, महारा, भग्गा शब्द आकारान्त वाली धारा का परिचय दे रहे हैं। ब्रजभाषा, पिंगल, बुंदेली, कनौजी बोलियों में यह आकारान्तता नहीं मिलती। इन शब्दों का इन बोलियों में औकारान्त हो जाता है। पर उकारान्तता अवश्य मिलती है। इससे स्पष्ट होता है कि उकार-बहुलता तो समस्त पश्चिमी अपभ्रंश की विशेषता थी। पर आगे चलकर उसके विकास

को दो दिशाएँ हो गईं—औकारान्त और आकारान्त। औकारान्त भाषा का रूप 'पउम-चरिउ'-जैसे काव्य-ग्रन्थों में भी मिलता है[1]। पंजाब से दिल्ली तक भाषा का आकारान्त रूप रहा। ब्रज में औकारांत वाली प्रवृत्ति चली। पहली विशेषता खड़ी बोली—हिंदुस्तानी की है।

अब तक मुसलमानों का राज्य स्थापित हो चुका था। उनके सम्मुख किसी भारतीय भाषा को अपनाने का प्रश्न था; स्वभावतः उन्होंने पंजाब की प्रचलित भाषा को अपनाया। फिर मुस्लिम राज्य और संस्कृति का केंद्र दिल्ली हुआ। पंजाब की बोली का जो रूप मुसलमानों के साथ-साथ दिल्ली आया वह दिल्ली के उत्तर और उत्तर-पश्चिम के जिलों की बोली से कुछ बातों में मिलता था। आकारांतता विशेष रूप से समान थी। ब्रजभाखा, कनौजी और बुंदेली औकारांत बोलियाँ थीं, जिनमें काव्य रचा गया। जो सांस्कृतिक विषयों को लेकर चलीं। देशज हिंदुस्तानी (मेरठ, रुहेलखंड डिवीजन एवं अंबाला जिला), बांगड़ू या हरियानी (दिल्ली, रोहतक, हिसार, पटियाला) बोली आकारांत थीं। मुसलमानों का आश्रय पाकर ये बोलियाँ बोलचाल में प्रयुक्त होने लगीं। वैसे दिल्ली का स्पर्श राजस्थानी और ब्रजभाखा भी करती हैं, पर बाँगड़ू के मध्य स्थित होने के कारण दिल्ली में मुसलमानों के द्वारा विकसित नई भाषा पर बाँगड़ू और देशज हिंदुस्तानी का प्रभाव अधिक पड़ा। संत साहित्य मुस्लिम प्रभाव के कारण खड़ी बोली के रूपों से युक्त रहा और भक्ति-साहित्य कृष्ण और ब्रज के प्रभाव के कारण ब्रजभाषा में अधिक रचा गया।

सर्वनाम का भेद

खड़ी बोली और ब्रजभाषा का एक और अन्तर है। यह अंतर है सर्वनाम रूपों में। 'ता', 'वा', 'या', 'जा', 'का' तिर्यक् सर्वनाम रूप ब्रजभाषा में मिलते हैं। खड़ी बोली समूह में 'तिस', 'उस्', 'इस्',

---

१. मुनि जिनविजयजी, 'पउमचरिउ की भूमिका', जिल्द १, पृ० ६१।

'जिस', 'किस्' आदि मिलते हैं। इस विषय में भी पंजाबी का खड़ी बोली से साम्य है।

इस युग की भाषा की अवस्था यह बनी—मुसलमान अपनी साहित्य-रचना फारसी में करते थे। राजस्थान के साहित्यिक राजस्थानी के साहित्यिक रूप 'डिंगल' में तथा पश्चिमी अपभ्रंश के राजस्थान में प्रचलित रूप 'पिंगल' का व्यवहार करते थे। मथुरा केंद्र ब्रजभाखा का था। पूर्व में विहार तक, पश्चिम में पंजाब और राजपूताना के कुछ भाग तक, दक्षिण में बरार तक तथा उत्तर में गढ़वाल तथा कुमायूँ तक उसी के विभिन्न परिवर्तित रूपों का व्यवहार होता था। पंजाब के हिंदू एक प्रकार की पंजाबी मिश्रित ब्रजभाषा लिखते थे। ब्रजभाषा के संबंध में डा० चटर्जी का मत यह है—"ईसा के बिलकुल पश्चात् की ही शताब्दियों में सबसे अधिक लालित्यपूर्ण प्राकृत, शौरसेनी प्राकृत की सीधी वंशज ब्रजभाखा का ही ऊपरी गंगा के मैदान में साहित्यिक भाषा के रूप में सबसे अधिक प्रचार था एवं उसी का सबसे अधिक अध्ययन भी होता था। यहाँ तक कि उत्तरी भारत के मुसलमान अभिजात-वर्ग भी इसके सौंदर्य के प्रभाव से बचे न रह सके। पहले तो ब्रजभाखा के समक्ष हिंदुस्तानी को कोई स्थान ही नहीं मिला, परंतु धीरे-धीरे वह आगे बढ़ती गई"।[1] मुगल सम्राटों तक ने ब्रजभाखा में कविता की। ब्रजभाखा की दूसरी विशेषता उकार-बहुलता थी। इस पर भी संक्षेप में दृष्टिपात कर लेना उचित होगा।

उकार-बहुला-प्रवृत्ति और ब्रजभाषा

ब्रजभाषा मुख्यतः उकार-बहुला है। बाँगड़ू और हरियानी के क्षेत्र का स्पर्श करता हुआ ब्रज-भाग उकार-बहुला भाषा का क्षेत्र नहीं है। भरत ने एक उकार-बहुला विभ्रष्ट भाषा की सूचना दी है[2]।

---

१. भारतीय आर्य भाषा और हिंदी, पृ० १८६।

२. नाट्यशास्त्र, १७,६१।

यह उकार-बहुला भाषा आभीरों की भाषा थी[1]। इसका प्रचार-क्षेत्र हिमवत्, सिन्धु, सौवीर बताया गया है।[2] दंडी ने भारत की इसी उकार-बहुला भाषा को अपभ्रंश माना है।[3] डा० गुणे ने अपभ्रंश को प्राकृत का वह भ्रष्ट रूप माना है जिसे विदेशी आभीर बोलते थे।[4] ब्रज आभीरों का मुख्य निवास-स्थान रहा। पालि में उकार-बहुला प्रवृत्ति के दर्शन होते है। वहाँ 'ऋ' का 'उ' हो जाता है[5]—

ऋतु = उतु
वृक्ष = रुक्ख

प्राकृतों में भी प्रारंभिक 'ऋ', 'रि' अथवा 'रु' व्यंजनों में परिवर्तित हो जाता था—वृक्ष=रुक्खो। 'ऋ' का 'उ' भी हो जाता था—ऋतु=उदु; मृणाल=मुणाल; पृथिवी=पुहवी; ऋजु=उज्जु। ई० दूसरी शती का लिखित प्राकृत 'धम्मपद' पेशावर के आसपास खोतन के निकट गोशृङ्ग अथवा गोशीर्ष विहार में प्राप्त हुआ। उसमें भी उकार-बहुलता पाई जाती है।[6] 'ललितविस्तर' की भाषा भी उकार की बहुलता से युक्त है।[7] प्राकृत वैयाकरणों ने यद्यपि उकार-बहुला विशेषता का स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं किया है, पर उनके समय में उकार-रूप पनपने अवश्य लगे थे। पुरुषोत्तमदेव ने टक्क-विभाषा को संस्कृत और शौरसेनी का मिश्रित रूप मानते हुए उसे उकार-बहुला माना है।[8] अश्वघोष (ई० प्रथम शती) के नाटक

---

१. वही, १७, ४६, ५४, ५५।
२. "हिमवत्सिंधुसौवीरान्, येऽन्यदेशान्समाश्रिताः।
उकार-बहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्॥"
३. काव्यादर्श, १, ३६।
४. भविस्सत्त कहा, पृ० ४१, ६०।
५. भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ३६-४०।
६. देखिए प्राकृत धम्मपद, सपादक बरुआ और मित्रा (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १६२१)।
७. ललितविस्तर, सम्पा० लेफमान (हाल, १६०२), पृ० १६६।
८. संस्कृत शौरसेन्योः, प्राकृतानुशासन, १६,१। उद्बहुलम्, वही, १६,२।

की भाषा प्रारंभिक प्राकृत का उदाहरण है। उसमें दुष्ट, गणिका, विदूषक आदि के कथनों में 'अः' या 'ओ' मिलता है। अपभ्रंश में यही 'ओ' 'उ' हो गया। इससे पहले भी यह बात पश्चिमोत्तरी प्राकृत में दृष्टिगोचर होती है।[1] मध्यएशिया से ऑरेल स्टाइन द्वारा प्राप्त खरोष्ठी लेखों की प्राकृत भाषा में 'अः'='उ' का वैकल्पिक प्रयोग मिलता है—प्रातः=प्रतु; कुजरः=कुजरु। अकारान्त का उकारान्त भी मिलता है—विराग=विरुकु। महाराष्ट्री प्राकृत में भी 'अः'='उ' के उदाहरण मिलते है–उदधितः=उग्रहीउ। शौरसेनी में उकारान्त का ओकारान्त मिलता है। मागधी प्राकृत में प्रथमा एकवचन ('सु') में भूतकालिक कृदन्त–'क्त' से निर्मित शब्दो में विभक्ति का या तो लोप हो जाता है या उसके स्थान पर 'उ' का प्रयोग मिलता है[2]—हसति=हशिदु। अर्द्धमागधी में प्रथमा एकवचन 'अहः' के लिए गद्य में प्रायः 'ए' तथा पद्य में 'ओ' मिलता हैं।[3] प्राकृत को वररुचि ने शौरसेनी प्राकृत पर आधारित माना है।[4] हेमचंद्र का भी ऐसा ही विचार दीखता है।[5] उसमें भी 'अः' का 'ओ' मिलता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृतों मे अः=ओ की प्रवृत्ति मुख्य रूप से थी, पर कथित रूप 'उ' वैकल्पिक रूप से मिलता था। इसका कारण आभीर-जाति की उच्चारण-विधि हो सकता है।

अपभ्रंशों में यह प्रवृत्ति प्रमुख हो गई। अपभ्रंशो में होती हुई वह आगे भी चली है। 'सन्देश रासक' की भाषा पर विचार करते हुए श्री भयाणी ने मध्यम 'व' के लोप को परवर्ती अपभ्रंशों की एक विशेषता माना है। यह विशेषता ब्रजभाषा की विशेषता भी बन गई।[6] 'व' का लोप होने पर 'उ' का आगम हुआ—जीव=

---

१. सुनीतिकुमार चटर्जी, भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृ० १८६।
२. प्राकृत प्रकाश, १२, ११।
३. सरजूप्रसाद अग्रवाल, प्राकृत-विमर्श, पृष्ठ ८६।
४. प्रकृतिः शौरसेनी, प्राकृत प्रकाश, १०, २।
५. प्राकृत व्याकरण, ४, ३२३।
६. सन्देश रासक, व्याकरण, पैरा ३३ सी।

जीउ। चौदहवीं शती के 'षडावश्यक बालावबोध' में उकार की बहुलता मिलती है।[1] बारहवीं शती में काशी के दामोदर पंडित ने 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' ग्रन्थ रचा। उसकी भाषा प्राचीन कोशली है।[2] शोरसेनी अपभ्रंश के प्रथमा एकवचन के प्रत्यय 'उ' का प्रभाव प्राचीन कोशली पर इतना व्यापक जान पड़ता है कि प्रथमा के अतिरिक्त अन्य विभक्तियों में भी उकारान्त पदों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यह समस्त पूर्वी तथा पश्चिमी अपभ्रंशों की विशेषता हो गई। श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने पूर्वी और पश्चिमी बोलियों के अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा था—"अतः पुल्लिग संज्ञाओं, विशेषणों तथा कृदंतों के कर्ता तथा कर्म कारकों के एकवचन रूपों का उकारांत होना शौरसेनी क्षेत्र की मुख्य पहचान थी। उनका इकारान्त तथा एकारान्त होना एवं उनका अकारांत अथवा आकारांत होना पंजाब प्रान्तीय भाषाओं की"।[3] ब्रजभाषा में ही नहीं, अवधी तक में यह प्रवृत्ति 'उक्ति-व्यक्ति' से होती हुई चली आई है।[4] खड़ी बोली बाँगड़ू और हरियानी क्षेत्र की भाषा और उससे प्रभावित क्षेत्र में उकारान्तता नहीं मिलती। वहाँ अकारान्त संज्ञाएँ अकारान्त ही रहती हैं। यह विशेषता खड़ी बोली को ब्रजभाषा से पृथक् करती है।

ब्रजभाषा की इन दो ऐतिहासिक विशेषताओं—उकार-बहुलता और 'औकारांतता' या 'ओकारांतता'—का विवेचन करने के पश्चात्, साधारणतः ब्रजभाषा की उच्चारण-विधि और व्याकरण का भी संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

---

१. देखिए अगरचन्द नाहटा का लेख, जर्नल आफ़ दि यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी, वर्ष २२ (१९४९), खंड १–२।

२. डा० चटर्जी उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, पृष्ठ २।

३. कोशोत्सव स्मारक ग्रंथ (ना० प्र० स०, सं० १९८५), पृष्ठ ३७५।

४. ब्रजभाषा में इसके विस्तृत परिचय के लिए देखिए मेरा लेख, उकार-बहुला प्रवृत्ति की परंपरा और ब्रज की बोली 'भारतीय साहित्य', वर्ष १, अङ्क ४ (हिंदी विद्यापीठ, आगरा, १९५६), पृ० ६५।

ब्रजभाषा और ब्रज की प्रचलित बोली में अंतर है। ब्रज की आधुनिक बोली के अनेक रूप मिलते हैं। यहाँ इन समस्त रूपों की व्याख्या देना सम्भव नहीं है। केवल साहित्यिक ब्रजभाषा की संक्षिप्त रूपरेखा नीचे दी जा रही है—

ध्वनि-प्रकरण

व का ब हो जाता है—

विपिन = बिपिन
दिवस = दिबस
वन = बन

श का स हो जाता है—

देश = देस
वंश = बंस

शब्द का अंतिम अक्षर यदि 'ल' हो और दीर्घ हो तो वह 'र' के रूप में परिवर्तित हो जाता है—

काले = कारे
पनाले = पनारे
भोली = भोरी

इसके विपरीत इ = ल—

साऊकार = साऊकाल
रेजु = लेजु

इस नियम के अपवाद भी हैं। पर बहुधा यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

कहीं-कहीं 'ड़' का भी 'र' हो जाता है—

भीड़ = भीर
नगाड़े = नगारे
भिड़े = भिरे

संस्कृत 'ण' ब्रज में निर्विवाद रूप से 'न' हो जाता है—

प्राण = प्रान

रण = रन

गण = गन

'क्ष' का विकास दो प्रकार से मिलता है—क्ष=छ और क्ष=ख—

क्षमा = छमा

लक्ष्मी = लच्छिमी

क्षण = छन

क्षोभ = छोभ

क्षीर = खीर

अक्षय = अखै

ध्वनि-विकास की ये प्रमुख दिशाएँ हैं।

अपसर्ग

कर्ता—मै, नें, ने

कर्म, संप्रदान—कों, कौ, कूँ, कुँ, को

करण, अपादान—सों, सौं, सूँ, सुँ, ते, तें, तैं

संबंध—को, कों, कौ, कौ, के, कै, कै, की, कि

अधिकरण—में, मै, मै, मांझ, पै, पर, माहिं, पाहिं, माँहि, महँ, माही, मंझारन, मधि।

सर्वनाम

उत्तम पुरुष

एकवचन	मूल रूप	हौं, मैं, हों, हुँ
	विकृत रूप	मो, मौ
	संबंध	मेरौ, मो, मोरी
बहुवचन	मूल रूप	हम
	विकृत रूप	हम
	संबंध	हमारो, हमारौ

मध्यम पुरुष

एकवचन	मूल रूप	तू, तूँ, तैं, तें
	विकृत	तो
	संबंध	तेरो, तेरौ
बहुवचन	मूल रूप	तुम
	विकृत	तुम
	संबंध	तुम्हारो, तिहारो

निश्चयवाचक सर्वनाम

'यह'

एकवचन	मूल रूप	यह, जिह (जिअ)
	विकृत	या, जा
बहुवचन	मूल रूप	ये, ए
	विकृत	इन, इन्ह

'वह'

एकवचन	मूल रूप	वह, वो, (ब्रु)
	विकृत	वा
बहुवचन	मूल रूप	वे, वै
	विकृत	उन, विन

अन्य सर्वनाम

संबंधवाचक	जो, जु, (बहु०) जे
विकृत रूप	जा, (बहु०) जिन
नित्यसंबंधी	सो, (बहु०) ते, से
विकृत रूप	ता, (बहु०) तिन
प्रश्नवाचक	कौन, को, कौ
विकृत रूप	का, कौन
अनिश्चयवाचक	कोऊ, कोई
विकृत रूप	काहू, काउ
निजवाचक	आप, आपु
विकृत रूप	आपुनि, आपन
आदरवाचक	आप, आपु
विकृत रूप	आपुन

सहायक क्रिया

वर्तमान, भूत और भविष्य निश्चयार्थ में 'होना' क्रिया के निम्नलिखित रूप बनते हैं—

		एकवचन	बहुवचन
वर्तमान	उ० पु०	हों, हौं, हूँ	हैं, आहि
	म० पु०	है, (ऐ)	हौ (औ)
	अ० पु०	है, अहै, आहि	हैं (ऐं)
भूत	पुल्लिंग	हो , हतो, हुतो, हौ, हते, भयौ, भौ	हे, हुते, हते, भये
	स्त्रीलिंग	ही, हुती, भई	हीं, हुतीं, भईं
भविष्य	उ० पु०	ह्वै हौं	ह्वै हैं
	म० पु०	ह्वै है	ह्वै हौ
	अ० पु०	ह्वै है, होइहैं, होयगो	ह्वै हैं, होउगे, होहिंगे, होंयगे ।

कृदन्त

पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों में वर्तमानकालिक कृदन्त के रूप व्यंजनांत धातुओं में 'अत' जोड़ कर तथा स्वरांत धातुओं में 'त' जोड़कर बनाए जाते हैं—जैसे खावत, आवत, जात आदि । इनके अतिरिक्त पुल्लिंग में 'अतु' तथा स्त्रीलिंग में 'ति' या 'ती' लगा कर भी रूप खड़े किए जाते हैं । परियतु, निहारति, इतराती ।

भूतकालिक कृदन्त निम्नलिखित प्रत्यय लगाकर बनाए जाते हैं—

एकवचन	बहुवचन
आ, औ, यो, यौ	ए, ये, यै
स्त्री०—ई	स्त्री०—ईं

पूर्वकालिक कृदन्त, धातु में प्रायः 'इ', 'य', 'ऐ' आदि जोड़ कर बनाए जाते हैं । समुझि, खोय (खोइ), दै आदि ।

प्रधान क्रिया

उक्त वर्तमानकालिक कृदन्त रूपो के अतिरिक्त, वर्तमान निश्चयार्थ के लिए धातु में नीचे लिखे प्रत्यय लगाकर भी रूप खड़े किए जाते हैं—

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु०	ओं, औं, ऊँ	अइँ, एँ, हिं
मध्यम पु०	अहि	ओ, औ
अन्य पु०	ए, ऐ, इ, य	एँ, ऐं

भविष्य निश्चयार्थ में निम्नलिखित प्रत्यय जोड़े जाते हैं—

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	ऊँगौ, औंगौ, उँगौ, इहौं, इहां	एँ, इहैं
	(स्त्री०) औंगी, ओंगी, उँगी	(स्त्री०) अहिंगी, इँगी
म० पु०	यगौ, एगौ, इहै	औगे, ओगे, हुगे, इहौ
	(स्त्री०) एगी, इगी	(स्त्री०) अहुगी, ओगी, औगी
अ० पु०	एगौ, एगो, एगौ, यगौ, इहै	एँगे, हिंगे, एंगे, यगे, इहैं
	(स्त्री०) एगी, अहिगी, यगी, इगी	(स्त्री०) अहिंगी, इंगी।

भूत निश्चयार्थ के लिए भूतकालिक कृदन्त रूपों का ही व्यवहार होता है। इनका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

साहित्यिक ब्रजभाषा का ढाँचा स्थिर हो गया। भक्तिकाल से भारतेन्दु काल तक लगभग एक ही साँचे में ढली-पली साहित्यिक ब्रजभाषा चलती रही। उस काल के बोलचाल के रूप क्या थे, आज यह नहीं बनाया जा सकता। वे रूप विकसित होते हुए चले आए हैं। आज जो बोलियाँ ब्रज क्षेत्र में बोली जाती हैं, उनका अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। साहित्यिक रूप और बोली-रूप में अनेक अंतर मिलते हैं।

ब्रज की आधुनिक बोलियाँ

ब्रज की बोलियों का अध्ययन अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सबसे पहली बात यह है कि यहाँ अनेक ऐसी जातियाँ हैं जिनका भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में विशेष हाथ रहा है। साथ ही

उन जातियों की बोलियों की कुछ विशेषताएँ आज तक बनी हुई हैं। उन विशेषताओं को थोड़ा-बहुत ब्रज का प्रत्येक ग्रामीण समझता है। भाषा ही नहीं, ब्रज की संस्कृति में भी उन जातियों का विशेष स्थान है। कुछ अपराधी घुमन्तू जातियाँ भी ब्रज में मिलती है। इनकी भाषा का मोटे रूप से कोई प्रभाव ब्रज की बोलियों पर नही पड़ता। पर यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि उनकी ध्वनियाँ कहाँ की हैं और ब्रजभाषा की ध्वनियों का उच्चारण वे कैसे करते है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रज के क्षेत्र में आने वाले जिलों का एक-एक उदाहरण अपनी 'ब्रजभाषा' पुस्तक में दिया है।[1] पर जातिगत और स्थानगत विशेषताएँ एक जिले की बोली मे ही अनेक भिन्नताएँ उत्पन्न कर रही हैं। उन भिन्नाओं का अध्ययन महत्त्व-पूर्ण होगा, क्योंकि ब्रजभाषा के उपादानों का स्रोत इन्ही भिन्नताओं में है। प्रत्येक जिले की जातिगत बोली-भेदों को यहाँ नही दिया जा सकता। मथुरा जिले की मुख्य-मुख्य जातियों और उनकी भाषागत भिन्नताओं को यहाँ मोटे रूप में दिया जा रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक जिले की भाषागत भिन्नताओं का अध्ययन होना चाहिए। ब्रज की आधुनिक बोलियों का अध्ययन इन्हीं भिन्नताओ का अध्ययन है।

मथुरा जिले की जातियाँ

मथुरा जिले की जातियों को पहले तीन भागों में बाँटा जा सकता है—१. हिंदू, २. मुसलमान और ३. घुमन्तू जातियाँ। मथुरा की हिंदू जातियाँ इस प्रकार गिनाई गई हैं[2]—

१. चमार—हिंदू जनसंख्या का १७·७१%। छाता और सादाबाद में अधिक। यमुना के पश्चिम में भी अधिक। विशेषतः खेत-श्रम से संबंधित।

---

१. 'ब्रजभाषा', प्रयाग, सं० २०११।

२. मथुरा गजेटियर (१९११ ई०), पृ० १०६-१४।

२. ब्राह्मण—१६·६८%। प्रत्येक तहसील में लगभग समान रूप से संख्याशील। मथुरा तहसील में अधिक। सादाबाद में सबसे कम। सनाढ्यों का बहुमत, फिर गौड़, चौबे ५-६ हजार। पुराने समय से पहलवान। बालविवाह प्रचलित।

३. अहिवासी[1]—सर्प-पूजा से संबंधित जाति। मथुरा तहसील में १,३६६; छाता में ८२। नाम 'अहि' से व्युत्पन्न। इनका आदिस्थान सेमरख गावँ बताया जाता है, जो वृन्दावन के काली-मर्दन घाट से लगा हुआ है। यमुना के पूर्वी भाग में केवल बलदेव में दाऊजी के मंदिर के पंडे हैं। यमुना के पश्चिम में उनका पंडारूप या पवित्र रूप नहीं मिलता, वहाँ वे कृषिजीवी हैं। इनकी वेशभूषा (पुरुषों का शिरस्त्राण और स्त्रियों का केशविन्यास) इनको विशेष स्थिति में रखते हैं। जब नमक का व्यापार राजस्थान से चलता था तब उस व्यापार पर इनका एकाधिकार था। इनकी माता चमारी बताई जाती है।

४. जाट—१४·६३%। महावन, छाता और माट में अधिक। अनेक गोत्रों में विभक्त। किसी भी जाति की स्त्री को घर में रख सकते हैं। 'धरेचा' भी रह सकते हैं। उनकी जाति पिता की जाति मानी जाती है। माँ के पहले पति का लड़का नवीन पति की सपत्ति में भाग रखता है। इनके मुख्य गोत्र ये हैं—बह्, संगेरियाँ, खूटैल, लथौर, बाचारने, भारंगर, सिसिनवार, सकरवार, थेंवर, मैनी, गोधी, छोंकर, गाडर तथा रावत।

५. राजपूत—६·८१%। पश्चिमी मथुरा में अधिक। सादाबाद के कुछ भागों में भी अधिक। जादों जाति इनका सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करती है। फिर चौहान, जाइसवार, गहलौत, कछवाए, बाछल आदि।

---

१. यह नाम 'अहि' से व्युत्पन्न कहा जा सकता है। जिस कालियनाग का दमन श्रीकृष्ण ने किया था उसी के वंशज ये लोग माने जाते हैं।

६. जादों—यदु से अपना संबंध जोड़ते हैं। करौली का राजा भी जादों है। यही इस जाति का शुद्धतम प्रतिनिधि माना जा सकता है। सरदारगढ़ में भी इन्हीं का राज्य है। कृष्ण से अपना संबंध जोड़ते हैं। मथुरा तहसील में अधिक।

७. अन्य राजपूत जातियां—बड़गूजर भी शुद्ध जाति मानी जाती है। चौहान प्रत्येक तहसील में हैं।

८. मिश्रित राजपूत जातियाँ—

(क) जायसवार—मांट तहसील में अधिक। अवध के नगर जायस से नाम की उत्पत्ति। अपने पूर्वपुरुष जसराम के भयनवारे (तहसील मांट) में बसने की बात कहते है। इनका कहना है कि इन्होंने कलारों को वहाँ से हटाया था।

(ख) कछवाहे—मुख्यतः मथुरा तहसील में पाए जाते हैं। इनका कहना है कि इनका एक पुरखा जसराम आमेर से आया था और कोटा में बसा था। कोटा से इनकी एक शाखा जैत की ओर चली गई और दूसरी सतोहा, गिरधरपुर, पालीखेरा, महोली, नरौली, नौगाँव, नवड और जारसी की तरफ गई।

(ग) बाछल—मुख्यतः छाता तहसील में मिलते हैं। अपने को सिसौदिया राजपूत बताते है। इनका कहना है कि ये ८०० वर्ष पूर्व चित्तौर से यहाँ आए थे। इनका एक आरंभिक गावँ रानेरा है, जिसको ये अपने द्वारा ही बसाया हुआ बताते हैं। सेही के बच्छुवन नामक गाँव से अपने नाम की व्युत्पत्ति बताते हैं। यहाँ इनका जाति-गुरु रहा करता है।

(घ) पँवार।

(ङ) पुंडीर।

(च) राठौर।

(छ) सोलंकी।

(ज) खँगार।

९. बनिया—७·४१% । मुख्यतः मथुरा तहसील में हैं । अन्य स्थानों में सादाबाद में अधिक हैं । आधे से अधिक अग्रवाल हैं । दूसरे बारहसेनी, खंडेलवाल, चौसेनी, दस्सा, महेश्वरी हैं ।

१०. कोली—बनियों से दूसरे नंबर पर हैं । ये वैश्यों से बहुत पहले पृथक् हुए बताए जाते हैं ।

११. फकीर–इनमें वैरागी, गुसाईं तथा जोगी आदि है ।

१२. गुसाईं—वृन्दावन, गोकुल तथा अन्य स्थानों पर मंदिरों के अधिष्ठाता हैं । मुख्य रूप से दो शाखाएँ हैं–राधावल्लभीय गोस्वामी तथा वल्लभ-संप्रदायी (गोकुल) ।

१३. गड़रिया—सारे जिले में छुटपुट बिखरे है । यमुना के खारों में मुख्यतः भेड़, बकरी चराते हैं ।

१४. गूजर—मुख्यतः छाता तहसील में हैं । मथुरा और महावन में भी हैं ।

१५. बढ़ई—१३,२९०

१६. नाई—१३,०००

१७. कुम्हार–१२,१७९

१८. कहार—१०,७२४

१९. अहीर—अपना उत्पत्ति-स्थान मथुरा को बतलाते हैं । उनका कहना है कि वे कृष्ण के समय में वृन्दावन के ग्रामीण बनियाँ थे । उनके पास १००० से अधिक गाएँ होती थीं । उनको 'नंदवंश' कहा जाता था । जिनके पास कम होती थीं उनको 'ग्वाल-वंश' कहा जाता था । मथुरा में मुख्यतः ग्वालवंश थे । मांट में सब से कम थे ।

२०. कायस्थ—संख्या की दृष्टि से ब्रज की महत्वपूर्ण जाति नहीं है ।

२१. भंगी

२२. माली

२३. धोबी

२४. लोधे

२५. सुनार

२६. दूसर—मथुरा में इनकी सख्या सबसे अधिक है। केवल बाँदा में मथुरा से अधिक हैं। अलवर के पास एक धूसी या धौसी पहाड़ी है (नारनौल के समीप)। उस पहाड़ी पर इनका पूर्व पुरुष चिम या चिमन्द तपस्या करता था। पहले ये बनियों की उप-जाति माने जाते थे, किंतु अब इनकी ब्राह्मण उत्पत्ति भी मान ली गई है और इनकी संज्ञा भार्गव (भृगु के वंशज) हो गई है। इनका मुख्य स्थान रेवाड़ी है।

ये कुछ मुख्य जातियाँ हैं। वैसे छोटी-मोटी लगभग ८३ जातियाँ ब्रज में हैं। कुछ की संख्या बहुत कम है। इनमें से खँगार, मलिकाने, गोले, काछी, कढ़ेरे, बरगी आदि है।

मुस्लिम जातियों में सैयद, सक्का, फकीर, सांई, बनजारे, व्यौपारी, मेव, मन्यार आदि है। गाँवों में मुख्यतः सक्का, फकीर, मेव और मन्यार पाए जाते हैं। इनकी बोली शुद्ध ब्रजभाषा दीखती है।

घुमन्तू जातियों में मुख्य ये हैं—

१—हाबूड़ा	४—खुरपल्टा	७—सँपेरे
२—कंजर	५—भूभड़िया	८—भाट
३—बहेलिया	६—सिकिलीगर	९—नट

इस प्रकार मथुरा जिला जातियों के अध्ययन की दृष्टि से एक जटिल जिला है। यहाँ सभी जातियों पर विचार नहीं करना है। केवल उन जातियों पर विस्तृत विचार कर लेना आवश्यक है जिनका ब्रज की भाषा और संस्कृति से घनिष्ठ संबंध है। कृष्ण के साथ संबद्ध जातियाँ मथुरा की भाषा और संस्कृति से विशेष संबंध रखती हैं। ये जातियाँ हैं—

१. अहीर—आभीर।

२. गूजर—जिनकी स्त्रियाँ गूजरी थीं।

३. जादों—जो अपने को यादव बताते हैं।

४. ग्वाले

इनके अतिरिक्त जाट, चमार, चौबे अपनी संख्या और बोली की भिन्नता के कारण महत्वपूर्ण हैं। घुमन्तू जातियों की बोली अपनी भिन्नता के कारण महत्वपूर्ण है, परन्तु उसका विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है। जाटों आदि की बोली की संक्षिप्त रूपरेखा भी देनी आवश्यक है।

आभीर जाति और भारतीय आर्य-भाषाओं में उनका स्थान

भरतमुनि ने एक उकार-बहुला भाषा की सूचना दी है। इस भाषा का प्रयोग भरत के अनुसार हिमवत्, सिंधु और सैवीर मे होता था।[1] इस उकार-बहुला भाषा को आभीरोक्ति ही माना है। आभीर जाति को यहाँ की बोली ग्रहण करनी पड़ी, क्योंकि उनसे पूर्व की जातियो की बोली सुसंगठित और सुष्ठु थी। किंतु उस भाषा में आभीरों की अपनी बोली के शब्दो और रूपों का भी मिश्रण स्वाभाविक दीखता है। यह जाति संपूर्ण भारत पर एक समय में छा गई थी, यह पहले देखा जा चुका है। अतः इस मिश्रित बोली का विस्तार हुआ। समस्त ग्राम-गिरा के लिए दंडी ने 'आभीरी' संज्ञा दी है। उन्होंने कहा है कि आभीरादि की भाषा में जो काव्य है वह अपभ्रंश काव्य है।[2] इस प्रकार इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आभीर जाति का अपभ्रंश के विकास और विस्तार से घनिष्ट संबंध था और 'उकार-बहुलता' भी विशेषतः उनकी बोली की विशेषता थी।

ब्रज की बोली पर संभावित प्रभाव

आज भी ब्रज की बोली में यह उकार-बहुलता मिलती है। इसके संबंध की रूपरेखा कुछ ऐसी है—

---

१. द्रष्टव्य पीछे, पृ० १७७, टि० १–२।

२. काव्यादर्श, १, ३६।

१. पुंल्लिग एकवचन अकारान्त संज्ञा उकारांत हो जाती है, जैसे—

नाजु = अनाज
गामु = ग्राम
कामु = काम
धीमरु = धीवर
जाटु = जाट
रासु = रास

२. विशेषण भी इनके साथ उकारांत ही आते हैं—

भौतु नाजु
तखतु गामु (बड़ा गाँव)
जबरु कामु

यह उकार-बहुलता आभीरी प्रभाव की सूचना देता है। स्त्रीलिंग संज्ञाएँ अकारांत भी रह सकती हैं। अपभ्रंश में भी स्त्रीलिंग संज्ञा उकारांत नहीं होती है।

गुर्जर

'आभीरादि' में सम्भवतः गुर्जर जाति अन्तर्हित है। आभीर, गुर्जर तथा अन्य गोपालक जातियाँ अपभ्रंश को अत्यधिक प्रभावित कर रही थीं। गुर्जरों की अपनी बोली 'गौर्ज्जरी' का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। भड़ौंच के गुर्जरों ने अपभ्रंश को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया था। छठी शती ईसवी में गुर्जरों ने गुजरात और भड़ौंच को जीता।[1] गुजरात नाम भी इन्हीं के कारण पड़ा। अतः इस जाति ने भी अपभ्रंश में योग दिया। साथ ही इस जाति का ब्रज से घनिष्ठ संबंध रहा। गूजरियों के बीच में कृष्ण की शृङ्गार

---

१. विशेष द्रष्टव्य डी० आर० भंडारकर का गुर्जरों पर लेख (जे० बी० बी० आर० ए० एस०, १९०२), जिल्द २१, पृ० ४१२ ।

लीलाएँ चलती रहीं । गूजरियों का वर्णन भागवत आदि संस्कृत काव्यों में, ब्रज के लोकसाहित्य में तथा शिष्ट साहित्य में मिलता है। अतः इस जाति का ब्रज की बोली पर अवश्य प्रभाव पड़ा होगा। इस जाति की बोली की क्या विशेषताएँ थीं और उनका कहां तक प्रभाव ब्रज की बोली पर पड़ा, यह बताना आज कठिन है। पर अपभ्रंश की अन्य विशेषताओं में इस जाति की भी कुछ विशेषताएँ अवश्य सम्मिलित थीं।

इस जाति की भाषा में मिलने वाली विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. ब्रज में सामान्य रूप से 'अरे' संबोधन मिलता है, जैसे— 'अरे कहाँ जाइ रह्यौ ऐ ?' गूजरों में 'अरे' के स्थान पर 'उरै' मिलता है—'उरै कहाँ जाऐ ?'

२. ब्रज में सामान्यतः आकारांत शब्दों को औकारांत कर दिया जाता है। पर आदि और मध्य का 'आ' अविकृत रहता है। गूजरों की बोली में आदि का 'आ' भी 'औ' की ओर जाता हुआ लगता है, जैसे—राम-राम = रौम-रौम।

राम-राम साब = रौम-रौम साब।

चमार

पद्म, वराह और ब्रह्मवैवर्त पुराणों के आधार पर यह कहा जाता है कि चमार मल्लाह पुरुष और चण्डाल स्त्री से उत्पन्न हुए थे।[1] चमारों की जाति काले रंग की जातियों में आती है। इसका गोरा होना एक अनहोनी बात है।[2] इस जाति का काला होना और चमड़े के कारबार से संबंधित होना एक जातिगत विशेषता की ओर संकेत करते हैं। फिर इनकी संख्या मथुरा जिले में सभी जातियों से अधिक है। इनकी बोली में कुछ विशेषताएँ हैं। लोहबन में अन्य जातियों की बोली तथा चमारों की बोली में अन्तर दीखता है। वह अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

---

१. ईलियट, रेसेज़ आफ दि एन० डब्ल्यू० प्राविसेज आफ इंडिया, जिल्द १, पृ० ६६।

२. कारौ बाम्हन गोरौ चमार। इनके सँग न उतरिए पार॥

अन्य जातियाँ	चमार
चल्तु	चन्तु
मिल्तु	मिन्तु
बाल्टी	बान्टी
पल्टा	पन्टा

ऊपर के उदाहरणों से चमारों की बोली की एक ध्वनि-संबंधी विशेषता दृष्टिगत होती है। 'ब' के स्थान पर 'म' बोलने की प्रवृत्ति भी इस जाति में विशेष है—

महाबन = मामन

एक विशेषता ध्वनि-संबंधी यह दीखती है[1]—

कर्तु	कत्तु
धर्तु	धत्तु
मिर्च	मिन्च
हर्द	हद्द

कभी-कभी रेफ से संयुक्त व्यंजन का 'स्त' रूप भी मिलता है—कुस्ता = कुर्ता। ऐसे अन्य उदाहरण अभी प्राप्त नहीं हुए हैं।

जाट

जाट, जट, जट्ट—ये सभी एक जाति के बोधक शब्द हैं। सिंध में जट मुसलमान भी हैं। भारत से बाहर काबुल और बलोचिस्तान में भी ऐसी जाति पाई जाती है। उसका नाम भी इस शब्द से मिलता-जुलता है। मुसलमान जटों का मुख्य स्थान सिंध है। राजपूताने में तो यह जाति बिखरी हुई है। भरतपुर और धौलपुर में जाटों का राज्य था।[2] गुजरात के जाट अपना मूल स्थान गजनीगढ़ बताते हैं। कुछ विद्वान् इनका संबंध 'जर्मन स्टॉक' से मानते हैं। जिस गजनीगढ़ को ये अपना मूलस्थान बताते है वहाँ यू-ची या

१. यह विशेषता मथुरा जिले और अलीगढ़ की सीमा पर उच्च वर्गों की बोली में भी मिलती है।

२. द्रष्टव्य 'ब्रज का इतिहास', प्रथम भाग, अध्याय १२।

यू-शी जाति रहती थी। हो सकता है 'य' का 'ज' होकर 'जटि' या 'जट' शब्द बना हो। यह ईसवी सन् की प्रथम शती की बात बताई जाती है, परंतु अन्य विद्वान् इसे नहीं मानते।

यह जाति कहीं बाहर से भारत में प्रविष्ट हुई होगी। जाट लोग भारत में एक समय या एक समूह में नही आए। संभवत: सिंध में मिलने वाले जाट सबसे पीछे आए हुए समूहों में से हैं। भरतपुर के सिसिनवारों और इनमें अंतर है। भरतपुर के जाटों का संबंध ब्रज से घनिष्ट हुआ।

मथुरा जिले के जाटों की बोली का अध्ययन करने से निम्नलिखित विशेषताएँ मिलती हैं—

१. उसमें कुछ अक्खड़पन है।

२. भविष्य काल की क्रिया में साधारणत: मध्य में 'इ' मिलती है। पर जाटों की बोली मे इसका अस्तित्व नहीं है—

अन्य	जाट
जाइगौ	जागौ
खाइगौ	खागौ
गावैगौ	गागौ

३. एक विशेषता यह भी है कि जाटों की बोली में औकार-ध्वनि की बहुलता मिलती है—

अन्य	जाट
जइयो	जइयौ
अइयो	अइयौ
कहियो	कहियौ

ब्रज की बोली में औकार-ध्वनि बहुत मिलती है। हो सकता है कि यह औकार की बहुलता इस जाति के प्रभाव से ही हो। ब्रज की बोली में प्राय: समस्त आकारांत संज्ञा शब्दों को औकारांत कर दिया जाता है, यथा—पांसौ, फांसौ, तमासौ, लवारौ, गिरारौ, नारौ, सारौ आदि। जहाँ अन्य जातियाँ आकार रहने देती हैं, वहाँ भी जाटों में औकार मिलता है—

अच्छा अच्छौ

चौबे

ब्रज के चौबों की ब्रज-बोली एक विशेष ढंग की है। इस जाति का प्रधान केंद्र मथुरा है। चौबे गाँवों में कम पाए जाते हैं। उनकी बोली नागरिक ब्रज की बोली और ग्रामीण बोली से कुछ भिन्नता रखती है। इस बोली की भिन्नताएँ इस प्रकार हैं—

१. उत्तम पुरुष, एकवचन सर्वनाम के लिए 'हौं' का प्रयोग। ब्रज की ग्रामीण बोली में 'हूँ' का प्रयोग तो मिलता है, पर 'हौं' का प्रयोग मथुरा जिले में नहीं होता। आगरा जिले में 'हौं' का प्रयोग मिलता है।

२. 'से' के स्थान पर 'सौं' का प्रयोग मिलता है—

मो सौं मति कहै।

ब्रज की ग्रामीण बोली में 'सूँ' मिलता है।

३. नकारात्मक के लिए 'नाइनें' का प्रयोग मिलता है। आगरा जिले में 'नानें' मिलता है। मध्य के 'इ' का प्रश्न विचारणीय है। मथुरा की ग्रामीण बोलियों में 'नाएँ' शब्द मिलता है। हो सकता है कि अंतिम 'नें' का केवल नासिक्यशेष रह कर 'नाइएँ' तथा 'नाएँ' रह गया हो।

४. वर्तमानकाल की क्रिया के अन्त में 'औ' मिलता है—

ग्राम्य	चौबों की	खड़ी बोली
जाँतूँ	जाऔं	जाता हूँ
आँम्तूँ	आऔं	आता हूँ

५. ह्रस्व 'ऍं' और ह्रस्व 'ऑ' विशेष रूप से मिलते हैं—

बताऑ जाऑ जाऍं

कभी-कभी यह ध्वनि इतनी छोटी होती है कि वह 'इ' और 'उ'-सी प्रतीत होती है।

ब्रज की बोलियों का यदि स्थानपरक अध्ययन किया जाए तो अनेक भिन्नताओं का पता चलेगा। मथुरा से दिल्ली की ओर जाने वाली सड़क पर के गाँवों में यदि एक प्रकार का भाषा-क्रम दिखाई पड़ता है तो आगरा की ओर जाने वाली सड़क पर दूसरे प्रकार का। यमुना के इस पार और उस पार की बोली में भी अन्तर है।

अध्याय ४

ब्रज का साहित्य

[भारतेन्दु-पूर्व तक]

हिंदी के प्राय: सभी इतिहासकारों ने अपभ्रंश-साहित्य को अपने इतिहासों में स्थान दिया है। पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपभ्रंश साहित्य को 'भाषा-काव्य' के अंतर्गत माना और हिंदी के आदिकाल से उसे संबद्ध किया।[1] डा० रामकुमार वर्मा ने भी अपभ्रंश-साहित्य को हिंदी साहित्य में स्थान देने का समर्थन किया।[2] डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश साहित्य में हिंदी का मूलरूप देखा—"हिंदी साहित्य में (अपभ्रंश की) प्राय: पूरी परंपराएँ ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रान्तीय साहित्य में ये सारी की सारी विशेषताएँ इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिंदी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। इन ऊपरी साहित्य-रूपों को छोड़ भी दिया जाए तो इस साहित्य की प्राणधारा अविच्छिन्न-रूप से परवर्ती हिंदी साहित्य में प्रवाहित होती रही है[3]।" इस प्रकार कुछ विद्वानों ने तो अपभ्रंश साहित्य को हिंदी का अंग माना है और कुछ ने हिंदी और अपभ्रंश का ऐतिहासिक संबंध माना है। दोनों ही रूपों में अपभ्रंश का अध्ययन हिंदी-साहित्य को समझने के लिए आवश्यक है। ब्रजभाषा का संबंध पश्चिमी अपभ्रंश से है। अत: उसकी साहित्य-परंपरा को पहले समझ लेना चाहिए।

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण का वक्तव्य।

२. आलोचनात्मक इतिहास, (द्वितीय संस्करण), पृ० ६८।

३. हिंदी साहित्य, पृ० १५।

पश्चिमी अपभ्रंश का संबंध प्रधानतः मध्यदेश की भाषा-परंपरा से है। मध्यदेशीय भाषा का अविच्छिन्न प्रभुत्व ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में प्रायः समस्त उत्तरी भारत पर रहा। पालि के रूप में (ईसा के पूर्व शतियों में), शौरसेनी प्राकृत के रूप में (ईसा की आरंभिक शतियों में), महाराष्ट्री प्राकृत के रूप में (लगभग ४०० ई० के आसपास) तथा शौरसेनी अपभ्रंश के रूप में (४०० से १००० ई०) मध्यदेशीय भाषा छाई रही। ब्राह्मण-सस्कृति, इतिहास-पुराण-परंपरा का भी यह केन्द्र रहा। सार्वभौम साम्राज्यों की भी परपरा इसी से संबद्ध है। राजशेखर ने अपने 'काव्य-मीमांसा' ग्रन्थ में किसी अज्ञात कवि का एक उद्धरण दिया है—"जो मध्यदेश के मध्य में निवास करता है, वह सारी भाषाओं का प्रतिष्ठित कवि है[१]।" पश्चिमी अपभ्रंश समस्त उत्तरी भारत की काव्य-भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हुई। हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने अपने प्राकृत व्याकरण में पश्चिमी अपभ्रंश के कुछ उदाहरण दिए हैं। पश्चिमी अपभ्रंश के साहित्य का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

पश्चिमी अपभ्रंश का साहित्य

ब्रजभाषा का जन्म पश्चिमी अपभ्रंश (शौरसेनी) से हुआ। पश्चिमी अपभ्रंश के साहित्य की परंपराओं का प्रभाव ब्रजभाषा-साहित्य पर पड़ा। इसका क्षेत्र ग्रियर्सन के शौरसेन अपभ्रंश के समान ही है।[२] आज जहाँ गुजराती, राजस्थानी और पश्चिमी हिंदी बोली जाती है, वह समस्त क्षेत्र पश्चिमी अपभ्रंश के क्षेत्र में आता है। पश्चिमी अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य की तालिका इस प्रकार है—

---

१. "यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः।"

२. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, जिल्द १, पृ० १।

रचयिता	ग्रन्थ	तिथि	प्रदेश
१. कालिदास	विक्रमोर्वशीय के अपभ्रंश पद्य	५वीं शती	मालवा
२. जोइन्दु	(क) योगसार (ख) परमात्म प्रकाश	छठी से दसवीं शती	
३. देवसेन	सावय धम्म दोहा	६३३ ई०	धारा (मालवा)
४. रामसिंह	पाहुड दोहा	१०वीं शती	राजपूताना
५. धनंजय	दशरूपक के अपभ्रंश पद्य	१०वीं शती	मालवा
६. धनपाल	भविसत्त कहा	१०वीं शती (?)	गुजरात
७. भोज	सरस्वती कंठाभरण के अपभ्रंश पद्य	१०००–१०५० ई०	मालवा
८. जिनदत्त	(क) चर्चरी (ख) उपदेशतरंगिनी	११३३–११५५ ई०	गुजरात
९. लक्ष्मीगणि	सुपासणा चरित्र के अपभ्रंश पद्य	११४२ ई०	गुजरात
१०. हरिभद्र	सनतकुमार चरित	११५६ ई०	गुजरात
११. हेमचन्द्र	(क) सिद्ध हेम (ख) कुमारपाल चरित	१०८८–११७२ ई०	गुजरात
१२. सोमप्रभ	कुमारपाल प्रतिबोध	११९५ ई०	गुजरात

इस तालिका के निरीक्षण से ज्ञात होगा कि राजस्थान, गुजरात और मालवा पश्चिमी अपभ्रंश साहित्य के केन्द्र रहे। ब्रज में या तो अपभ्रंश-साहित्य की रचना नहीं हुई अथवा यहाँ की रचनाएँ उपलब्ध नहीं होतीं। इसका कारण परिस्थितियों के गर्भ

में छिपा है । राजनैतिक दृष्टि से पंजाब, गुजरात, काठियावाड़ तक गुर्जर जाति का बोलबाला था। पंजाब में गुजरात और गुजरांवाला, दक्षिण मारवाड़ में भिनमाल और गुर्जरत्रा (गुजरात) में भड़ौंच इनके गढ़ थे।[1] धार्मिक दृष्टि से यह सारा प्रदेश जैन धर्म का प्रचार-क्षेत्र था। बौद्ध धर्म अवनतावस्था में था और पूर्व में सिमटता जा रहा था । राष्ट्रकूट और गुर्जर सोलंकी राजाओं का प्रश्रय भी जैन धर्म को प्राप्त हुआ । अतः जैन कवियों में केवल धर्मोपदेश ही नहीं तलवार की महिमा का भी गान मिलता है । राजवर्ग के अतिरिक्त वणिक्वर्ग ने भी जैन धर्म को अपनाया। अतः पश्चिम प्रदेश साहित्य और संस्कृति का केन्द्र हो गया था । जैन कवियों ने काव्य, नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोष, अलंकार, गणित, राजनीति आदि विषयों पर लिखा। शैली की दृष्टि से महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, नाटक, चम्पू आदि सभी के रूप मिलते हैं । स्तोत्र साहित्य और नीति-ग्रंथ भी पर्याप्त मात्रा में मिले हैं । गुजरात और राजस्थान में दो समानान्तर धाराएँ जो इस समय प्रवाहित हो रही थीं जैन धर्म और क्षात्र-धर्म की थीं। पश्चिमी अपभ्रंश में इसी गंगा-जमुनी के दर्शन होते हैं और परिस्थितियों के कारण ही इसके साहित्य-केंद्र गुजरात, मालवा और राजस्थान बने । अपभ्रंश-साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियों का परिचय यहाँ दिया जा रहा है ।

चरित-काव्य

जैन कवियों की रचनाओं की प्रेरणा मुख्यतः पाठकों का अनुरोध रहा। किसी राजा, राजमंत्री या गृहस्थ के आग्रह पर साहित्य की रचना की जाती थी। अतः उनकी कल्याण-कामना, धार्मिक कृत्यों का माहात्म्य और दृष्टान्त-रूप किसी महापुरुष का चरित्र, चरित-काव्यों की प्रमुख विशेषताएँ हैं । निष्काम होने के कारण किसी राजा या आश्रयदाता का अत्युक्तिपूर्ण, मिथ्या चरित्र-गायन इन कवियों ने नहीं किया । इस प्रकार के राज-पुरुषों के चरित्र के

१. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ० २५ ।

अतिरिक्त जैन-तीर्थङ्करों और महापुरुषों के भी चरित्र सम्मिलित हैं। इनमें हेमचंद्र का कुमारपाल चरित आता है।

१. भविसत्त कहा—इसकी कथा लौकिक है। लौकिक चरित्रों को लेकर होने वाली रचनाओं का यह ग्रन्थ सूत्रपात करता है। क्षत्रिय वंश के नायक को छोड़कर व्यापारी-वर्ग के नायक को इसमें अपनाया गया है। इसकी कथा तीन भागों में विभक्त की जा सकती है——व्यापारी पुत्र भविसत्त की संपत्ति का वर्णन; कुरुराज और तक्षशिला-राज के युद्ध में भविसत्त का भाग लेना और अन्त में उसका विजयी होना; भविसत्त तथा उसके साथियों के पूर्वजन्म और भविष्य-जन्म का वर्णन।

इस लौकिक आख्यान के द्वारा श्रुतपंचमी के व्रत का माहात्म्य भी वर्णित है। अलौकिकता का तत्व घटनावली में जोड़ा गया है। साधु-असाधु-निरूपण भी मिलता है। वस्तु-वर्णन भी अत्यन्त समृद्ध है। भाषा 'उकार-बहुला' है। 'य' श्रुति और 'व' श्रुति का प्रचुर प्रयोग है।

सनतकुमार चरित[1]

यह नेमिनाथ चरित का एक अंश है। इसके रचयिता हरिभद्र श्वेताम्बर जैन थे। सनतकुमार गजपुर के राजकुमार थे। एक बार मदनोत्सव में सनतकुमार एक स्त्री के रूप पर मुग्ध हो जाते हैं। युवती भी आकर्षित होती है। इसी बीच भोजराज-पुत्र, जलधि कल्लोल नाम का एक अत्यन्त वेगवान घोड़ा सनतकुमार को भेंट करता है। वह कुमार को लेकर दूर देश में ले जाता है। उसका मित्र अश्वसेन उसको खोजता हुआ मानसरोवर पर पहुँचता है। वहाँ एक किन्नरी के मुख से कुमार का चरित्र-गायन वह सुनता है। इसी बीच कुमार अनेक रमणियों से विवाह करता है। मदनोत्सव वाली युवती को कदाचित् एक यक्ष हर ले गया था; उससे भी यहाँ मिलन होता है। इस भोगमय जीवन के पश्चात् शौर्ययुक्त जीवन आता है।

---

१ डा० हरमन जैकोबी द्वारा संपादित, जर्मनी, १९२१ ई०।

फिर मुनि अर्चिमाली के द्वारा उसके पूर्व जन्मों का विवरण सुनाया जाता है । अपने मित्र महेन्द्र से अपने माता-पिता की दुर्दशा का वृत्तांत सुनकर वह गजपुर लौट आता है । वहां अश्वसेन उसे राजा बनाता है । सनतकुमार चक्रवर्ती होता है। फिर वे विरक्त होकर तपस्या करते हैं । लाखों वर्ष की तपस्या के पश्चात् उन्हें स्वर्ग प्राप्त होता है । इस प्रकार रासो-परम्परा का-सा वीर और श्रृङ्गार का मिश्रण यहाँ मिलता है। धार्मिक प्रभाव अन्त में शान्त रस बन कर आता है। इसमें अन्य चरित काव्यों की भाँति प्रेम पक्ष अधिक प्रस्फुटित हुआ है।

यहाँ पश्चिमी अपभ्रंश के सभी चरित काव्यों का परिचय नहीं दिया जा सकता। पर दो प्रतिनिधि चरित-काव्यों के उक्त संक्षिप्त परिचय से यह स्पष्ट है कि इनमें प्रेम, वीर तथा वैराग्य भावों का मिश्रण मिलता है। लौकिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार के चरित-काव्य पश्चिमी अपभ्रंश में मिलते हैं । राजस्थानी पिंगल-साहित्य के प्रेम-शौर्ययुक्त रासो साहित्य का प्रेरणा-बीज यहाँ मिल जाता है। पर धार्मिकता के अभाव में रासो-काव्य चरित-काव्यों से पृथक् हो जाते हैं । आश्रयदाता का अत्युक्तिपूर्ण मिथ्या यश-गायन कवि की सकामता का परिणाम है। ब्रज प्रदेश में यह परम्परा फली नहीं । यहाँ आश्रयदाता नहीं थे । अतः चरित-काव्यों के प्रोत्साहन का अभाव रहा । ब्रज क्षेत्र में मुक्तकों की शैली का आधिपत्य हुआ । अतः पश्चिमी अपभ्रंश की मुक्तक-परम्परा पर दृष्टि डाल लेना उचित होगा।

मुक्तक काव्य

इस प्रकार के पद्यों का संबंध किसी व्यक्ति विशेष के चरित्र से नहीं होता। अतः इनमें पूर्वापर संबंध का अभाव रहता है । सर्वसामान्य भावों या तथ्यों को मुक्तकों में व्यक्त किया जाता है। प्रबन्ध-काव्य की प्रवृत्ति विशेषतः जैन कवियों में मिलती है और मुक्तक की परम्परा का सशक्त रूप बौद्ध सिद्धों में मिलता है। मुक्तक-

शैली स्फुट दोहों और गानों के रूप में मिलती है। धार्मिक रचनाओं के अतिरिक्त अनेक स्फुट-मुक्तक पद्य व्याकरण, छन्द, अलंकार आदि के ग्रन्थों में उदाहरण स्वरूप भी प्राप्त होते हैं। इनका विषय प्रेम, शृङ्गार, वीर आदि के भाव हैं। पश्चिमी अपभ्रंश के मुक्तकों की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—
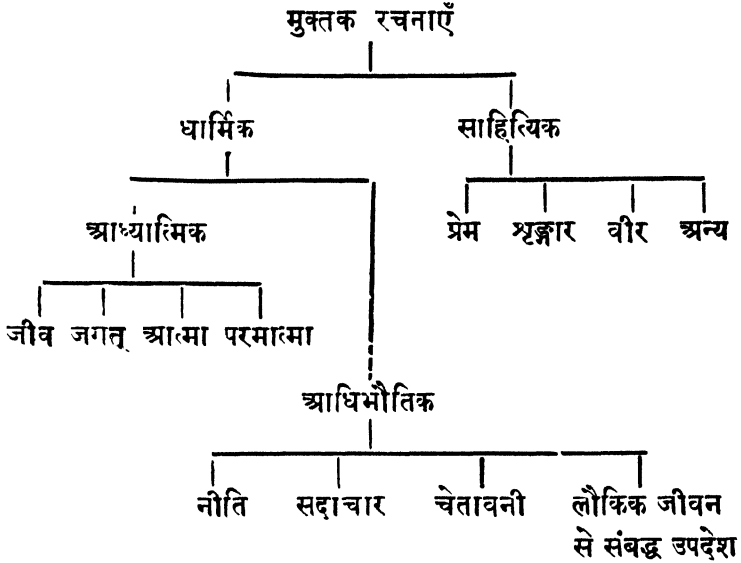
आध्यात्मिक मुक्तकों के रचयिता अधिकांशतः जैन कवि हैं। किन्तु ऐसे मुक्तकों का वातावरण संकीर्णता, विद्वेष-भावना आदि से मुक्त रहता है। इनमें वाह्याचार को निरर्थक और आंतरिक शुद्धि को मुख्य बताया गया है। हिंदी के संत काव्य में प्राप्त मुक्तकों की प्रेरणा का बीज इसी प्रकार के मुक्तकों में है।

परमात्म प्रकाश[1]

यह ग्रन्थ योगीन्द्र (जोइन्दु) द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ के दो अधिकार हैं—पहले में वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का

१. डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा संपादित, प्रकाशक–सेठ मनिलाल रेवाशंकर झावेरी, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बंबई, १९३७ ई०।

स्वरूप, विकल परमात्मा, सकल परमात्मा और जीव के स्वरूप की चर्चा है। द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म निश्चय, सम्यक् दृष्टि, मिथ्यात्व आदि की भी चर्चा है। दूसरे अधिकार में मोक्ष-स्वरूप, मोक्षफल, मोक्षमार्ग अभेद-स्वरूप, समभाव, पाप-पुण्य की समानता और परम समाधि का वर्णन है।[1] परमात्मप्रकाश दोहों में रचित है। एक दोहा इस प्रकार है—

देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।
परम समाहि परिट्ठियउ पंडिउ सोजि हवेइ॥[2]

ब्रजभाषा के भक्त कवियों में इस प्रकार के मुक्तकों की झलक जगत्-जीव-संसार-निरूपण आदि के प्रसंग में मिलती है।

योगसार[3]

इसका विषय भी 'परमात्म प्रकाश' के समान ही है। पाप-पुण्यरूप कर्मों के परित्याग से ही मोक्ष-प्राप्ति सम्भव बताई गई है। सांसारिक बन्धनों को त्याग कर ही आत्म-लीन योगी मोक्ष को प्राप्त करता है। शैली अधिकांश दोहा है—

पुण्णिं पावइ सग्ग जिउ, पावएँ णरयणिवासु।
बे छंडिवि अप्पा मुणइ, तो लब्भइ सिव-वासु॥

पुण्य से स्वर्ग मिलता है और पाप से नरक। इन दोनों के त्याग से मोक्ष मिलता है।

पाहुड दोहा[4]

इसके रचयिता रामसिंह हैं। इस ग्रन्थ के कुछ दोहे हेमचंद्र ने उद्धृत किए हैं।[5] इस ग्रन्थ का मुख्य विषय अध्यात्म-चिंतन है।

---

१. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ० २६८।
२. परमात्म प्रकाश १,१४।
३. डा० आ० ने० उपाध्ये द्वारा संपादित और परमात्मप्रकाश के साथ ही प्रकाशित।
४. हीरालाल जैन द्वारा संपादित।
५. भूमिका, पृ० २२।

आत्मानुभूति और सदाचरण को मुख्य बताया गया है। इनके बिना कोरा कर्मकांड व्यर्थ है। सच्चे सुख की प्राप्ति इन्द्रिय-निग्रह से हो सकती है। वाह्याचार की व्यर्थता और अंतरस्थ परमात्मा की ओर प्रेरित होने का उपदेश है। कुछ दोहों में रहस्यानुभूति के भी तत्व है। अंतर्यामी परमात्मा का उल्लेख इस प्रकार है—

> हत्थ अहुट्ठह देवली वालह णाहि पवेसु ।
> संतु णिरंजणु तहिं वसइ णिम्मलु होइ गवेसु ।।[1]

(इस साढ़े तीन हाथ के छोटे-से शरीर-मंदिर में निरंजन का वास है। निर्मल हृदय होकर उसी की खोज करो ।)

इस प्रकार ज्ञान, योग, वैराग्य के तत्त्वो से पुष्ट अपभ्रंश के आध्यात्मिक मुक्तक हिंदी की पृष्ठभूमि में हैं। इनका विकास दो प्रकार से हिंदी में हुआ—एक तो शुद्ध रूप में, जिसमें निर्गुण और अंतर्यामी भावना मुख्य रही। दूसरे रूप में इनका मिलन भक्ति-तत्व से हुआ। वैराग्य आदि के तत्व गौण हो गए और भक्ति तथा सगुण के तत्व प्रधान। पहले का रूप संत-काव्य में और दूसरे का ब्रज के भक्ति-काव्य में मिलता है। आधिभौतिक मुक्तकों की रचनाएँ निम्न-लिखित हैं—

सावय धम्म दोहा[2]

इसके रचयिता देवसेन हैं। इसमें श्रावक-गृहस्थ के सदाचार और कर्तव्यों का निरूपण किया गया है। ग्रंथ में उपदेश का भाव प्रबल है। आरंभ में मंगलाचरण और दुर्जन-स्मरण हैं। फिर श्रावक-धर्म-विवेचन है। गृहस्थों को दान, धर्म पालन और इंद्रिय-निग्रह के उपदेश दिए गए हैं। रूप-रति के विरुद्ध लेखक का कहना है—

> रूवहु उप्परि रइम करि णयण णिवारहि जंत ।
> रूवासत्त पयंगडा पेक्खहि दीवि पडंत ।।

---

१ पाहुड दोहा, ९४।
२ प्रो० हीरालाल जैन द्वारा संपादित ।

(रूप पर प्रेम मत कर। उधर जाते हुए नयनों को रोक। रूपासक्त पतंग को दीपक में पड़कर जलते हुए देख।)

पश्चिमी अपभ्रंश की मुक्तक-शैली में अधिकांशतः दोहों का प्रयोग रहा। इस परंपरा में रहीम, वृन्द, तुलसी आदि के दोहा-मुक्तक तथा रीतिकालीन नीति-मुक्तक आते हैं।

अपभ्रंश में बौद्ध सिद्धों ने अनेक गीतों की रचना भी की थी। ब्रजभाषा के भक्तिकाल में गीतों को अपनाया गया। चर्यापद में संगृहीत सिद्धों के प्रत्येक पद के प्रारम्भ में राग का निर्देश भी मिलता है। ब्रजभाषा में भी राग-निर्देश मिलता है।

विविध साहित्यिक मुक्तक

मुक्तकों में प्रेम, शृङ्गार और वीर-भाव मुख्य रूप में हैं। इस प्रकार के मुक्तक संस्कृत और प्राकृत ग्रंथों में भी बिखरे मिलते हैं। वहाँ ये अलंकार, व्याकरण और छंद-ग्रन्थों में नियमों और उदाहरणों के रूप में संग्रथित हैं। इनमें जीवन की सामान्य घटनाएँ और दृश्य नियोजित हैं। प्रबन्ध-ग्रन्थों में चारण, गोप आदि पात्र इनका व्यवहार करते हैं। ये मुक्तक निम्नलिखित ग्रंथों में मिलते हैं—

१. कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक का चतुर्थ अंक।

२. हेमचंद्र कृत प्राकृत व्याकरण, ८वां अध्याय; छन्दोऽनुशासन और प्राकृत द्वयाश्रय काव्य।

३. सोमप्रभाचार्य कृत कुमारपाल प्रतिबोध।

४. भोज-रचित सरस्वतीकंठाभरण।

५. धनंजय कृत दशरूपक।

इनमें शृङ्गार, वीर, वैराग्य, नीति, सुभाषित, प्रकृति-चित्रण, अन्योक्ति आदि विषय हैं। कवित्व, रस, चमत्कार आदि गुण हैं। कालिदास के पद्यों में शृङ्गार की प्रधानता है। राजा पुरूरवा विद्युत् से युक्त बादल को देखकर कहता है—

मइ जाणिअ मिअलो अणि णिसि अरु कोइ हरेइ।
जाव णु णव तडिसामलि धाराहरु बरिसेइ॥

(तड़ित् से युक्त श्यामल घटा को देखकर मैं समझता हूँ कि कोई राक्षस मृगनयनी उर्वशी को हरण करके लिए जा रहा है।)

हेमचंद्र का संबंध जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल नामक दो राजाओं से था। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के ये पंडित थे। हेमचंद्र का एक शृङ्गार-मुक्तक देखिए—

जिवँ जिवँ बंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सरु खर पत्थर तिक्खेइ॥[1]

(ज्यों-ज्यों वह श्यामा आँखों की बंकिमता और कटाक्षपात सीखती है, त्यों-त्यों कामदेव अपने बाणों को कठोर पत्थर पर तेज करता है।)

हेमचंद्र की वीरोक्तियाँ भी सुंदर हैं।[2] एक स्त्री अपने पति की दानवीरता और युद्धवीरता का वर्णन इस प्रकार करती है—

महु कन्तहो बे दोसडा हेल्लिम झंखहि आल।
देन्तहोहउँ पर उब्बरिअ, जज्झन्त हो करवालु॥[3]

(मेरे प्रियतम में केवल दो दोष हैं। दान देते समय केवल मैं बच रहती हूँ और युद्ध करते हुए केवल तलवार।)

हेमचंद्र के अनेक सुभाषित और अन्योक्तियाँ भी हैं। व्यंग्य, धार्मिक चेतावनी, दृष्टांत और अप्रस्तुत विधान में मानव-जीवन के सामान्य उपमानों का प्रयोग हेमचंद्र की विशेषता है।

सोमप्रभाचार्य ने 'कुमारपाल प्रतिबोध' में ऋतुओं के संबंध में मुक्तकों की रचना की है। साथ ही सुभाषित, प्रेम-प्रसंग, कथा-प्रसंग आदि भी गुंफित हैं। इस प्रकार अपभ्रंश के मुक्तक काव्य में ब्रजभाषा के भक्तिकालीन और रीतिकालीन मुक्तकों का स्रोत मिल जाता है। पूर्वी अपभ्रंश के गीत-मुक्तकों का प्रभाव विशेषतः ब्रजभाषा के भक्त-कवियों पर दीखता है।

---

१. हे० प्रा० व्या०, ८,४,३३०।

२. उदा०—भल्ला हुआ ज मारिआ बहिणि महारा कन्तु।
लज्जे ज्जं तु वयंसि अहु जइ भग्गा घर एन्तु॥ वही, ८, ४, ३५१।

३. वही, ८,४,३७६।

ब्रजभाषा और पिंगल की परंपरा

शौरसेनी अपभ्रंश ने ब्रजभाषा को १४वीं शती के लगभग जन्म दिया था। परंतु काव्य का माध्यम बनने की क्षमता प्राप्त करने में उसे कुछ समय अवश्य लगा होगा। ब्रजभाषा में साहित्य-रचना का विधिवत् इतिहास ई० १६वीं शती के आरंभ से माना जाता है। डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार—"इलाहाबाद के निकट मुख्य केन्द्र अरैल (अड़ैल) के अतिरिक्त जिस समय श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य को ब्रज जाकर गोकुल तथा गोवर्धन को अपना द्वितीय केन्द्र बनाने की प्रेरणा हुई उसी तिथि से ब्रज की प्रादेशिक बोली के भाग्य पलटे। स० १५५६ वैशाख सुदी ३, आदित्यवार को गोवर्धन में श्रीनाथजी के विशाल मंदिर की नींव रखी गई थी। यही तिथि साहित्यिक ब्रजभाषा के शिलान्यास की तिथि भी मानी जा सकती है[1]।" इस उद्धरण में ब्रजभाषा के भाग्य पलटने की बात कही गई है। इसका यह अर्थ नहीं कि ब्रजभाषा-साहित्य का आरंभ ही उस समय से हुआ। ब्रजभाषा-साहित्य के इतिहास का काल-क्रम इस प्रकार दिया गया है[2]—

१. प्राचीन काल (१४०० ई० के पूर्व)।
२. मध्यकाल (१४०० से १८०० ई०)।
३. आधुनिक काल (१८०० के पश्चात्)।

प्राचीन काल में निम्नलिखित रचनाओं की गणना की जाती है—

१. बीसलदेव रासो	५. आल्हखंड
२. पृथ्वीराज रासो	६. खुसरो की रचनाएँ
३. खुमाण रासो	७. गोरखनाथजी का गद्य
४. विजयपाल रासो	८. विद्यापति की रचनाएँ

---

१. ब्रजभाषा व्याकरण, पृ० ११।

२. धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजभाषा, पृ० १७-१८।

अमीर खुसरो की रचनाओं में दो प्रकार की भाषा मिलती हैं—खड़ी बोली और ब्रजभाषा। खड़ी बोली का रूप विशेषतः पहेलियों और मुकरियों में मिलता है। यदि कुछ पहेलियों को खुसरो की रचना मान लिया जाए तो वह दिल्ली का प्रभाव माना जा सकता है। अमीर खुसरो की ब्रजभाषा-कविता के उदाहरण—

> उज्जल बरन, अधीन तन, एक चित्त दो ध्यान।
> देखत मे तो साधु है, निपट पाप की खान॥
> खुसरो रैन सुहाग की, जागी पी के संग।
> तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए इकरंग॥
> गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
> चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

पर उक्त पद्यों की भाषा खुसरो-काल की नहीं दीखती। इन पद्यों में तो शुद्ध परिमार्जित और रीतिकालीन ब्रजभाषा प्रयुक्त है। अमीर खुसरो के संबंध में आधुनिक शोध का निष्कर्ष यह है कि खुसरो केवल फारसी का कवि था। उसके नाम से प्रचलित हिंदी कविताएँ किसी अन्य खुसरो की हैं, जो मुगल-साम्राज्य-काल में हुआ था।

मैथिल कोकिल विद्यापति की रचनाएँ मुख्यतः मैथिली में हैं। उनमें ब्रज के प्रयोग अत्यंत छुटपुट हैं। गोरखनाथजी की कोई प्रामाणिक ब्रजभाषा-गद्य-रचना प्राप्त नहीं होती। यदि उपलब्ध हिंदी-रचनाओं को गोरखनाथ की माना भी जाए तो उनकी भाषा मिश्रित है, शुद्ध नहीं। अपभ्रंश के भी कुछ घिसते-पिसते रूप उसमें मिल जाते हैं।

अब रहा रासो साहित्य। इस साहित्य की प्रामाणिकता पर अनेक दृष्टियों से विचार हुआ है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने पृथ्वीराज रासो को अप्रामाणिक माना है।[1] अन्य विद्वानों ने भी ऐसे ही मत की स्थापना की

---

१. कोशोत्सव स्मारक संग्रह, पृ० २९-६६।

है।[१] श्री मोतीलाल मेनारिया ने लिखा है—"डा० ग्रियर्सन और उनके मतानुयायी कुछ विद्वानों ने खुमाण रासौ, बीसलदेव रासौ, पृथ्वी-राज रासौ और विजयपाल रासौ को हिंदी के आदिकाल की अर्थात् सं० १५५० के पूर्व की रचनाएँ माना है और इस मान्यता के आधार पर उन्होंने अपने रचे हिंदी-साहित्य के इतिहासों में 'वीरगाथा-काल' की स्थापना की है । परन्तु उनकी यह स्थापना अनुचित है और निराधार भी । हुआ यह है कि इन ग्रन्थों के चरित्र-नायकों के अस्तित्व-काल को इन ग्रन्थों का रचनाकाल मान लिया गया है, जो स्पष्ट भूल है"।[२] पृथ्वीराज रासो के दो नितान्त विरोधी दृष्टिकोणों के मध्य में एक मत है । इस दृष्टिकोण से डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का अभिमत द्रष्टव्य है—"इस महाकाव्य (पृथ्वीराज रासो) में वर्णित विषय तथा भाषा, दोनों कहाँ तक प्रामाणिक है, अर्थात् १२वी-१३वी शती ई० के हैं, जब कि इसका प्रसिद्ध लेखक जीवित था, यह बात विवादग्रस्त है । तर्क-सम्मत रूप से यह अनुमान बाँधा जा सकता है कि इसमें स्वयं चन्द की लिखी भी बहुत सी रचनाएँ मौजूद हैं, परन्तु भाषा अवश्य बहुत-कुछ बदल गई होगी । मुनि श्री जिन-विजयजी को १६वी शती के अन्तिम चरण के लिखित प्रबन्धों या गद्य-कथाओं के एक जैन-संकलन की दो संस्कृत में लिखी गई गद्य-कथाओं मे कुछ पश्चिमी अपभ्रंश के पद्य मिले हैं । ये पद्य 'चन्द-बलिद्दऊ' (अर्थात् चन्दवरदिद्य या चन्दवरदाई) के लिखे हुए हैं तथा रासो के नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण के कुछ (बहुत ही विकृत) पद्यों से काफी मिलते-जुलते हैं"।[३] रासो के सभी स्थलों पर भाषा समान नहीं है। यह इस बात का सूचक है कि रासो एक ही समय की रचना नहीं है । उसमें कुछ पद्य चन्द के

---

१. कविराज श्यामलदास, पृथ्वीराज रहस्य की नवीनता, पृ० ८७; मुंशी देवीप्रसाद, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ५ (स० १९०१),पृ० १७० ।

२. राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० ३१ ।

३. भारतीय आर्य भाषा और हिंदी, पृ० १९० ।

भी हो सकते हैं, जिनका पल्लवन चन्द के वंशज बहुत पीछे तक करते रहे होंगे।

रासो की भाषा के संबंध में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी लिखते हैं—"वैसे भी 'रासो' की भाषा जीवित भाषा नही है। वह किसी भी काल या प्रदेश को बोलचाल की भाषा नहीं थी। वह तो एक कृत्रिम साहित्यिक भाषा है, जिसमें अनेकों शताब्दियों के काल की तथा हजारों मीलों के क्षेत्र की कितनी ही भाषाओं के रूप सम्मिलित है। इसके मुख्य उपादान तो पश्चिमी अपभ्रंश के हैं और साथ-साथ आद्य पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी बोलियों तथा आद्य पजाबी की विशेषताओं का जहाँ-तहाँ पुट मिला दिया गया है। १२०० ई० के पश्चात् इस प्रकार की एक मिश्रित बोली राजपूती काव्य में धीरे-धीरे प्रयुक्त होने लगी तथा 'पिंगल' या 'पिगल्' नाम से प्रसिद्ध हुई। परन्तु राजपूत-चारण-काव्यों की यह मिश्रित भाषा एक विशिष्ट प्रकार (एक वर्ग विशेष की ही) भाषा थी, जिसे उसका अध्ययन-अभ्यास करने वाले ही समझ सकते थे। यह जनसाधारण की भाषा नहीं थी"।[1] राजस्थान में डिगल के साथ-साथ चलने वाली साहित्यिक भाषा पिगल थी। पिगल में प्रचुर साहित्य राजस्थान में रचा गया है। पर प्रश्न पिगल के भाषागत रूप का है। क्या इसका मिश्रित रूप भाषा के ढाँचे और शब्दकोष दोनों से सम्बन्ध रखता है अथवा मिश्रण शब्दों तक ही सीमित है? क्या पिंगल और डिंगल में कोई मौलिक अन्तर है?

पिंगल का जन्म शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ।[2] डिंगल का मूल गुर्जरी अपभ्रंश में है।[3] अतः डिंगल के ढाँचे पर पिंगल खड़ी

---

१. भारतीय आर्य भाषा और हिंदी, पृ० १९०–१९१।

२. ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, भाग १, पृ० १२६; सुनीतिकुमार चटर्जी, राजस्थानी भाषा, पृ० ६४।

३. के० एम० मुंशी, अ० भा० हि० सा० सम्मेलन के ३३ वें अधिवेशन का विवरण, पृ० ६।

नहीं हो सकती। पिंगल और ब्रजभाषा में एकरूपता-सी है। पिंगल की तथा ब्रजभाषा की समानताएँ इस प्रकार हैं—

१. ल = र (डिंगल में यह परिवर्तन नहीं मिलता)।

२. ण = न (डिंगल में ऐसा नहीं)।

३. क्ष = छ (डिंगल क्ष=ख)।

४. पिंगल और ब्रजभाषा में, शब्दों के रूपों में संज्ञा का विकृत रूप बहुवचन 'अन' लगा कर बनता है, जैसे–घरन, ढोटन। किंतु डिंगल में 'आँ' का योग होता है—घराँ, घोड़ाँ।

परंतु डिंगल और पिंगल की एक-समानता बहुत महत्वपूर्ण है। संस्कृत एवं खड़ी बोली की पुल्लिग तद्भव सँज्ञाएँ, विशेषण और संबंधकारक के सर्वनाम पिंगल और डिंगल दोनों में ओकारांत होते हैं। साथ ही आकारांत साधारण क्रियाएँ और भूतकालिक कृदंत भी दोनों भाषाओं में ओकारांत होते हैं—आवनो–आवणो; देनो–देणो। गुर्जरी अपभ्रंश के प्रभाव से जहाँ अनेक असमानताएँ हैं, वहाँ नागर अपभ्रंश (पश्चिमी अपभ्रंश) के प्रभावक्षेत्र में होने के फलस्वरूप उक्त समानता भी मिलती है। पश्चिमी अपभ्रंश की दो विकास-दिशाएँ इस प्रकार स्पष्ट होती हैं—आकारांतता की ओर और ओकारांतता अथवा औकारांतता की ओर। औकारांत वाली परंपरा में गुजरात, राजस्थान, ब्रज और कनौज आते हैं। आकारांत वाली दिशा में पंजाब, मेरठ, रुहेलखंड, अम्बाला (देशज हिंदुस्तानी का क्षेत्र), दिल्ली, रोहतक, हिसार और पटियाला (बाँगड़ू का क्षेत्र) रहे। औकारांत बोलियाँ राजनैतिक, धार्मिक और शासकीय कारणों से साहित्यिक सौष्ठव को प्राप्त करने लगीं। आकारांत बोलियाँ मुस्लिम प्रगति के क्रम से बोलचाल में महत्त्व प्राप्त करती गईं। इस प्रकार पिंगल और ब्रजभाषा का ढाँचा समान है। शब्द-मिश्रण दोनों में है। पिंगल में डिंगल के शब्द विशेष हैं। पिंगल और ब्रज-भाषा में जैसे कोई भेद नहीं, उसी प्रकार इनके साहित्य में भी अंतर नहीं है। अतः पिंगल और ब्रजभाषा साहित्य कुछ स्थानीय अन्तरों

को छोड़ कर एक ही अविभाज्य परंपरा में हैं। ब्रजभाषा के साहित्य की चर्चा करते हुए पिंगल को नहीं छोड़ा जा सकता। दोनों के मिलित रूप की झाँकी ही यहाँ प्रस्तुत की गई है।

यद्यपि अनेक विद्वान् पिंगल के रासो साहित्य का रचना-काल बहुत पीछे ठहराते हैं, फिर भी रासो की प्रवृत्ति, परंपरा और युग के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से रासो-साहित्य पर ही पहले विचार किया जाना उचित दीखता है।

रासो-साहित्य

पश्चिमी अपभ्रंश के चरित-काव्यों की परम्परा पर पहले कुछ विचार हो चुका है। चरित-काव्यों का नायक बहुधा वैराग्योन्मुख है। कुछ में 'रोमांस' और शृङ्गार का मिश्रण नायक के चरित्र की आरम्भिक परिस्थितियों में लिपटा है। धार्मिकता का पुट रासो युग के नायक के विधान में नहीं रहा। युद्ध और शृङ्गार अत्यंत प्रबल हो उठे। चमत्कार का स्थान शौर्य ने लिया। रासो-साहित्य की यही प्रमुख विशेषता है।

'खुंमाण रासो' और 'बीसलदेव रासो' राजस्थानी भाषा के ग्रंथ हैं। परंतु 'पृथ्वीराज रासो' और 'विजयपाल रासो' ब्रजभाषा में रचित हैं। 'पृथ्वीराज रासो' से हमारा अभिप्राय यहाँ उस रासौ से है जिसमें एक लाख छंद एवं ६९ सर्ग हैं, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा तथा बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की ओर से प्रकाशित हुआ है और जिसकी कर्नल टॉड, कविराज श्यामलदास, पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा प्रभृति विद्वानों ने ऊहा-पोह की है। यह सं० १७०० के आसपास बनाया गया है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं।[1] इसकी भाषा के संबंध में डा० धीरेंद्र वर्मा ने लिखा है—"भाषा की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो की भाषा प्रधानतया ब्रज है, जिसमें उसकी ओजपूर्ण शैली को सुसज्जित करने के लिए प्राकृत

---

१. राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० ५३।

अथवा प्राकृताभास-रूप स्वतंत्रता के साथ मिश्रित कर दिए गए हैं"।[१] इस प्रकार पृथ्वीराज रासो ब्रजभाषा-साहित्य से संबंधित है। यद्यपि इसका रचना-काल बहुत पीछे का ठहराया गया है, तथापि इसकी समस्त प्रवृत्तियाँ सामन्ती-युग का प्रतिनिधित्व करती हैं।

रासो-परंपरा में दूसरा ब्रजभाषा-ग्रन्थ 'विजयपाल रासो' है।[२] इसका थोड़ा-सा अंश प्राप्त हुआ है। इसके रचयिता नल्लसिंह हैं। इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

भये भट्ट पृथु यज्ञ तैं, है सिरोहिया अल्ल।
वृत्तेस्वर जदुवंस के, नल्ल पल्ल दल सल्ल॥

इस दोहे के अनुसार कवि नल्लसिंह सिरोहिया शाखा के भाट और विजयगढ़ (करौली) के यदुवंशी नरेश विजयपाल के आश्रित थे। विजयपाल ने उसे हिंडौन नगर और विपुल संपत्ति दान में दी थी—

बोसा सौ गजराज बाजि सोलह सौ माते।
दिये सातसौ ग्राम सहर हिंडौन सुदाते॥
सुतर दिये द्वै सहस रकम गिलमें भरि अम्बर।
कञ्चन रत्न जड़ाव बहुत दीने जु अडम्बर॥
कुल पूजित राव सिरोहिया, यादवपति निज सम कियव।
नृप विजयपाल जू विजयगढ़, साहये जू सम्मपियव॥[३]

उक्त ग्रन्थ में विजयपाल के सिंहासनारोहण और उसकी दिग्विजय का भी विस्तार के साथ वर्णन किया है। उक्त पद्यों की भाषा ग्यारहवीं शती की भाषा नहीं है। इसमें कवि का नाम भी कल्पित जोड़ दिया गया है। यह रचना बहुत बाद की है।[४]

अपभ्रंश में भी कुछ रासा-ग्रंथ मिलते हैं।[५] चरित-काव्यों

---

१. ब्रजभाषा, पृ० १८।
२. मिश्रबन्धु विनोद (चतुर्थ संस्करण), प्रथम भाग, पृ० १५०।
३. मुंशी देवीप्रसाद, कविरत्नमाला, पृ० २३।
४. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० ५५।
५. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ० ३६०।

और रासो-ग्रन्थों की मिलित परंपरा में पिंगल का रासो-साहित्य आता है। रासो में वीर और शृङ्गार का योग है। राजाओं के जीवन के दो किनारे, भोग और युद्ध, का विवरण मिलता है। पर भोग, युद्ध में प्राणोत्सर्ग की पवित्रता में बाधक नहीं होता था। भोगों का त्याग जैन चरित काव्यों में विरक्ति में होता है। रासो-काव्य में उसका त्याग युद्धभूमि में होता था। विरक्ति के हटने से शान्त रस भी उपेक्षित हो गया। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'पृथ्वीराज रासो' और 'संदेश-रासक' की समानता की ओर निर्देश किया है।[1] पर अपभ्रंश की यह परंपरा आगे न चल सकी। काव्य के 'नायकों' में भोग ही अवशिष्ट रहा और युद्ध समाप्त हुआ। फलतः रीतिकालीन प्रवृत्ति और रुचि का जन्म हुआ।

रासो-साहित्य का इतना ही संक्षिप्त परिचय पर्याप्त है।

मध्यकाल-भक्तियुग

मध्यकाल की सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति भक्ति थी। भक्ति अपने आप में एक आन्दोलन थी। शास्त्र अनुज्ञा की अवज्ञा अपने आप में एक दर्शन बना। यही नहीं, सर्वत्र भक्ति लोकगीतों और पुराण की विचारधारा से पुष्ट थी। वेद (ज्ञान), वैराग्य, योग सबकी धाराएँ लुप्त-सी होने लगीं। गुरुबाणी ही वेद है। गुरु ही योग का स्रोत है। हठयोग और तंत्र-साधना योग के सहचर बने। 'शास्त्र' का स्थान 'गुरु' ने ले लिया। पर यह समस्त योजना कुछ ऐसी थी कि जन-तुष्टि नहीं हुई। चेतना के रागात्मक पक्ष पर घात था। वृत्ति, भाव और कल्पना की लोकगत क्रान्ति ही भक्ति बनी। यदि ज्ञान-योग को समाज में आना है तो भक्ति से संपृक्त होकर ही आ सकता है। ज्ञानयोग-वैराग्य भक्ति से संयुक्त होकर निर्गुण भक्ति बनी। इसके साथ प्रेम का संयोग होने से प्रेम-मार्ग बना। तंत्र के साथ भक्ति मिलकर 'सहज' रूप में आई। निर्गुण भक्ति के पंथ में भी 'राम' और 'कृष्ण' सांकेतिक रूप में प्रतिष्ठित थे। 'रामनाम का

---

१. हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० ६०।

मरम है आना' से दो बातें स्पष्ट हैं—एक, सामान्य जनता राम-कृष्ण को किसी अन्य रूप में समझती-जानती आई है। दूसरे, जन के राम-संबंधी विचारों के प्रति निर्गुणिया क्रान्तिशील था। वह साकारता के विचार से अतिरिक्त कुछ नहीं था। सामान्य जनता के इस लोकप्रिय विचार की अवहेलना करके संत कवि ने जनमानस को क्षुब्ध कर दिया। निर्गुणियों की मिलन-योजना मात्र रूपक थे और समस्त विधान निरंजन का था। वह क्षोभ लीला-भक्ति के रूप में प्रकट हुआ। लीलाभक्ति आड्वार, चैतन्य, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ के रूप में प्रकट हुई। समस्त भारत की जनता ने अनचाहे निर्गुणपूरक रूप कृष्णनाम को लीला-प्रतीक रूप में अंगीकार किया। इस युग में तीन धाराएँ थीं—

१. संतगत निर्गुण-भक्तिधारा
२. 'फकीरी' प्रेमधारा
३. भक्तगत सगुण भक्तिधारा।

पहली ब्रज प्रदेश में प्रवेश न पा सकी। पर राजस्थान के ब्रजभाषा (पिंगल) साहित्य में संत-वाणी का नाद है। सूफी प्रेमधारा तो ब्रज में आ ही नहीं सकती थी। सूफी प्रेम-गाथाओं के नायक-नायिका राधाकृष्ण के रूप-निर्माण के सामने नहीं टिक सकते थे। सगुण धारा तो ब्रज का प्राण होकर ही रही।

भक्तों के विविध संप्रदाय

भक्ति द्राविड़ देश में उत्पन्न होकर उत्तर भारत में प्रचारित हुई।[1] दक्षिण में यह भक्ति द्राविड़ों से विकीर्ण हुई। आर्यों से पूर्व द्राविड़ों में भक्ति जन्म ग्रहण कर चुकी थी और प्रचलित हो चुकी थी।[2] वैदिक देव वरुण में भी भक्ति के समस्त तत्व दिखाई पड़ते हैं। पर वहाँ भक्ति का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, वहाँ केवल बीज

१. भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानंद।
२. डा० सत्येंद्र, सूर की झाँकी, पृ० ११।

हो सकता है। वैदिक काल में प्रकृति की शक्तियों में दैवीशक्ति की प्रतिष्ठा हुई। उन शक्तियों में व्याप्त ब्रह्म की सत्ता का आभास हुआ। इसी ब्रह्मशक्ति का वर्णन उपनिषदों में हुआ। ब्रह्मविद्या गोपनीय और रहस्यपूर्ण मानी गई है। उपनिषदों में एक ब्रह्म की सत्ता का निरूपण किया गया है। उसको प्राप्त करने के लिए गुरु से उपनिषद् (रहस्य) के ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है। इसी काल में भक्ति का सूत्रपात हुआ। वहाँ ब्रह्म को रसरूप माना गया है।[1] इसको प्राप्त करने पर आनंदोपलब्धि होती है। अथर्ववेद में उल्लेख है कि आनंदानुभव के लिए विश्वकर्ता ने सृष्टि की रचना की। वह स्वयं रस से तृप्त है; वह कहीं से किसी प्रकार रस से न्यून नहीं है।[2] इस प्रकार रसमय भगवान् की रसमय 'लीला' का संकेत उक्त श्रुतियों में मिल जाता है। पुराण-काल में संकेत-रूप में उपस्थित भक्ति विकसित हुई।

पौराणिक युग के संबंध में श्री परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं—"उस समय के प्रचलित प्रत्येक आर्य धर्म को प्राचीन वैदिक जीवन के पुनरुद्धार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और वह उसे समयानुसार अधिकाधिक अपनाने में लग गया। फलतः प्राचीन व्यवस्थाओं के संरक्षणार्थ पुराणों की सृष्टि की गई। उपासना के भीतर तंत्रोपचार का समावेश किया गया, वैदिक देवताओं के नर-रूपोपम भाव की पुनरावृत्ति होने लगी और पुराने 'एकांतिक धर्म' का भागवत धर्म वाला रूप क्रमशः वैष्णव धर्म में परिणत हो गया"।[3] अब अवतारों की कल्पना हुई। कृष्ण के रूप पर हमारे भावुक मनीषी कभी के रीझ चुके थे। गुप्तयुग में कालिदास को 'गोपवेशस्य विष्णोः' की प्रेक्षणीयता वाली झाँकी 'रत्नच्छायाव्यतिकर' इन्द्रधनुष में मिल सकी। कृष्ण की कमनीयता का पूर्ण निखार पूर्व मध्यकालीन

१. रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। (तै० उप०)।
२. रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः (अथर्व, १०,८,४४)।
३. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत-परंपरा।

(८वीं–९वीं शती वाली) भागवत में आया । पर उसमें राधा की कोई चर्चा नहीं है । भगवान् के किसी ध्यान में आश्लिष्ट मूर्ति की झाँकी भी नहीं मिलती । फिर 'युगल-मूर्ति' की भावना कहाँ से आई ?

ईसा से पूर्व लगभग १५वीं शती में याज्ञिक हिंसा और वैदिक कर्मकांड के आडंबर के विरुद्ध उदात्त विरोध एवं लोक-मंगलमय सन्देश लेकर कृष्ण द्वारा धर्मचक्र के रूप में वैष्णव मत का आरंभ हुआ । पाणिनि के समय (ई० पू० ५वीं शती) तक कृष्ण एवं उनके मुख्य शिष्य अर्जुन की उपासना प्रचलित थी । उसके कुछ शतियों बाद कृष्ण-बलदेव की उपासना चलती रही । ईसा की प्रथम शती में एक तांत्रिक विचारधारा समस्त भारत में व्याप्त हुई । इस लहर ने प्रायः भारत की प्रत्येक दर्शन-पद्धति को प्रभावित किया । जैन मत इस प्रभाव का अपवाद रहा । बौद्ध मत का महायान और उसके मंत्रयान, वज्रयान आदि अवांतर रूप, ब्राह्मण धर्म के पाशुपत, कापालिक, रसेश्वर, शाक्त आदि भेद उसी तंत्र-पंथ की विभिन्न पगडंडियाँ हैं । चार्वाक संप्रदाय का इसी वर्ग वाला नीलांबर या नीलपट नामक एक पंथ भोज के समय तक चल रहा था । इस सम्प्रदाय में स्त्री-पुरुष के नग्न मिथुन एक ही नील वस्त्र में लिपटे हुए सरे-आम घूमा करते थे ।[1] महाराज भोज ने इस पंथ का अन्त किया । शब्दोपासक सन्त मत और योग-साधक गोरखपंथ तक इसके प्रभाव से नहीं बच सके । उनके सुरत-निरत और सुन्न महल में सुरत की भावना यही वस्तु है । वैष्णव मत में 'गोपी-लीला' नामक पूर्व मध्यकालीन संप्रदाय में यह लहर व्याप्त हुई । आगे चलकर चौरासी बौद्ध सिद्धों की भाँति परकीया प्रेम को ही वैष्णव मत ने सच्चा प्रेम मान लिया । इसी परकीया प्रेम-पद्धति का रूप जयदेव के 'गीत-गोविंद', विद्यापति की 'पदावली' तथा बंगाल और ब्रज की पद-रचनाओं में मिलता है ।

---

१. 'विश्वभारती पत्रिका', कार्तिक-पौष, २००३, पृ० ५४५ ।

बौद्ध धर्म हर्ष-काल में अवनत हो गया था । महायान के शून्यवाद और विज्ञानवाद जनता को अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ रहे । इनमें महासुखवाद का मिश्रण हुआ और वज्रयान की सृष्टि हुई । वज्रयान में भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति वाले लोगों के लिए भिन्न-भिन्न साधन थे—योग, देव-पूजा, मंत्र, सिद्धि, विषय-भोग आदि । वज्रयान से सहजयान का आविर्भाव हुआ । सहजयान में वज्रयान के विभिन्न प्रतीकों की दूसरे रूप में व्याख्या प्रस्तुत की गई । इसका लक्ष्य था कि सहज मानव की जो आवश्यकताएँ हैं उन्हें सहज रूप में पूरा होने दिया जाए । पीछे यह भी पाखंड-मार्ग हो गया । तंत्र-वाद से इसका योग हुआ । कृष्ण की भक्ति का परकीया दाम्पत्य-भाव इसी पृष्ठभूमि में उत्पन्न हुआ । इस मधुर भाव का प्रचार भारत में सर्वत्र हुआ ।

<u>आड्वार</u>—आड्वार भक्त तामिल प्रान्त में हुए । इनकी संख्या १२ थी । इनकी मुख्य साधना गीत, भजन, गान के रूप में थी । इनके गीतों का संग्रह 'प्रबन्धम्' नाम से प्रसिद्ध है । यह तामिल-वेद माना जाता है । आड्वारों का आविर्भाव-काल विक्रम की दूसरी शती से लेकर १०वीं शती तक माना जाता है । प्रायः सभी आड्वार सामान्य मनुष्य थे । कुछ निम्न जातियों के भी थे । 'शठकोप' शूद्र परिवार में उत्पन्न हुए थे । 'गोदा' नामक एक स्त्री मधुर भाव को लेकर चली । इन भक्तों में सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य तीनों भावों की साधना मिलती है । 'नम्म' तथा 'आंडाल' ने अपने पदों में माधुर्य भाव को ही विशेष रूप से अपनाया । ब्रज के भक्त कवियों की भक्ति भी इन्हीं तीन भावों से युक्त थी । वल्लभ सम्प्रदाय के कवि मुख्य रूप से वात्सल्य-सख्य को लेकर चले । पर पीछे उनमें माधुर्य भाव प्रधान स्थान प्राप्त करता गया । निम्बार्कीय और गौड़ीय ब्रजभाषा-कवियों ने तो माधुर्य को ही अपनाया । राधावल्लभीय संप्रदाय में भी इसी का प्रमुख स्थान है ।

वारकरी संप्रदाय—महाराष्ट्र में वारकरी संप्रदाय का निर्माण हुआ। इस पर निर्गुण विचारधारा और योग का विशेष प्रभाव था। इस संप्रदाय में वर्ण-व्यवस्था और वेद-प्रामाण्य दोनों मान्य हैं। पर कर्मकांड के स्थान पर भक्ति की प्रतिष्ठा है। इस मत में अनेक तत्त्वों का मिश्रण है। पंढरपुर में स्थापित विट्ठल नामक विष्णु या कृष्ण की मूर्ति के सिर पर शिव की मूर्ति बनी है। हर-हरि में ये लोग कोई भेद नहीं करते।[1] इस प्रकार यह एक स्मार्त सम्प्रदाय प्रतीत होता है। विट्ठल के साथ रुक्मिणी भी हैं। इसमें स्वकीयात्व की झलक है। भजन और कीर्तन की पद्धति भी इसमें मान्य है। ये लोग भजन-कीर्तन करते-करते भावावेश में आ जाते थे। इस प्रकार वारकरी पंथ का मूल अद्वैती रूप द्वैतभाव से पूर्णतः प्रभावित जान पड़ता है। इसकी प्रगति इस प्रकार सगुणोपासना की ओर दीखती है।

वैष्णव-सहजिया—चैतन्य से पहले ही बंगाल में वैष्णव-सहजिया शाखा चल रही थी।[2] इस शाखा से ही चंडीदास संबंधित थे। इनमें प्रेमभाव की इतनी उग्रता थी कि ये 'पागला चंडी' के नाम से प्रसिद्ध हो गए। इनका प्रेम-संबंध 'रामी' नामक रजकी या धोबिन के साथ था। इन्होंने उसको 'वेदमाता-गायत्री' तक कहा है। राधाकृष्ण-संबंधी अनेक पदों का इन्होंने प्रणयन किया। राधा-कृष्ण के प्रेम की व्याख्या इन्होंने यों की है—न वैसी प्रीति कहीं देखी और न सुनी। उन दोनों के प्राण एक-दूसरे से आबद्ध हैं। सतत संयोग में रहते हुए भी वे भावी वियोग की आशंका से रो पड़ते हैं।[3] इस प्रेम-व्याख्या में परकीयात्व की झलक है। इसी को सहज भाव कहा गया है। इसी राधाकृष्ण के भाव को लेकर चैतन्य मत का निर्माण हुआ।

---

१. बलदेव उपाध्याय, वारकरीज, दी फोरमोस्ट वैष्णव सेक्ट आफ महाराष्ट्र दी इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भा० १५, (१६३६), पृ० २७।
२. मजुमदार, हिस्ट्री आफ बंगाल, पृ० ४२४।
३. दिनेशचंद्र सेन, बंगाली लैंग्वेज एंड लिटरेचर, पृ० १३०–१।

इस प्रकार समस्त भारत के आकाश में सगुण लीलात्मक भक्ति के बादल छा गए। इनसे जो काव्य-वर्षा हुई वह अनेक भक्तों के घटों को भर सकी। राधा-कृष्ण की लीलाभूमि होने के कारण समस्त भावधारा का केन्द्र ब्रज बन गया।

निर्गुण धारा

पश्चिमी अपभ्रंश के क्षेत्र में जैनों का बोलबाला रहा। गुजरात और राजपूताना के व्यापारी और क्षत्रिय जैन धर्म से प्रभावित थे। राष्ट्रकूट और गुर्जर-सोलंकी राजाओं पर जैन धर्म का प्रभाव था। जैनधर्म दक्षिण में दिगम्बर रूप में था तथा गुजरात-राजपूताना श्वेताम्बरों का क्षेत्र था। जैनों के साहित्य को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रबंध या चरित साहित्य और मुक्तक साहित्य। चरित-साहित्य की परंपरा में राजस्थान की पिंगल भाषा का रासो-साहित्य माना जा सकता है। मुक्तक की परंपरा में उपदेशात्मकता प्रमुख रूप से थी। इनमें काव्य की दृष्टि प्रमुख नहीं है। मुक्तक काव्य में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म-स्वरूप, आत्मज्ञान, संसार-नश्वरता, विषय-त्याग, वैराग्य-भावना आदि का प्रतिपादन मिलता है। हिंदी के संत-साहित्य के आध्यात्मिक पक्ष की बातों की पर्याप्त समानता इनसे है। जैन अपभ्रंश मुक्तकों की दूसरी धारा सदाचार-संबंधी है। जीवन-यापन की आदर्श विधि की ओर इन रचनाओं में संकेत मिलता है। अपभ्रंश साहित्य की दूसरी धारा बौद्धों से संबंधित है। सिद्धों की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—कुछ रचनाओं में तो सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर कवि चला है। दूसरे प्रकार की रचनाएँ आलोचनात्मक हैं। इनमें ब्राह्मण-धर्म के कर्म-कांड और प्राचीन रूढ़ियों की कटु आलोचना मिलती है। रहस्योक्तियाँ भी बौद्ध सिद्धों की वाणी में व्याप्त हैं।

इस प्रकार पश्चिमी अपभ्रंश के क्षेत्र में जैनों के माध्यम से तीन साहित्यिक धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं—

१. आध्यात्मिक मुक्तक-काव्य।

२. सदाचार-मूलक काव्य ।

३. चरित-काव्य।

प्रथम दो हिंदी के संत कवियों की धरोहर बनीं । तृतीय धारा हिंदी की वीरगाथा-प्रवृत्ति के बीजों को छिपाए है। पश्चिमी अपभ्रंश के जैन-साहित्य की इन प्रवृत्तियों के साथ सिद्धों का खंडन-मंडन वाला तत्त्व मिला और हिंदी-संत कवियों की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। सूफियों के प्रेम-तत्त्व और रामानंद के भक्ति-तत्त्व से सहारा पाकर संत-साहित्य जनोन्मुख होने लगा। महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, राजस्थान आदि में संतों के अनेक पंथ स्थापित हुए और संत मत का प्रचार तीव्र गति से होने लगा। पर ब्रज प्रदेश में इस साहित्य की दीर्घ परंपरा नहीं मिलती। ब्रजभाषा-साहित्य की समृद्धि का आरम्भ निर्गुण भक्ति से नहीं, सगुण भक्ति से होता है । ब्रज में आज संतों के दो पंथ मिलते हैं—राधास्वामी पंथ (आगरा) और तुलसी साहिब का पंथ (हाथरस, मथुरा)। ये पंथ भी विशेष व्यापक नहीं हैं।

ब्रज में निर्गुण धारा के प्रसार न पाने के अनेक कारण हो सकते हैं। सबसे पहले तो यह कि जैन और बौद्ध दोनों प्रभावों से यह क्षेत्र अधिकांशतः मुक्त रहा । राधा-कृष्ण की लीलाभूमि होने के कारण सगुण धारा ही यहाँ प्रवाहित हो सकती थी। सूफी फकीर भी ब्रज से बाहर ही रहे। राजस्थान जैन प्रभाव में होने के कारण कुछ संत कवियों और पंथों को जन्म दे सका। इन संतों की भाषा 'पिंगल' रही। पिंगल भाषा औकारांत-बहुला है। फिर भी आकारान्तता संत-परंपरा की एक विशेषता थी। अतः इसका प्रभाव राजस्थान के पिंगल संत-काव्य पर परिलक्षित होता है । आगे के पृष्ठों में पिंगल के संत-कवियों का तथा तुलसी-पंथ और राधास्वामी-पंथ का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

पिंगल का संत-साहित्य

राजस्थान के पिंगल साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग

निर्गुणपंथी संतों द्वारा ही रचा गया । राजस्थान के प्रमुख संत-सम्प्रदाय निम्नलिखित थे—

दादू पंथ, चरणदासी पंथ, रामसनेही पंथ,
निरंजनी पंथ, लालदासी पंथ।

इन संप्रदायों से मुक्त भी अनेक संत हुए जो संतों के स्वर को ही लेकर साहित्य-सृजन में रत रहे।

दादूपंथ का प्रचार जयपुर राज्य में विशेष था। इस पंथ पर हिंदू विचारों का प्रभाव अधिक है। दादूपंथी समाज चार भागों में विभाजित है—खालसा, विरक्त, उतराधा (प्रचारक पंजाब की ओर गए) और नागा। जयपुर से १४ मील दूर नरेना नामक स्थान दादू-पंथियों का मुख्य तीर्थ है। यही दादूजी के शव को भूमिगत किया गया था। इस पंथ के कवि इस प्रकार हुए—

दादूदयाल रज्जबजी
गरीबदास जगन्नाथदास
बखनाजी भीखजन
जगजीवन सन्तदास
जनगोपाल वाजिन्दजी
सुन्दरदास खेमदास
राघवदास रसपुंजदास
स्वरूपदास मंगलदास

इस सम्प्रदाय की सर्वोच्च प्रतिभा सुन्दरदास हैं। शैली और विषय का वैविध्य इनकी कविता की विशेषता है। भाषा ब्रजभाषा ही है। अन्य सन्तों की भाषा पर आकारांत-बहुला भाषा का प्रभाव भी थोड़ा-बहुत है। स्वयं दादू की भाषा में खड़ापन है—

दादू देख दयाल को, सकल रहा भरपूर।
रोम-रोम में रमि रह्या, तू जनि जानै दूर॥

इसमें 'रहा' खड़ी बोली की आकारांत क्रिया है। ब्रज में 'रह्यौ' रूप मिलता है। किंतु सुन्दरदास की भाषा ब्रजभाषा (पिंगल)

ही है। इनके कवित्त और सवैयों में तो रीतिकालीन भाषा का गठन स्पष्ट दीखता है। एक उदाहरण यह है—

देह तज्यो अरु नेह तज्यो अनि खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत सहे तन, धूप समै जो पँचागिनि जारी॥
भूख सही रहि रूख तरे, पर 'सुन्दरदास' सबै दुख भारी।
डासन छाँड़िकै आसन ऊपर आसन मार्‌यौ पै आस न मारी॥

इस प्रकार दादू-पंथ की मुख्य भाषा तो ब्रजभाषा ही रही, पर कहीं-कहीं खड़ी बोली के क्रियारूप भी मिल जाते हैं।

चरणदासी सम्प्रदाय का प्रवर्तन चरणदासजी के द्वारा हुआ। इनका निवास-स्थान मेवात था। इस सम्प्रदाय की मुख्य विशेषता यह है कि निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की भक्ति के तत्वों का मिश्रण इसमें मिलता है। किंतु विशेष झुकाव निर्गुण की ओर था। दूसरी विशेषता है कि अन्य निर्गुण मतों में राम का नाम मिलता है। इसमें कृष्ण का नाम प्राप्त होता है। इस पंथ में दो कवियित्रियाँ भी हुईं—दयाबाई और सहजोबाई। संत चरणदास ने कृष्ण की लीला से संबंधित निम्नलिखित साहित्य रचा—

१. <u>'ब्रजचरित्र' वा ब्रजचरित-वर्णन</u>—इस ग्रन्थ में वाराह संहिता पर आधारित श्रीकृष्ण और ब्रजभूमि-संबंधी अलौकिक बातों का सांकेतिक वर्णन है।

२. दान-लीला।

३. मटकी-लीला।

४. कालीनाथ-लीला।

५. श्रीधर ब्राह्मण-लीला।

६. माखनचोरी-लीला।

ब्रज मंडल का अलौकिक वर्णन इन उदाहरणों से स्पष्ट है—

मथुरा मंडल परगट नाहीं।
परगट है सो मथुरा नाहीं॥
मथुरा मंडल यही कहावै।
दिव्यदृष्टि बिन दृष्टि न आवै॥

वृन्दावन के सम्बन्ध में—

दिव्य वृन्दावन, दिव्य कालिन्द्री ।
देखै सो जीतै मन इन्द्री ॥

और—

अमरलोक तिहुँ लोक सो न्यारो ।
मथुरा मण्डल अंश बिचारो ॥
अमरलोक बिच है निज धामा ।
जासु अंश वृन्दावन नामा ॥

इस प्रकार वृन्दावन, ब्रजभूमि आदि का आध्यात्मिक स्वरूप-निरूपण ही चरणदासजी के काव्य में मिलता है । भाषा बिलकुल ब्रजभाषा दीखती है । अन्य संतों की भाँति खड़ी बोली का प्रभाव नहीं दीखता ।

रामसनेही पंथ राजस्थान में सबसे अधिक लोकप्रिय है । श्री रामानुजस्वामी को इस पंथ के अनुयायी अपना आदि आचार्य मानते हैं । इस पंथ की शाहपुरा-शाखा के प्रवर्तक रामचरण (सं० १७७६–१८५५) थे । जयपुर के सोड़ा नामक ग्राम के ये रहने वाले थे । इनकी भाषा पर राजस्थानी का विशेष प्रभाव है । खड़ी बोली की आकारान्तता भी मिलती है । इनकी भाषा का नमूना यह है—

नाभि कमल में सब्द गुँजारै । नौ सै नारी मंगल उच्चारै ॥
रोम-रोम झुणकार झुणक्कै । जैसे अन्तर तांत ठुणक्कै ॥
माया अच्छर यहाँ बिलाया । ररकार इक गगन सिधाया ॥
पच्छिम दिसा मेरु की घाटी । बीसौं गाँठ छोर से फाटी ॥
त्रिकुटी संगम किया सनाना । जाइ चढ्या चौथे अस्थाना ॥

इसमें 'बिलाया', 'सिधाया', 'किया', 'चढ्या' आदि क्रियाएँ आकारांत हैं । ब्रजभाषा के अनुसार ये औकारांत होनी चाहिए । इस संप्रदाय के अन्य पिंगल-कवि ये हैं—

१. रामजन (रचनाकाल सं० १८३९ वि०)—'रामपद्धति', 'दृष्टान्तसागर' और फुटकर वाणियाँ ।

२. जगन्नाथ (रचनाकाल सं० १८५५)—'ब्रह्मसमाधि-विलीन जोग' ग्रंथ ।

३. हरिरामदास (रचनाकाल सं० १८००-१८३५)-'नीसाणी' एक प्रमुख रचना ।

४. रामदास (रचनाकाल सं० १८०६-१८२१)—'गुरु-महिमा', 'भक्तमाल', 'चेतावनी', जमफारगती' आदि ग्रंथ ।

५. दयालदास (सं० १८१६-१८८५)—'करुणासागर' प्रसिद्ध ग्रन्थ है ।

६. दरियावजी (स० १७३३-१८०५)- 'वाणी' ग्रन्थ ।

निरंजनी पंथ संत हरिदास से चला । हरिदासजी जोधपुर राज्य के कापड़ोद गाँव मे उत्पन्न हुए बताए जाते है । इनके निम्न-लिखित ग्रन्थ कहे जाते है[1]—

भक्त विरदावली, भरथरी सवाद, साखी, पद, नाममाला, नामनिरूपण, ब्याहलो, जोग ग्रन्थ, टोडरमल जोग ग्रन्थ ।

हरिदासजी की एक रचना इस प्रकार है—

अब मैं हरि बिन आन न जाँचूँ ।
भज भगमंत मगन है नाचूँ ॥
हरि मेरा, करता हूँ हरि किया ।
मैं मेरा मन हरि कूँ दिया ॥[2]
ज्ञान, ध्यान, प्रेम हम पाया ।
जब पाया तब आप गँवाया ॥[3]

इस प्रकार इन्होंने परब्रह्म की व्याख्या संत-प्रणाली के अनुसार ही की है । भाषा की दृष्टि से 'मेरा', 'दिया', 'पाया', 'गँवाया' आदि रूप ब्रजभाषा-परम्परा के अनुकूल नहीं है; आकारांत खड़ी बोली से प्रभावित हैं । 'प्रेम' पर इनकी कविताएँ सरस हैं ।

लालदासी पंथ में मेव जाति के लोग अधिक है । प्रचारक्षेत्र अलवर के आसपास है । लालदास इसके प्रवर्तक थे । लालदास का

---

१. पुरोहित हरिनारायण, सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ६२ ।
२. श्रीहरिपुरुष की वाणी, पृ० २३५-६ ।
३. वही, पृ० ६ (साखी ५, ६, ७) ।

जन्म १५४० ई० (सं० १५९७) में हुआ।[1] १६५२ ई० (सं० १७०९) में ये स्वर्गवासी हुए। इन्होंने अनेक फुटकर पदों की रचना की। इनकी वाणियों का एक संग्रह 'लालदास की चेतावणी' स्व० हरिनारायण जी पुरोहित के पुस्तकालय में हस्तलिखित रूप में सुरक्षित है। इनके सिद्धान्तों पर कबीर के मत का स्पष्ट प्रभाव दीखता है। भाषा पर आकारांत खडी बोली का प्रभाव है। उदाहरण—

लालजी भगत भीख न माँगिए, माँगत आवै शरम।
घर-घर टांडत दुःख है, क्या बादशाह क्या हरम॥
लालजी साधु ऐसा चाहिए, धन कमा कर खाय।
हिरदे हरि की चाकरी, पर घर कभूँ न जाय॥

उक्त पंथानुयायी संत कवियों के अतिरिक्त अनेक फुटकर संत भी राजस्थान में हुए, जिन्होंने पिंगल में कविता की। समस्त राजस्थान में इस प्रकार के निर्गुण पंथ वाले अनेक संत हुए। उन्होंने अपनी वाणियों से वहाँ के वातावरण को भर दिया। वीरगाथा के स्थान पर निर्गुण और निराकार का ज्ञान, प्रेम और भक्ति की सरसता और योग को इन कवियों के द्वारा प्रतिष्ठित किया गया।

साहिब पंथ

इसके प्रवर्तक तुलसी साहब थे, जिन्हें 'साहिबजी' भी कहा जाता है। इनके जीवन की झाँकी अस्पष्ट है।[2] इनका संबंध महाराष्ट्री संत-परंपरा से प्रतीत होता है। इन्होंने अपना गुरू नही बनाया। लिखा है—

कज गुरू ने राह बताई।
देह गुरू से कछू न पाई॥[3]

कुछ का ऐसा विश्वास है कि पहले ये आवा-पंथ में थे, पीछे

---

१. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ० ४०४।
२. जीवन-परिचय के लिए देखिए 'रत्नसागर' की भूमिका तथा 'शब्दावली' भाग १ (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)।
३. घट रामायन, भाग २ (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ४१६।

संत-मत अंगीकार किया ।[1] परन्तु इनकी रचनाओं से इनका आवा-पंथ से संबंध स्थापित नहीं होता । 'घट रामायण' में इन्होंने अपने पूर्व जन्म-प्रसंग पर भी लिखा है । उस जन्म में इन्होंने अपने को गो० तुलसीदास माना है । तुलसीकृत रामायण को घट रामायण के रूप में इन्होंने अवतरित किया । उसकी सांकेतिक व्याख्या इस प्रकार की—

घट में रावन राम जो लेखा । भरत सत्रगुन दसरथ पेखा ॥
सीता लखन कोसल्या माहीं । मंथरा केकई सकल रहाईं ॥
इन्द्रजीत मन्दोदरि भाई । रावन कुम्भकरन घट माही ॥
सारा जगत पिंड ब्रह्मांडा । पाँच तत्त रचना कर अंडा ॥

\+ \+ \+

घट रामायन अगम पसारा । पिंड ब्रह्मांड लखा विधि सारा ॥
नाम अनेक अनेकन कहिया । सो सब घट भीतर दरसइया ॥[2]

इनके जीवन के विषय में कहा जाता है—"अक्सर हाथरस के बाहर एक कम्बल ओढ़े और हाथ में डंडा लिए दूर-दूर शहरों में चले जाया करते थे । जोगिया नाम के गाँव में, जो हाथरस से एक मील पर है, इन्होने अपना सत्संग जारी किया और बहुतों को सत्यमार्ग पर लगाया । इनकी हालत अक्सर गहरे खिचाव की रहा करती थी और आवेश की दशा में धारा की तरह ऊँचे घाट की बानी उनके मुख से निकलती थी । जो कोई निकटवर्ती सेवक उस समय पास रहा, उसने जो सुना-समझा लिख लिया, नहीं तो वह बानी हाथ से निकल गई । इस प्रकार के अनेक शब्द उनकी शब्दावली में हैं ।[3] शब्दावली की भूमिका में इनका जन्म-संवत् १८२० तथा मृत्यु-संवत् १८९९ माना है । आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इनका

---

१. क्षितिमोहन सेन, मेडीवल मिस्टीसिज्म आफ इंडिया, पृ० १६० ।

२. घट रामायन, भाग २ (बिलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ४११-१३ ।

३. घट रामायन, भाग १ (बे०वे० प्रेस, प्रयाग), पृ० ३-४ ।

जन्म १७६० ई० (सं० १८१७) में तथा मृत्यु सन् १८४२ ई० (सं० १८६६) में माना है ।[1]

इनकी मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

घट रामायन, शब्दावली, रत्नसागर तथा पद्मसागर।

इनकी भाषाओं के प्रमुख उपकरण ब्रजभाषा के हैं। कहीं-कहीं आकारांतता है ।

राधास्वामी-सत्संग

सत्संग की वंशावली इस प्रकार दी जाती है—

लाला शिवदयालसिंह 'स्वामीजी महाराज'
(आगरा, सं० १८७५-१६३५)

जयमलसिंह
(मृ० सं० १६६०)
डेरा व्यास

राय सालिगराम
बहादुर हजूर
महाराज साहेब
(आगरा, सं० १८८५-१६५५)

गरीबदास
राय वृन्दावन
(दिल्ली)

बाबा रामविहारीदास

सरदार
बग्गासिंह
(तरन-तारन)

बाबा देवासिंह

सरदार सावनसिंह
(डेरा व्यास)

महर्षि शिवव्रतलाल
गोपीगंज
(मृ० सं० १६६६)

ब्रह्मशंकर मिश्र
महाराज साहेब
(प्रयाग, सं० १६१८-
१६६४)

---
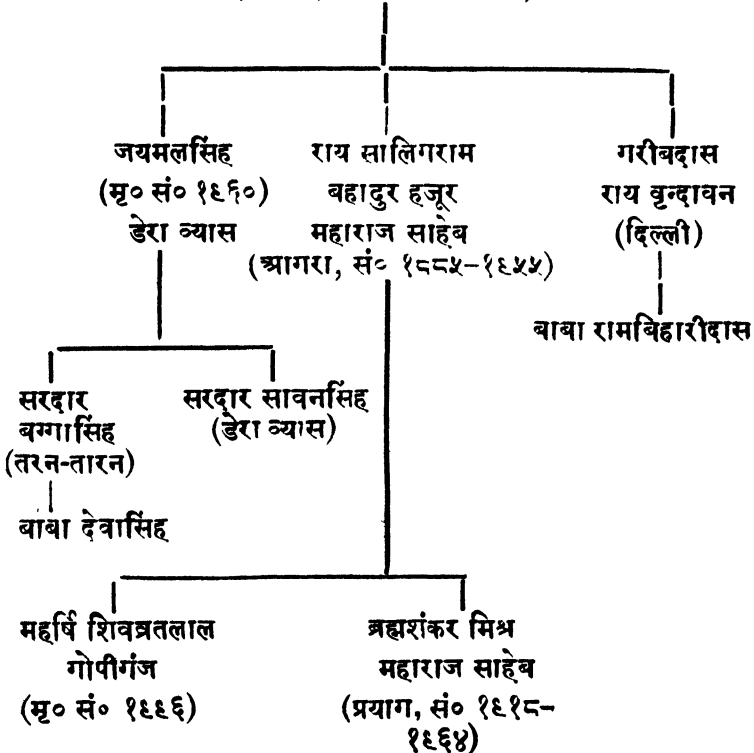
१. मेडीवल मिस्टीसिज्म आफ इंडिया, पृ० १६०-१ ।
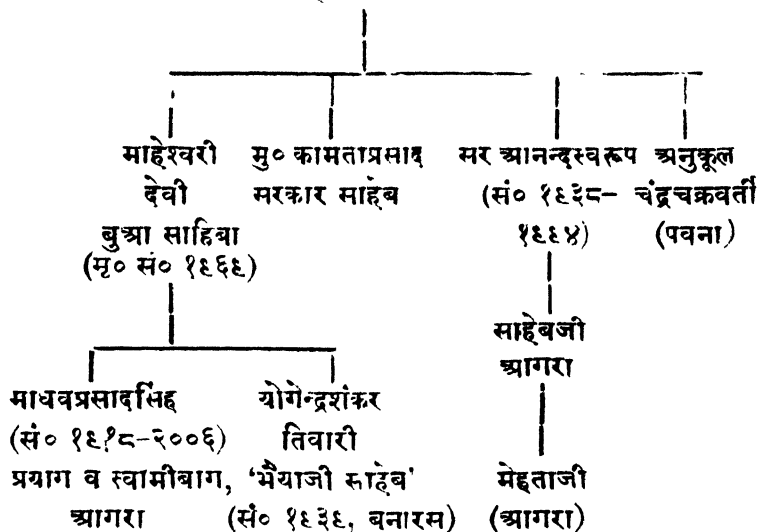
'राधास्वामी' शब्द स्वयं परमात्मा अथवा सबसे उच्चतम परात्पर पद के लिए प्रयुक्त होता है। इस मत के अनुसार ब्रह्मांड का अनुकरण ही पिंड में है। पिंड तीन खंडों में विभाजित है—पिंडदेश, ब्रह्मांडदेश तथा दयालदेश। प्रथम प्रदेश में भौतिक तत्त्व प्रमुख है, दूसरे में चेतन प्रमुख है और तीसरा शुद्ध चेतन है। इन खंडों को फिर उपखंडों में विभाजित किया गया है। समस्त विश्व-रचना का मूल स्रोत 'सोआमी' है। वहाँ से जो चेतना की धारा प्रवाहित होती है वही राधा है। वह मातृरूपा है। 'राधा' 'सोआमी' को उसी प्रकार अभिव्यक्त करती है जैसे किरणें सूर्य को। यही राधास्वामी मत का मुख्य तत्त्व है।

'सुरत शब्दयोग' की मान्यता इसके साधना-पक्ष में है। शब्द की साधना की अन्तिम सीमा अनाहत का श्रवण है। सुमिरन, ध्यान और भजन नाम-श्रवण की तीन स्थितियाँ हैं। भक्ति-तत्त्व की भी इस साधना में मान्यता है।

इस सम्प्रदाय के संतों का साहित्य इस प्रकार है—

१. लाला शिवदयालसिंह स्वामीजी महाराज—(१) सार-वचन [नजम], (२) सारवचन [नसर]।

२. राय सालिगराम साहेब, 'हुजूर महाराज साहेब'—सार उपदेश, निज उपदेश, प्रेम उपदेश, गुरु उपदेश तथा प्रेमपत्र।

उक्त गद्यग्रन्थ खड़ी बोली में हैं। 'प्रेमबानी' पद्य-ग्रन्थ है। इसमें भी खड़ी बोली के प्रयोग अधिक है। इन ग्रन्थों की भाषा मुख्यतः संत-भाषा ही है। फिर भी ब्रजभाषा के रूप भी कम नहीं है। 'हुजूर महाराज साहेब' की रचना का एक उदाहरण इस प्रकार है—

ढूँढ़त - ढूँढ़त बन - बन डोली।
तब राधास्वामी की सुन पाई बोली॥
प्रीतम प्यारे का दिया सँदेसा।
शब्द पकड़ जाओ उस देशा॥
कर सतसंग खुले हिये नैना।
प्रीतम प्यारे के सुने वही बैना॥
जब पहचान मेहर से पाई।
प्रीतम आप गुरू बन आई॥[1]

निर्गुण भक्ति को लेकर उक्त दो पंथ ही ब्रज में स्थापित हुए। यद्यपि इनका स्थितिकाल आधुनिक है, फिर भी संत-प्रवृत्ति से संबंधित होने के कारण उनका परिचय संत-साहित्य के ही साथ दे दिया गया है। वस्तुतः ब्रजभाषा-साहित्य में संत-साहित्य की प्रमुखता नहीं है। सगुण भक्ति के उदय के साथ ब्रजभाषा-साहित्य का गौरव-पूर्ण अध्याय आरम्भ होता है। राधाकृष्ण की दिव्य और सरस लीलाओं का माधुर्य ब्रज के भाषागत माधुर्य से मिलकर एक अनुपम रमणीयता उत्पन्न कर देता है।

सगुण धारा

ब्रजभाषा-साहित्य पर सगुण भक्ति का बड़ा व्यापक प्रभाव

---

१. 'प्रेमबानी', भाग ३, शब्द साधन।

पड़ा। अनेक आचार्यों और उनकी शिष्य-परम्परा ने ब्रजभाषा को ही अपना प्रमुख प्रचार-माध्यम बनाया। संत-कवियों की वाणी ब्रजभाषा में सहज रूप से मुखरित हो उठी और उसने देश के एक बड़े भाग को माधुर्य रस से आप्लावित कर दिया।

सगुण भक्ति की विविध धाराओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि का विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ हम विभिन्न सम्प्रदायों के प्रमुख कवियों की रचनाओं की चर्चा करेंगे।

(१) वल्लभ सम्प्रदाय

अष्टछाप

वल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत, ब्रजभाषा-साहित्य की रचना की दृष्टि से, अष्टछाप का स्थान निस्संदेह प्रमुख है। अष्टछाप के कवि ये हैं—

१.	कुंभनदास	५.	गोविंदस्वामी
२.	सूरदास	६.	नंददास
३.	परमानंददास	७.	छीतस्वामी
४,	कृष्णदास	८.	चतुर्भुजदास

इन कवियों के सांप्रदायिक दृष्टि से दो रूप हैं—सखारूप और सखीरूप। इन आठों का सखारूप यह है—

कुंभनदास	अर्जुन सखा
सूरदास	कृष्ण सखा
परमानंददास	तोक सखा
कृष्णदास	ऋषभ सखा
गोविंदस्वामी	श्रीदामा सखा
नंददास	भोज सखा
छीतस्वामी	सुबल सखा
चतुर्भुजदास	विशाल सखा

कृष्ण की दैनिक लीलाओं में उक्त कवि सखारूप से कृष्ण-लीला में भाग लेते हैं। सखारूप में कवियों की यह भावना ब्रज की

अपनी वस्तु है। बंगाल के कवियों में सखी-भाव प्रमुख था, ब्रज में सखाभाव। कृष्ण का आरोप श्रीवल्लभ में होने के उपरान्त उनके परिकर के अन्य व्यक्तियों को सखारूप में ग्रहण करना स्वाभाविक था।

रात्रि की लीलाओं में ये ही कवि सखीरूप में रहते थे। सखीरूप में इनकी स्थिति इस प्रकार थी—

अष्टसखा	लीलात्मक स्वरूप	लीलासक्ति
कुंभनदास	विशाखा सखी	निकुंजलीला
सूरदास	चंपकलता	मानलीला
परमानंददास	चंद्रभागा	बाललीला
कृष्णदास	ललितासखी	रासलीला
गोविंदस्वामी	भामा सखी	आँखमिचौनी
छीतस्वामी	पद्मा सखी	जन्मलीला
चतुर्भुजदास	विमला	अन्नकूट लीला
नंददास	चंद्ररेखा	किशोरलीला

"चैतन्य सम्प्रदाय में भी ठीक ऐसा ही सम्प्रदाय-विधान प्रतीत होता है। वल्लभ सम्प्रदाय की मान्य प्रामाणिक पुस्तक 'सम्प्रदाय-प्रदीप' में पं० गदाधरदासजी ने 'विष्णुस्वामिन् उपसम्प्रदायश्चैतन्यः' से विष्णुस्वामी का उपसम्प्रदाय 'चैतन्य-सम्प्रदाय' बताया है। उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय को भी विष्णुस्वामी का सम्प्रदाय माना है"।[1] हो सकता है कि चैतन्य सम्प्रदाय का प्रभाव इस मान्यता का कारण हो।[2]

संक्षिप्त परिचय

अष्टछाप के जीवन-संबंधी सामान्य परिचय की तालिका

---

१. डा० सत्येन्द्र, सूर की झाँकी, पृ० ६१।

२. तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिए मेरा लेख **चैतन्य मत में सखी और मंजरी**, ब्रजभारती, आश्विन-मार्ग०, सं० २००६, पृ० १५-२४।

श्री प्रभुदयाल मीतल ने इस प्रकार दी है[1]—

संख्या	नाम	दीक्षागुरु	जन्म संवत्	जाति	अष्टछाप की स्थापना के समय आयु	निवास स्थान	देहावसान सं०
१	कुम्भनदास	श्रीवल्लभाचार्य	१५२५	गौरवा क्षत्रिय	७७ वर्ष	जमुनावती	१६४०
२	सूरदास	"	१५३५	सारस्वत ब्राह्मण	६७ वर्ष	परासौली	१६४०
३	परमानंददास	"	१५५०	कान्यकु० ब्राह्मण	५२ वर्ष	सुरभी कुंड	१६४१
४	कृष्णदास	"	१५५३	कुनवी कायस्थ	४६ वर्ष	बिलछू कुंड	१६३६
५	गोविंदस्वामी	श्री विट्ठलनाथ	१५६२	सनाढ्य ब्राह्मण	४० वर्ष	कदम खंडी	१६४२
६	नंददास	"	१५७०	"	३२ वर्ष	मानसी गंगा	१६४०
७	छीतस्वामी	"	१५७३	मथुरिया चौबे	२९ वर्ष	पूछरी	१६४२
८	चतुर्भुजदास	"	१५७५	गौरवा क्षत्रिय	२७ वर्ष	जमुनावती	१६४२

१. कुंभनदास—कुंभनदासजी के कीर्तन-पदों का संग्रह विद्या-विभाग, कॉंकरौली द्वारा हाल में प्रकाशित किया गया है।[2] इसमें वर्षोत्सव, लीला-संबंधी तथा प्रकीर्ण पद—सब मिलाकर ४०१ पद दिए हैं। वर्षोत्सव के तथा लीला-पदों का सरल हिंदी भावार्थ भी दिया गया है। दानलीला, गोक्रीड़ा, हिंडोरा आदि के गीत बहुत सुंदर हैं।

२. सूरदास—अधिकांश विद्वान् वल्लभगढ़ के समीप सीही नामक स्थान को सूरदासजी का जन्मस्थान मानने लगे हैं। वे सार-

---

१. अष्टछाप-परिचय, पृ० ५८।

२. कुंभनदास, विद्या विभाग, कॉंकरोली, सं० २०१०।

स्वत ब्राह्मण माने जाते है । सूर के पिता के नाम के विषय में अभी विद्वान् एकमत नहीं हैं । सूरदास की जन्मतिथि वैशाख शुक्ला ५, १५३५ वि० मानी जाती है । जन्माधता के विषय में भी मतभेद है। हरिरायजी ने लिखा है–"सो सूरदास को जन्म ही सों नेत्र नाहीं हैं।" किशनगढ़ से प्राप्त सूर के प्राचीन चित्र से भी जन्मांधता प्रकट होती है । अल्पावस्था में ही उन्होंने गृह त्याग दिया और सीहीं से दक्षिण मथुरा की ओर चल पड़े । रुनकता (गौघाट) पर पहुँच कर वहीं निवास करने लगे । गोकुलनाथजी ने वार्ता में इसका उल्लेख किया है । यहीं पर वल्लभाचार्यजी से उनकी भेंट हुई । गऊघाट पर सं० १५६७ के लगभग सूरदासजी महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के शिष्य बने ।[1] इससे पहले वे किस संप्रदाय के अनुयायी थे, यह विवादास्पद है। हरिदासी संप्रदाय और शैव सम्प्रदाय से भी इनका संबंध माना जाता है, पर यह निश्चय नहीं । गऊघाट से सूरदासजी गोवर्धन के निकट परासौली नामक स्थान पर आए और वहाँ प्राय: स्थायी रूप से निवास करने लगे । कभी-कभी गोकुल चले जाते थे । परासौली में ही सं० १६४० (१५८३ ई०) में उनका देहावसान हुआ ।

उनके जीवन की एक प्रमुख घटना अकबर से भेंट मानी जाती है । इस संबंध में डा० सत्येंद्र लिखते हैं—"सूरदास अकबर से मिले, मथुरा में मिले, उन्हें कृष्ण-विषयक पद सुनाए, स्वयं अकबर पर कुछ भी रचना करना उन्होंने स्वीकार नहीं किया और न अकबर का दिया हुआ कोई दान स्वीकार किया" ।[2] दूसरी घटना तुलसी से भेंट की है। परंतु इस संबंध में पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते ।

वार्ता के अनुसार सूर ने लक्षावधि पद रचे । डा० दीनदयालु गुप्त ने सूरदास की २४ रचनाओं के नाम इस प्रकार दिए हैं[3]—

१. द्रष्टव्य श्री कंठमणि शास्त्री का लेख, ब्रजभारती, वर्ष २, अङ्क १० (वैशाख १९९९)।
२. सूर की झांकी, पृ० १०७ ।
३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० २७९ ।

सूरसागर, भागवत भाषा, दशमस्कध भाषा, सूरदास के पद, प्राणप्यारी, व्याहलो, भंवरगीत, सूर रामायण, नागलीला, गोवर्धन-लीला, सूरपचीसी, राधा रसकेलि कौतूहल, सूरसागर-सार, सूर-सारावलि, साहित्यलहरी, सूरशतक, दानलीला, मानलीला, सूरसाठी, नलदमयंती, हरिवंश टीका, राम-जन्म, एकादशी माहात्म्य तथा सेवाफल ।

३. परमानददास—इनके स्फुट पद बहुत-से है । पर दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—दानलीला तथा ध्रुवचरित्र ।

डा० दीनदयालु गुप्त ने इनकी जीवनी के उपादान इस प्रकार दिए हैं—इनका जन्म कनौज में हुआ । ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे । वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व भी ये कवि और गायक थे । सं० १५७६ के लगभग ये वल्लभ संप्रदाय में प्रविष्ट हुए । तब से कृष्णलीला के पदों की रचना करते रहे । इन्होने विट्ठलनाथजी के सातों पुत्रों की बधाई गाई है ।[1]

कृष्णदास

'भक्तमाल' मे कृष्णदास के सबध मे निम्नलिखित छप्पय मिलता है[2]—

> गिरिधरन रीझि कृष्णदास कौं नाम माँहि साझौ दियौ ।
> श्रीवल्लभ गुरुदत्त भजन सागर गुन आगर ।
> कवित नोख निर्दोष नाथ सेवा में नागर ।।
> बानी बदित बिदुष सुजस गोपाल अलंकृत ।
> ब्रजरज अति आराध्य वहै धारी सर्वसु चित ।।
> सानिध्य सदा हरिदासवर्य, गौर स्याम हठ ब्रत लियौ ।
> गिरिधरन रीझि कृष्णदास कौं नाम माहि साझौ दियौ ।।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार ये गुजरात के चिलोतरा ग्राम मे कुनबी के घर में जन्मे थे—"सो ये कृष्णदास गुजरात में एक चिलोतरा ग्राम है, तहाँ एक कुनबी के घर जन्मे ।" कृष्णदासजी की निम्नलिखित आठ रचनाएँ बताई जाती है—

---

१. वही, पृ० २१६–२३० ।
२. नाभादास कृत भक्तमाल, पद ८१ ।

(१) जुगल-मानचरित्र, (२) भक्तमाल पर टीका, (३) भ्रमर गीत, (४) प्रेमतत्वनिरूप, (५) भागवत भाषानुवाद, (६) वैष्णव-वंदना, (७) कृष्णदास की वाणी, (८) प्रेमरसरास।

इनमें से तीसरी और चौथी रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं। पर डा० दीनदयालु गुप्त ने इनको संदिग्ध माना है। उनके अनुसार 'कृष्णदास की बानी' और 'प्रेमरसरास' भी स्वतंत्र रचनाएँ नहीं है। शेष रचनाओं को उन्होंने अप्रामाणिक माना है।[1]

५. गोविंदस्वामी—इनके पद कीर्तन-संग्रहों में प्राप्त है।[2] फुटकर पदों के अतिरिक्त अन्य स्वतंत्र रचनाएँ प्राप्त नहीं है। डा० गुप्त ने इनकी जीवनी के मुख्य तत्व इस प्रकार माने है[3]—इनका जन्मस्थान आंतरी गाँव है। पीछे ये गोवर्धन चले आए। गो० विट्ठलनाथजी से इन्होने दीक्षा ली। एक पद में इन्होंने विट्ठलनाथजी के सातवे पुत्र घनश्यामजी का उल्लेख किया है—

> भये श्री वल्लभराय रघुपति श्री यदुपति सामल घन।
> 'गोविंद' प्रभु गिरिराज उद्धरण गुणनिधि श्री गिरिधरन॥

भक्तमाल मे नाभादासजी ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

> हरि सुजस प्रचुर कर जगत में, ये कविजन अतिसय उदार।
> विद्यापति ब्रह्मदास बहोरन चतुर बिहारी।
> गोविन्द गंगा रामलाल बरसानियां मंगलकारी।[4]

प्रियादासजी ने इनकी भक्ति-दृढ़ता की प्रशंसा की है।

६. नंददास—डा० गुप्त के अनुसार ये रामपुर ग्राम-निवासी ब्राह्मण थे। वार्ता-साहित्य के अनुसार ये तुलसीदासजी के भाई थे।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ३१७-३२०।
२. इनके ५७४ पदों का संग्रह विद्याविभाग, काँकरोली से सं० २००८ में छप चुका है।
३. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० २६६-२७२।
४. भक्तमाल, पद १०२।

नंददासजी को जड़िया बताया गया है । इनकी भाषा प्रांजल और प्रवाहपूर्ण है। अनेक शैलियों में इन्होंने काव्य-रचना की है । नंददासजी के रचित निम्नलिखित ग्रंथ बताए जाते हैं[1]—

रास पंचाध्यायी, रूपमंजरी, विरहमंजरी, रसमंजरी, मानमंजरी (नाममाला), अनेकार्थ मंजरी, भागवत दशमस्कंध, श्याम-सगाई, सुदामाचरित्र, गोवर्धन-लीला, सिद्धांत-पंचाध्यायी, रुक्मिणी मंगल, भँवर-गीत, दानलीला, जोगलीला, मानलीला, फूलमंजरी, राजनीति हितोपदेश, नासिकेत भाषा, रानी माँगौ, प्रबोध चंद्रोदय, ज्ञानमंजरी, विज्ञानार्थ प्रकाशिका, पनिहारिन लीला तथा रासलीला ।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक स्फुट पद भी प्राप्त होते हैं ।

७. छीतस्वामी—डा० गुप्त के अनुसार ये मथुरिया चौबे थे । इनके गुरु गो० विट्ठलनाथजी थे । सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले ही ये कवि थे । राजा बीरबल के ये पुरोहित बताए जाते हैं। इन्होंने विट्ठलनाथजी के सातों पुत्रों की बधाई गाई थी। भक्तमाल में भी इनका उल्लेख मिलता है—

> बोहिथ राम गुपाल कुंवरबर गोविंद मांडिल ।
> छीतस्वामि जसवंत गदाधर अनंतानंद भल ।।[2]

इनकी रचनाओं में पदों की ही गणना है ।[3]

८. चतुर्भुजदास—ये कुम्भनदासजी के पुत्र थे । जन्म के कुछ समय उपरांत ही इनको विट्ठल की शरण में दे दिया गया था । चतुर्भुजदासजी ने विट्ठलनाथजी के सातवें पुत्र की भी बधाई गाई थी । विट्ठलनाथजी के मरण पर शोक-गीत भी इन्होंने गाए । इनके पद कीर्तन-संग्रहों में मिलते हैं ।

---

१. अष्ट० और व० सं०, पृ० ३२४–३७४ । 'नंददास-ग्रन्थावली' नाम से इनकी रचनाओं का एक संग्रह श्री व्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित काशी नागरी प्रचारिणी सभा से सं० २००६ में प्रकाशित हो चुका है ।

२. भक्तमाल, पद १४६ ।

३. इनके २०१ पदों का संग्रह विद्याविभाग, कांकरोली से सं० २०१२ में प्रकाशित हो चुका है ।

अन्य कवि—इन अष्टछाप के प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय से प्रभावित अनेक कवि हुए। उनकी सूची इस प्रकार है—

कान्हरजी, गो० गोकुलनाथजी, चतुरविहारी, पद्मनाभ, भगवानदास हित.माणिकचद, रसिक विष्णुदास, सगुनदास,हरिराम।

कान्हरजी और गोकुलनाथजी गो० विट्ठलनाथजी के पुत्र थे। गोकुलनाथजी ने दो गद्य-ग्रंथ रचे—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता।' ये मिश्रित ब्रजभाषा की रचनाएँ है। चतुरविहारी के कुछ पद 'रागसागरोद्भव' में प्राप्त है। शिवसिंह और मिश्रबंधु दोनों ही ने सं० १६०५ इनका जन्मकाल दिया है।[1] ये विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। यह बात इनके इस पद से प्रकट है—

जीवन मुक्त सदा तेही जन जो श्री वल्लभनदन के चेरे।
चतुर कहे श्री विठ्ठलनाथ प्रभु सों, हमहूँ गिनिये तिनमें भले बुरे तो तेरे ॥

पद्मनाभ कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे। ये वल्लभ-संप्रदायी थे। वल्लभाचार्यजी की वंदना के इनके कुछ पद प्राप्त होते हैं। भक्त-माल के एक छप्पय मे इनका नामोल्लेख मिलता है—

पद्मनाभ गोपाल टेक टीला गदाधारी।[2]

मिश्रबंधु इन्हें सं० १५६१ से १६३० वि० के कवियों मे मानते है।[3] इनके पद कीर्तन-सग्रहों और 'राग कल्पद्रुम' में हैं।

भगवानदास हित ने गो० विट्ठलनाथ की वंदना की है। इन्होने उनके सातों पुत्रों की बधाई गाई है। इस प्रकार ये उनके सम-सामयिक थे। कीर्तन-सग्रहों में भगवानदास, जन भगवानदास और केवल भगवानदास तीन नामों सें पद संगृहीत हैं। मिश्रबंधु प्रथम दो को एक ही व्यक्ति मानते हैं।[4]

---

१. शिवसिंह सरोज, पृ० ४१४; मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ३६२।
२. भक्तमाल, पद ३६।
३. मिश्रबन्धु विनोद, पृ० २३४।
४. वही, पृ० २३४, ३३८, ३६५।

माणिकचंद ने वल्लभाचार्य और उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथ—दोनों के जन्म-उत्सव गाए हैं। ये कीर्तन-संग्रहों और 'राग कल्पद्रुम' में प्राप्त हैं। मिश्रबंधु इन्हें स० १५६१ से १६३० तक के कवियों में मानते है।

रसिक के कुछ पद 'राग-कल्पद्रुम' में हैं। कृष्णलीला-संबंधी पदों में कृष्ण की बाल-लीला ही मुख्य विषय है। कुछ पदों में वल्लभ और विट्ठल के जन्मोत्सव का प्रसग है। हो सकता है कुछ समय तक कवि दोनों का सम-सामयिक रहा हो। मिश्रबंधु इनका रचना-काल सं० १६३१ बताते हैं।[1]

कीर्तन-संग्रहों में कुछ पद विष्णुदास नाम से मिलते है। इन पदों में वल्लभाचार्यजी का जन्मोत्सव, विट्ठल की बधाई और बाल-भाव वर्णित हैं। भक्तमाल में विष्णुदास नामक तीन व्यक्तियों का उल्लेख है। सगुनदास ने भी वल्लभ के जन्मोत्सव के पद बनाए है।

हरिरायजी वल्लभाचार्यजी के भक्त और अनुयायी थे। इनकी जन्म-मृत्यु तिथियाँ अज्ञात हैं। रचनाकाल सं० १६०७ के लगभग माना जाता है। इन्होंने कई ग्रंथ लिखे हैं। इनमें कुछ गद्य ग्रंथ भी हैं। इनकी रचनाएँ ये हैं—

१. आचार्य श्री महाप्रभून की द्वादस निज वार्ता (गद्य)।

२. श्री आचार्यजी महाप्रभून के सेवक चोरासी वैष्णवों की वार्ता (गद्य)।

३. श्री आचार्यजी महाप्रभून की निज वार्ता व सहवार्ता (गद्य)।

४. ढोलामारू की वार्ता।

५. भागवती के लक्षण।

६. द्विदलात्मक स्वरूप विचार।

७. गद्यार्थ भाषा।

८. गोसाईंजी के स्वरूप के चिंतन के भाव (गद्य)।

९. कृष्णावतार-स्वरूप निर्णय।

---

१. मिश्रबन्धुविनोद, पृ० ३२२।

१०. सातों स्वरूपों की भावना।

११. वल्लभाचार्यजी के स्वरूप का चितन-भाव।

१२. श्री यमुनाजी के नाम (गद्यग्रंथ)।

१३. वर्षोत्सव (निज पदों का संग्रह)।

इन फुटकर कवियों के अतिरिक्त कुछ कवि वल्लभाचार्यजी के वंश में भी होते रहे। आठवीं गद्दी पर गो० श्रीलालजी आसीन हुए। उनके वंशज कवियों की नामावली इस प्रकार है—

१. श्री लालजी—सं० १६०८ से १६७५।

२. श्री मथुरानाथजी—सं० १६४५ (ब्रजयात्रा की)।

३. श्री केवलरामजी—सं० १६७४।

४. श्री मदनमोहनजी—सं० १७०१ (ब्रजयात्रा की)।

५. श्री रणछोड़रायजी
६. श्री हरिदेवजी
७. श्री बलदेवजी
८. श्री गंगाधरजी
} १८वीं शती

९. श्री ब्रजचंद्रजी

अंत के तीन महानुभावों को छोड़ कर शेष ने ब्रजवास भी किया था। श्रीलालजी के द्वादश शिष्य थे। उनमें से ६ उनके समकालीन थे। उनकी भी छुटपुट रचनाएँ मिलती हैं। उनकी नामावली इस प्रकार है—

१. गंगाधरजी
२. हित जगदीशजी
३. परमानंदजी
४. खेमदासजी
५. कल्याणदासजी
६. बनवारीजी (श्री केवलरामजी के समकालीन)।

इनमें से श्री परमानंदजी ने ब्रजवास भी किया था।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकाल में

ब्रजभाषा-साहित्य के उन्नयन में गुजरात, राजस्थान और ब्रज के पुष्टिमार्गीय कवियों का विशेष हाथ रहा। वैसे बंगाल, महाराष्ट्र,पजाब तथा सीमाप्रात में भी ब्रजभाषा-काव्य के उदाहरण प्राप्त हैं।

पुष्टिमार्गीय कवियों के साहित्य की अनुक्रमणिका इस प्रकार बनती है—

१. <u>सैद्धान्तिक ग्रंथ</u>

ज्ञानमंजरी	नददास
द्वादश यश	चतुर्भुजदास
प्रेमतत्त्वनिरूपण	कृष्णदास
" "	कृष्णदास अधिकारी
भक्ति प्रताप	चतुर्भुजदास
विज्ञानार्थ प्रकाशिका	नंददास
सिद्धात पंचाध्यायी	नददास

नंददासजी की 'रसमंजरी' भक्तिरस का शास्त्रीय निरूपण करती है। बंगाल में इस प्रकार के रसशास्त्र-ग्रन्थ बहुत लिखे गए थे। नंददासजी ने इसमें नायिका-नायक-भेद पर विचार किया है। रचना छोटी होने पर भी आगे के युग के बीज के रूप में महत्वपूर्ण है।

२. <u>काव्य-ग्रंथ</u>

(क) <u>खंड-काव्य</u>—कृष्णचरित पर हुई वे रचनाएँ जो आकार में छोटी है। कुछ मे प्रबंधात्मकता है, कुछ मे नही भी है। साथ ही मात्र एक लीला को लेकर ये ग्रंथ रचे गए है। ऐसी रचनाएँ जो पुष्टिमार्गीय कवियो ने की, ये है—

जुगल मानचरित्र	कृष्णदास
जोग लीला	नंददास
दानलीला	
नागलीला	
पनिहारिन लीला	

भँवरगीत	नंददास, सूरदास
भ्रमरगीत	कृष्णदास
रुक्मिणी मगल	नंददास
रास पंचाध्यायी	नंददास
श्याम सगाई	नंददास

(ख) पदावली—सोलहवी शती के प्रायः सभी कृष्ण-लीलाकारो ने पद-शैली को अपनाया। फुटकर पदकर्ताओं ने इन मुक्तकों में अपने भाव ढाले और सगीत के माध्यम से प्रेषित किए। ऐसे पुष्टिमार्गीय ग्रंथ ये है—

परमानंद सागर	परमानंददास
सूरसागर	सूरदास

इन सागरों के अतिरिक्त प्राय. सभी सामान्य पुष्टिमार्गीय कवियों ने अनेक निर्मल ताल-तलैयाँ भरीं।

३. जीवनी-साहित्य

जीवनी-साहित्य इस युग का कम मिला है। पर पूर्व युगों मे तब भी अधिक है। इस प्रकार के दो मुख्य ग्रन्थ ब्रजभाषा-गद्य में रचे गए। यह वार्ता-साहित्य है। इसके रचयिता गो० गोकुलनाथजी हैं।

४. भाष्य, टीका, अनुवाद—

इस काल की रचनाओं का मुख्य स्रोत पुराणों में था। अतः पुष्टिमार्गीय कवियों ने भागवत के अनुवाद प्रस्तुत किए। इस प्रकार का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है—

भागवत दशमस्कध	नददास

५. विविध

इनमें वे रचनाएँ आती है जो पिछले विभागों में नहीं आ सकतीं। इनमें धार्मिकता, रसिकता, लीला-तत्त्व आदि सामान्य विशेषताएँ हैं।

अनेकार्थ नाममाला	नंददास
अनेकार्थ मंजरी	नंददास

ध्रुवचरित्र	परमानंददास
फूलमंजरी	नंददास
मधुमालती	चतुर्भुजदास
रसमंजरी	नंददास
रूपमंजरी	नददास
विरहमंजरी	नददास
साहित्य लहरी ?	सूरदास ?
सुदामाचरित	नददास

परिमाण और स्तर की दृष्टि से पुष्टिमार्गीय कवियो ने ब्रज-भाषा-साहित्य को अत्यंत समृद्ध बनाने की साधना को। नददास की सर्वतोमुखी और सूरदास की अतर्मुखी प्रतिभा पर यह साहित्य विशेष रूप से गर्व कर सकता है।

(२) चैतन्य सम्प्रदाय

पृष्ठभूमि

चैतन्य मत को अचित्यभेदाभेद कहा जाता है। ब्रह्म, जगत् तथा जीव-संबंधो विचारधारा अधिकांश में मध्व-मत से मिलती है। ब्रह्म अखिल गुणों का आश्रय है। ब्रह्म के नित्य स्वरूप-शरीर (विग्रह) तथा गुणों में अभेद है। सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदो से शून्य, अखंड, एकरस ब्रह्म अपनी अचित्य शक्ति के माध्यम से नाना रूपों में व्यक्त होता है। पर उसकी मौलिक अखंडता बनी रहती है। इसी अचित्य शक्ति के कारण ब्रह्म साकार-निराकार दोनों है। ब्रह्म की प्रमुख शक्तियाँ है—

१. संधिनी—इससे ब्रह्म स्वयं सत्तावान् होता है।

२. संवित्—इससे चेतनायुक्त होता है।

३. ह्लादिनी—इससे ब्रह्म स्वयं आनंदित होकर दूसरों को आनंद देता है।

४. जीव-शक्ति—अणुरूप जीवों का आविर्भाव इसी शक्ति से होता है।

इन शक्तियों का समुच्चय पराशक्ति कहलाता है। ब्रह्म स्वरूप-शक्ति के रूप मे जगत् का निमित्त कारण तथा माया जीव-शक्ति के रूप में उपादान कारण है। भक्तों की भावना के अनुसार भगवान् अवतरित होते है। श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म है।

जगत् सत्य है, पर अनित्य है। जगत् ब्रह्म की वाह्यशक्ति का विकास है। प्रलय काल में जगत् ब्रह्म में अंतर्हित रहता है। अचित्य शक्ति के कारण यह जगत्-प्रपंच न तो भिन्न ही प्रतीत होता है और न अभिन्न ही।

जीव अणु-रूप है। ईश्वर जीव मे व्याप्त है। जीव अनेक है। वह नित्य है। पदार्थ चार है—ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल। अंतिम तीन शक्तियाँ है और ब्रह्म शक्तिमान् है।

चैतन्य मत की विशेषता भक्तिसाधन-निरूपण मे है। इस साधना का आधार परकीया प्रेम है। परकीया प्रेम का क्रीड़ा-क्षेत्र ब्रज के अतिरिक्त और कोई नही हो सकता।[1]

इसी कारण से ब्रज का चैतन्य मत से विशेष संबध हो गया। परकीया-पथ श्रुतिपथ से सर्वथा प्रतिकूल है। कृष्ण की मधुर लीलाओं में केवल परकीया भावापन्न प्रेमिकाएँ ही भाग ले सकती हैं। स्वयं चैतन्य में राधा-भाव का आवेश था। सम्प्रदाय के अन्य स्तभों में परकीया गोपियो के भाव का आवेश आरोपित किया गया।

इस मत के विधान में बरसाना के आसपास के ठेठ गाँव है। इससे स्पष्ट है कि बंगाल के आचार्यों को लीला-संबंधी गाँवों का समीप से परिचय था। कृष्ण की दिव्य लीला इन स्थानों के अतिरिक्त अन्यत्र हो नही सकती। अत: बंगाली भक्तों ने ब्रज में उन स्थानों की खोज की और अपने केंद्र स्थापित किए। सबसे प्रमुख केंद्र ब्रज में वृन्दावन और राधाकुंड बने। वृन्दावन के अधि-

---

१. परकीया भावे रसेर उल्लास।
ब्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि बास॥ (चै० च०, १, ४, २७६)।

कांश भक्तिमार्गों मे परकीया-पद्धति आज भी चली आ रही है। इस प्रकार ब्रज में चैतन्यमत का विस्तार हुआ और वृन्दावन उनका केंद्र बना।

अब संक्षेप मे देखना है कि परकीया भक्ति-पद्धति की रूप-रेखा क्या है, उसमें सखी और मजरी की क्या महत्ता है।

चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया भक्ति ही सर्वोच्च भक्ति मानी गई है। उसमें सांसारिक, मर्यादा-सबधी तथा शास्त्रीय नियम-संयम संबंधी बंधन शिथिल हो जाते है। श्रुति-पथ तथा कुल-कानि का तिरस्कार हो जाता है। शुद्ध भावातिरेक ऐसे भक्तों को प्रकाश देता है। चैतन्य ने कृष्ण की प्रेमिकाओं के तीन वर्ग बताए हैं—

कृष्णकान्ता गण देखि त्रिविध प्रकार।
एक लक्ष्मी गणप्ररे, महिषी गण आर।।
व्रजांगनागण रूप आर कान्तागण सार।
श्री राधिका हैते कान्ता गणेर विस्तार।।[1]

इस वर्गीकरण में सर्वोच्च स्थान अंतिम वर्ग ब्रजांगनाओं को प्राप्त है। इसका कारण है कि यह वर्ग परकीया प्रेम को लेकर चलता है। परकीया प्रेम सबसे अधिक बलिष्ट है, जो वेद-मर्यादा की लौह-शृङ्खलाओं को तोड़ सकता है। अपने निज के पति का परित्याग करके किसी अन्य से प्रेम करना जोखिमपूर्ण है। इसमें आत्मोत्सर्ग और आत्म-विस्मृति अपने चरम पर रहते हैं। आत्म-निवेदन की यह अंतिम अवस्था है। इस परकीया-प्रेम की इतनी महानता है कि वेद और उपनिषद् भी सखीरूप ग्रहण करके ब्रज मे आते है और अपने ही मार्ग का स्वयं परित्याग कर देते हैं। ब्रज और कृष्ण की प्राप्ति का एकमात्र उपाय परकीया भक्ति है।

परकीया-साधना-पथ के भक्त केवल स्त्री रूप में कृष्ण-लीला में भाग ले सकते हैं। भक्त को अपने अस्तित्व को 'सखी' रूप में

---

१. चैतन्य चरितामृत, १, ४, ८३।

बदल देना पड़ता है। यदि सखी-रूप न हो तो कृष्ण की ब्रज-लीला में किसी की गति नहीं हो सकती—

सखी बिनु एइ लीलाय अन्येर नाहिं गति।
सखी भावे एइ तारे करे अनुगति॥[1]

और की तो बात ही क्या, श्रुतिपथ पर चल कर स्वयं लक्ष्मी भी ब्रज-लीला का रसास्वादन नहीं कर सकती। उसे भी सखी-रूप में आना पड़ेगा।

ताहाते इटान्त लक्ष्मी करिला भजन।
तथापि ना पाइल व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥[2]

इस प्रकार जो रागानुगा भक्ति के पथ पर चलना चाहता है उसे अपने सांसारिक भौतिक व्यक्तित्व को त्याग देना पड़ेगा और अपने को 'मंजरी' रूप में कल्पित करना पड़ेगा। भक्त मंजरी के व्यक्तित्व को लेकर ही ब्रज मे प्रविष्ट हो सकता है। 'मंजरी' रूप लिंग-देह तथा सूक्ष्म-देह से भी परे है। इस व्यक्तित्व को वैष्णव शास्त्रों मे 'सिद्धदेह' कहा गया है। इसी सिद्धदेह को लेकर भक्त ध्यान-जगत् में कृष्ण की ब्रज लीलाओं का आस्वादन करता है। श्रवण, कीर्तन आदि उसकी वाह्यसेवा समझी जाती है।[3]

राधा तथा अन्य सखी किसी न किसी गोप की पत्नी है। पर अपने पति से उन्होंने कभी प्रेम नही किया। उनका प्रेम-केंद्र ब्रजचंद्र है। सभी सखियो का प्रमुख कार्य यह है कि वे कृष्ण और राधा के मिलन के लिए सतत प्रयत्न करती रहे और उनकी लीला मे सहायक हों। अतः प्रत्येक लीला मे उनका सहयोग रहता है। ब्रज की सखियों के लिए यह निश्चित कर दिया गया है कि किस लीला में कौन-सी सखी सहायक रहती है। चैतन्य मत में लीलाओं का यह वर्गीकरण तो नहीं मिलता पर लीला में किस-किस सखी

---

१. वही, पृ० २,८,२३२।
२. वही, २, ८, २४४।
३. वही, २,२२,७२१।

का क्या-क्या कार्यक्रम रहेगा, यह सब मिलता है। मंजरियों के नाम, गावँ, पति-सेवा आदि का समस्त ज्ञान तत्संबंधी चित्र से प्राप्त होता है।

सखी और मंजरियों का कृष्ण के प्रति शुद्ध सच्चा प्रेम था। इसमें स्वार्थ की गंध नहीं। गोपीजन इसकी आकांक्षा नही रखतीं कि कृष्ण-लीला से हम सुख प्राप्त करे। वे तो श्रीकृष्ण के संतोष और सुख के लिए ही प्रयत्नशील रहती हैं—

आत्मेन्द्रिय-प्रीति वांछा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय-प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम॥[1]

यही सखियों का प्रेम है, मधुर प्रेम है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे राधाकृष्ण का मिलन सम्पन्न कराती हैं।

यह सब होते हुए भी राधा इस प्रयत्न में रहती हैं कि कृष्ण का सम्पर्क-सम्मिलन गोपियो को भी मिल जाय। पर ऐसे अवसरों पर भी गोपियाँ अपने सुख की कामना से लीला में प्रवृत्त नही होती। यहाँ भी कृष्ण का सुख ही लक्ष्य है—

निजेन्द्रिय सुख वांछा नाहिं गोपिकार।
कृष्णे सुख हिते करे सङ्गम विहार॥[2]

यही गोपियों का स्वभाव है, यही है उनका 'उज्ज्वल' प्रेम।

इस प्रकार सखी और मंजरी अपने पति से प्रेम न करके उपपति से प्रेम करती हैं। श्रीरूप गोस्वामी ने अपनी 'उज्ज्वल नीलमणि' के 'नायक-भेद' प्रकरण में उपपति की यह परिभाषा दी है कि जो पुरुष दूसरे की पत्नी के प्रेमाधिक्य के कारण उस स्त्री अथवा स्त्री अपने पति को छोड कर जिस दूसरे पुरुष के हृदय पर अधिकार कर लेती है वह उपपति होता है। अपने समर्थन में श्रीरूप गोस्वामी भरत मुनि का एक उद्धरण भी देते है। इस प्रेम-व्यापार में सबसे अधिक आनंद की प्राप्ति उसे होती है जिसे अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

---

१. चैतन्य चरितामृत, १,४, १०१।
२. वही, २,८,२३६।

संक्षेप में यही सखी, मंजरी तथा परकीया प्रेमपद्धति की रूपरेखा है। वेदमार्ग से प्रतिकूल होने के कारण उस पद्धति के प्रति शास्त्रीय प्रतिक्रिया हुई।

चैतन्य मत के रूप गोस्वामी ने अपने 'ललित-माधव' ग्रन्थ में राधा और कृष्ण के बीच विवाह सम्पन्न कराया है। जीव गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' पर टीका की है, जिसका नाम 'लोचनारोचनि' है। इस टीका में यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि ब्रज में अवतीर्ण होने से पूर्व कृष्ण का राधा और सखियों के साथ विवाह-संबंध था।

चैतन्य सम्प्रदाय के परकीया भाव का प्रभाव ब्रज के अनेक परवर्ती संप्रदायों पर किसी न किसी रूप में पड़ा। इसकी पुष्टि इन सम्प्रदायों के साहित्य से होती है।

चैतन्य संप्रदाय के ब्रजभाषा-कवि

चैतन्य संप्रदायानुयायी ब्रजभाषा के मुख्य कवि इस प्रकार हैं—

गदाधर भट्ट	माधवदास जगन्नाथ
माधवेन्द्रपुरी	चंद्रगोपाल गोस्वामी
रामरायजी	कल्याणदास
सूरदास मदनमोहन	ललितकिशोरी
वल्लभ रसिक	गुणमंजरीदास
केशव भट्ट	कृष्णदास ब्रह्मचारी
वृन्दावनदास	प्रियादास
ब्रह्मगोपाल	रामहरि

इनमें से प्रमुख कवियों का परिचय नीचे दिया जाता है।

गदाधर भट्ट

भट्टजी चैतन्यदेव के भक्त शिष्य थे। शिवसिंह ने इनका जन्म समय सं० १५८० दिया है। 'मिश्रबंधुविनोद' में भी सं० १५८० जन्मकाल दिया गया है। पं० रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—'श्री चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव संवत् १५४२ में और गोलोक-

वास सं० १५८४ में माना जाता है । अतः सं० १५८४ के भीतर ही आपने श्री महाप्रभु से दीक्षा ली होगी" ।[1] यदि सं० १५८० वाले मत को माना जाए तो ४ वर्ष की अवस्था में दीक्षा लेने की बात समझ में नहीं आती । जीव गोस्वामी से इनके साक्षात्कार की बात प्रियादासजी ने लिखी है ।[2] इससे शुक्लजी निष्कर्ष निकालते हैं कि इस वृत्तांत को यदि ठीक मानें तो इनकी रचनाओं का आरम्भ १५८० से मानना पड़ेगा और अंत सं० १६०० के पीछे ।[3] अतः रचना-काल सं० १५८० ज्ञात होता है । यह भी प्रसिद्ध है कि ये चैतन्यदेव को भागवत सुनाया करते थे । 'भक्तमाल' के परिचय से भी यह बात स्पष्ट होती है । 'भक्तमाल' का छप्पय इस प्रकार है—

सज्जन सुहृद सुसील बचन आरज प्रतिपालय ।
निर्मत्सर निहकाम कृपा - करुणा को आलय ।।
अनन्य भजन दृढ़ करनि धर्यौ वपु भक्तनि काजै ।
परम धरम कौ सेतु विदित वृन्दावन गाजै ।।
भागौत-सुधा बरसै बदन, काहू कौं नाहिंन दुखद ।
गुन-निकर गदाधर भट्ट अति, सबहिन कौ लागै सुखद ।।[4]

भट्टजी वृन्दावन में निवास करते थे । ये दक्षिणी ब्राह्मण थे । इनमें पांडित्य और भावुकता का योग था । इनकी कोई स्वतंत्र हिंदी रचना नहीं है । फुटकर पद प्राप्त होते हैं । विषय की दृष्टि से रासलीला, मानलीला, दानलीला, हिंडोले आदि के पद मिलते हैं । यमुनाजी का वर्णन भी मिलता है । कृष्ण-विवाह पर गालियाँ भी लिखी हैं । एक दिन दो साधुओं ने जीव गोस्वामी के सामने गदाधर भट्टजी का एक पद सुनाया । 'बंगला भक्तमाल' में इसका इस प्रकार उल्लेख है—

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १८२ ।
२. 'स्याम रँग रँगी' पद सुनिकैं गुसाईं जीव, पत्र दै पठाये उभै साधु बेगि धाये हैं ।' (कवित्त १८२) ।
३. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १८३ ।
४. भक्तमाल, पद १३८ ।

एक पद बानाइया भट्ट महाशय ।
श्री जीव गोस्वामि स्थाने आनंदे पाठाय ॥[1]

वह पद इस प्रकार है—

सखी हौं स्याम रंग रँगी ।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरत माँहिं पगी ॥
सग हुतो अपनो सपनो सो, सोइ रही रस खोई ।
जागेहु आगे दृष्टि परै सखि, नेंकु न न्यारो होई ॥
एक जु मेरी अँखियनि में, निसि द्यौस रह्यौ करि भौन ।
गाय चरावन जात सुन्यौ सखि, सो धौं कन्हैया कौन ॥
कासों कहौं कौन पतियावै, कौन करै बकवाद ।
कैसे कैं कहि जात 'गदाधर' गूँगे तें गुर-स्वाद ॥

इनकी रचना में संस्कृत शब्दावली की छटा रहती है । रूपकों की योजना में कवि को विशेष सफलता मिली है । एक पद में पूर्णिमा का सांगरूपक इस प्रकार आया है—

नंद - कुल - चंद वृषभानु - कुल - कौमुदी ,
उदित वृन्दाविपिन विमल आकासे ।
निकट वेष्टित सखीवृन्द वर तारिका ,
लोचन चकोर नित रूप - रस प्यासे ॥
रसिक जन अनुराग - उदधि तजी मरजाद ,
भाव अगनित कुमुदिनीगन विकासे ।
कहि 'गदाधर' सकल विस्व असुरनि बिना ,
भानु भव-ताप अज्ञान न बिनासे ॥

श्रीकृष्णजी की मधुर छवि को भट्टजी ने यों बाँधा है—

आजु ब्रजराज कौ कुँवर बनतें बन्यौ ।
देखि आवत मधुर अधर रंजित बेनु ।
मधुर कल गान निज नाम सुनि स्रवन पुट,
परम प्रमुदित बदन फेरि हूँकति धेनु ।
मद-विघूर्णित नैन मंद विहँसनि बैन ।
कुटिल अलकावलि ललित गोपद रेनु ।

---

१. 'बंगला भक्तमाल', माला २३, पृ० ३३६ ।

ग्वालग्वालनि-जाल करत कोलाहलनि ,
सङ्ग दल ताल धुनि रचत संचत चैनु ।
मुकुट की लटक अरु चटक पटपीत की ,
प्रकट अंकुरित गोपी मनहि मैनु ।
कहि 'गदाधर' जु यहि न्याय ब्रज-सुन्दरी,
विमल बनमाल के बीच चाहत ऐनु ।।

राधा की गरिमा का भावुकतापूर्ण चित्र इन पंक्तियों में है-

जयति श्रीराधिके, सकल सुखसाधिके, तरुनि-मनि नित्य नवतनकिसोरी ।
कृष्ण-तनु-लीन मन रूप की चातकी, कृष्णमुख-हिम - किरन की चकोरी ।।
कृष्ण-दृग-भृंग-विश्राम हित पद्मिनी, कृष्ण-दृग-मृगज बन्धन सुडोरी ।
कृष्ण-अनुराग-मकरंद की मधुकरी, कृष्ण गुन-गान रस-सिधु बोरी ।।
बिमुख परचित्त तें चित्त जाकौ सदा, करत निज नाह की चित्तचोरी ।
प्रकृति यह 'गदाधर' कहत कैसे बनै, अमित महिमा इतै बुद्धि थोरी ।।

भाषा ब्रजभाषा है । शब्दावली संस्कृत से प्रभावित है । भावधारा पर चैतन्य मत का प्रभाव है । अलंकार-वैदग्ध्य दृष्टव्य है । 'मोहिनी वाणी' के नाम से इनके पदों का संग्रह बताया जाता है ।

सूरदास मदनमोहन

ये अकबर के समकालीन तथा उसके राज्य-कर्मचारियों में माने जाते है। जाति के ब्राह्मण थे । साधु-सेवा में इनकी अत्यंत आस्था थी । अपना सर्वस्व साधु-सेवा में लगा देते थे । एक बार सँडीले की मालगुजारी के १३ लाख रुपए साधु-सेवा में व्यय कर दिए थे । शाही खजाने में कंकड़-पत्थरों से भरे संदूक भेजे और एक चिट पर यह लिख कर भेजा—

तेरह लाख सँडीले आए, सब साधुन मिलि गटके ।
'सूरदास मदनमोहन', आधि रातहि सटके ।।

पीछे ये विरक्त होकर वृन्दावन में रहने लगे । नाभादासजी ने इनका परिचय इस प्रकार दिया है—

गान-काव्य गुणराशि सुहृद सहचरि अवतारी ।
राधा-कृष्ण उपास्य रहसि सुख के अधिकारी ।।

नवरस मुख्य सिंगार बिबिध भाँतिन करि गायौ।
बदन उच्चरित बेर सहस पायनि ह्वै धायौ॥
अङ्गीकार की अवधि यह, ज्यों आख्या भ्राता जमल।
(श्री) 'मदनमोहन सूरदास' की, नाम-शृंखला जुरी अटल॥[1]

इससे प्रकट होता है कि मदनमोहन सूरदास गायन और काव्य मे पारगत थे। उनके काव्य का मुख्य रस शृङ्गार है। राधा-कृष्ण उनके इष्ट थे। इनका रचनाकाल स० १५६० और १६०० के बीच अनुमान किया जाता है।[2] इन्होंने बालभाव और सभोग-शृङ्गार दोनों के पद रचे हैं। बालभाव का एक पद यों है—

खेलिये आँगन छगन-मगन कीजिये कलेवा।
छीके तें सारी दधी ऊपर तें काढ़ि धरी,
पहिरि लेउ झँगुली फेंटा बाँधि लेहु मेवा।
ग्वालन के सँग खेलन जाहु, खेलन के मिष भूषन ल्याहु,
कौन परी प्यारे निसिदिन की टेवा।
'सूरदास मदनमोहन' घर ही खेलौ प्यारे ललन,
भँवरा चकडोर देहौं हंस चकोर परेवा॥

रास के प्रसंग का शृङ्गारयुक्त एक पद यह है—

उरझी लट कुंडल बेसर को पीतपट,
वनमाला बीच आइ उरझे हैं दोऊ जन।
नैननि सों नैन बैन बैननि सों उरझि रहे,
चद्रिका की छवि देखे लटपटात स्याम घन।
होड़ा-होड़ी नृत्य करैं, रीझि-रीझि अङ्क भरैं,
ताता थेई थेई थेई कहत मगन मन।
'सूरदास मदनमोहन' रास-मंडल मे प्यारी कौं,
अंचल लै-लै पोंछत हैं स्रम कन॥

शृङ्गार के अतिरिक्त विनय-भावना भी कहीं-कहीं मिलती है। विप्रलम्भ शृङ्गार में कवि का मन विशेष नहीं रमा। इनके पदों की सरसता कहीं-कहीं तो सूर की कोटि तक पहुँच गई है।

---

१. भक्तमाल, पद १२६,।

२. रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १८७।

अनेक पद 'सूरसागर' में सम्मिलित हो गए होंगे, ऐसा अनुमान किया जाता है। उनको अलग कर पाना आज सम्भव नहीं है।

श्री वल्लभरसिकजी

श्री गदाधर भट्ट के दो पुत्र थे—वल्लभरसिकजी तथा रसिकोत्तंस। वल्लभरसिकजी ने ब्रजभाषा में अनेक प्रकार की पद-रचना की है। इनकी रचना अनुप्रास और यमक के चमत्कार के लिए प्रसिद्ध है। झूला का एक पद देखिए—

> आजु दोऊ झूलत रति रस सानैं।
> ठाढ़े मचकें लचकि तरुनि के गहि फल-फूलनि आनैं॥
> सूहे पट पहरें ह्वै पटुली बैठे सामल गोरी।
> अलिनु रंगीली तिय पद अंगुली पिय डोरी सों जोरी॥
> स्याम काम बस भूलि-भूलि पग भूलनि भुलनि बढ़ाहीं।
> कामिनि चरण तामरस छुटि अलि काम लूटि मचि जाहीं॥
> जोवन मधि जोवन-मद भुलए भूलनि फंदनि जाने।
> 'वल्लभरसिक' सखी के नैना एही भुलनि भूलाने॥

इन्होंने हिंडोला, पवित्रा, वर्षगाँठ, साँझी, दशहरा, दिवाली, होली, वसंत, फूलडोल, चंदनयात्रा आदि पर रचना की हैं।

वृन्दावनदासजी

वृन्दावनदासजी के विषय में कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। 'भक्तनामावली' और 'विलापकुसुमांजलि'–दो ब्रजभाषा के ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। नरोत्तमदास ठाकुर के एक साम्प्रदायिक बंग-भाषा-ग्रन्थ का ब्रजभाषा में अनुवाद भी प्राप्त होता है। यह अनुवाद दोहा-चौपाइयों की शैली में है। इसका नाम है 'प्रेमभक्ति-चंद्रिका'। अन्त में इसका रचना-काल इस प्रकार दिया हुआ है—

> अधिक त्रयोदस जानि, संवत सतदस आठ महि।
> पूरण ग्रन्थ सुमानि, पूस विदित सित पंचमी॥

सं० १८०० (१७४३ई०) के आसपास इनका स्थिति-काल मानना चाहिए। ये चैतन्य सम्प्रदाय की अद्वैत प्रभु की शाखा के अन्तर्गत

थे—'अस मम नाथ कृपाल, सीतापति अद्वैत वर।' ('भक्तनामावली', मंगलाचरण)। इन्होंने अपनी समस्त रचनाएँ वृन्दावन में यमुना-तट पर भ्रमरकुंज में बैठ कर लिखी—

भ्रमर कुंज रसपुंज मधि, भानुसुता के कूल।
नव राधा गोविन्द जहँ, जुग-जुग जीवन मूल॥
श्री विलापकुसुमांजलि, सुरवाणी परकास।
नरवाणी में ताहि पुनि, रचि वृन्दावनदास॥

इनकी अधिकांश रचनाएँ अनुवाद हैं।

श्री ब्रह्मगोपाल

आप श्री जयदेव कविराज के वंशज थे। १६वीं शती इनका आविर्भाव-काल है। इनके पिता श्री राधिकानाथ गोस्वामी थे तथा पितामह श्री प्रभुचंद्रगोपाल थे। स्वयं पिताजी से इन्हें शिक्षा मिली थी। गो० ब्रह्मगोपालजी का विवाह आगरा-निवासी पं० मोहनलाल भोजगोत्रे की पुत्री श्री रासेश्वरीजी के साथ हुआ था। पीछे ये सपत्नीक श्वसुर गृह में रहने लगे थे। सुनते हैं ग्वालियर महाराज को आपने कुछ चमत्कार दिखाया था। इन्होंने वृन्दावन के समीपवर्ती ग्रामों से अपनी जाति के सारस्वत ब्राह्मणों को बुलाकर शिष्य किया और उनके बत्तीस घर बसा कर उस स्थान का नाम 'श्री राधामाधवजी का घेरा' रख दिया। आप प्रतिवर्ष वैष्णवों को साथ लेकर ब्रजयात्रा करते थे। श्री वल्लभाचार्यजी के पौत्र गो० गोकुलनाथजी का आपसे बड़ा स्नेह था। अतः बहुत समय तक आप गोकुल में ही रहे। आपकी एक पुस्तिका 'हरिलीला' प्रकाशित हो चुकी है।[1] उसका एक पद यह है—

जुगल वर सहज रसीले लाल।
मधुर माधुरी पीतम प्रेमी रसिक रसील रसाल॥
ललिता कुंज ललित लीलाधर ललित लड़ीली बाल।
लिपटी प्रीति-बेलि पुलकित अति सुन्दरि प्रेम तमाल॥

---

१. प्रकाशक बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, सं० २०१६।

बीती सकल सर्वरी प्यारी मुख अम्बुज धरि जाल।
चौंप चौगुनी बढ़त परस्पर सुमशर कोटि विहाल॥
प्यारी पीतम कंठमालिका पीतम प्यारी माल।
श्री प्रिया सखी लखि ललिता सहचरि निजरस कुंज निहाल॥

इस प्रकार शृङ्गार ही इनके पदों में मुख्य रूप से मिलता है।

श्री प्रियादासजी

आपका जन्म सूरतनगर के राजपुरा नामक ग्राम में हुआ था। जन्म-संवत् अज्ञात है। 'भक्तमाल' की टीका 'भक्तिरसबोधिनी' का समय सं० १७६९, फाल्गुन बदी सप्तमी लिखा है।[1] वृन्दावन में श्री मनोहरदेव महाराज से आपने दीक्षा ली। आपके रचे हुए ये ग्रंथ उपलब्ध हैं—

अनन्यमोदिनी	रसिकमोहिनी
चाहबेली	भक्तिरसबोधिनी
भक्त सुमिरिणी	भागवत भाषा

'अनन्यमोदिनी' में अनन्यता की तथा 'चाहबेली' में उत्कंठा की पराकाष्ठा है। 'रसिकमोहिनी' में ब्रजयात्रा का विवरण है। 'भक्त-सुमिरिणी' में 'भक्तमाल' में आए भक्तों के नामों का क्रमबद्ध उल्लेख है। 'भक्तिरसबोधिनी' 'भक्तमाल' की टीका है। इसमें ६५० कवित्त हैं। आपने स्वयं अपनी कविता का इस प्रकार परिचय दिया है—

रची कविताई सुखदाई लगै निपट
सुहाई औ सचाई पुनरुक्ति लै मिटाई है।
अच्छर मधुरताई, अनुप्रास जमकाई,
अति छबिछाई मोद झरी-सी लगाई है॥
काव्य की बड़ाई निज मुख न भलाई होति,
नाभाजी कहाई याते प्रौढ़ि कै सुनाई है।
हिये सरसाई जो पै सुनियै सदाई यह,
भक्तिरसबोधिनी सो नाम टीका गाई है॥

---

१. 'भक्तिरसबोधिनी' का अन्तिम छन्द।

'रसिकमोहिनी' के आरंभ में चैतन्य की वंदना की है—

महाप्रभू चैतन्य हरि, रसिक मनोहर नाम ।
सुमिर चरन अरविन्द वर, बरनौं महिमा धाम ।।
श्री गुपाल राधारमण, विपिनबिहारी प्रान ।
ऐसे श्रीजुत रूपजू, दास सनातन दान ।।

कवित्त और दोहा आपकी शैली के प्रमुख अंग हैं ।

श्री रामहरि

श्री रामहरिजी के विषय में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है । उनके ग्रंथों में इतनी सूचना मिलती है कि वे श्री गोपालभट्ट गोस्वामी घरान (परिकर) में श्री राधारमणजी के सेवक हुए—

प्रणवहुँ श्री राधारमण, सची सून गुरुदेव ।
हरिजन जमुना पुलिन व्रज, राम हरी के सेव ।।[1]

ये अपने प्रत्येक ग्रंथ में निज उपास्यदेव श्री शचीनंदन गौरहरि की वंदना लिखते है । ये प्रियादासजी के पौत्र रसजानि वैष्णवदासजी के सम-सामयिक और कृपापात्र थे । बाबा कृष्णदास (कुसुमसरोवर, मथुरा) ने हाल में आपकी एक ग्रंथावली प्रकाशित की है । उसमें आठ छोटे-छोटे ग्रन्थों का सग्रह है—

बुधिविलास, सतहंसी, बोधबावनी, रस पचीसी, लघुनामावली, लघु शब्दावली, प्रेमपत्री तथा ध्यानरहसि ।

'बुधिविलास' सिद्धांत-उपदेश ग्रंथ है। इसमें २५५ दोहे हैं। 'सतहंसी' में यमक अलंकारयुक्त १०२ दोहे हैं । एक दोहा देखिए—

जा रज कौं चाहत रमा, जा रज तातें जान ।
जा रज तन तें त्यागिये, दुख जा रज तें मान ।।[2]

'बोधबावनी' में ५४ दोहे हैं । यह भी उपदेश-ग्रन्थ है । 'रसपचीसी' में नायक-नायिका के अंग-संबंधी गुणों का विचार है । इसके दो दोहे दिए जाते हैं—

---

१. बुद्धिविलास, वन्दना ।
१. सतहंसी दोहा, दोहा ७ ।

मृग मराल कोकिल मयँक, वारिज केहरि मीन ।
कदली दार्यौ कीर छवि, लई राधिके छीन ।।
सिंघ, कमल, कोकिल, उरगु, गति मराल गति चाल ।
कीर कुरंगनि मीन छवि, अधर पवाली लाल ।।[1]

'लघु नामावली' एक कोष-रचना है। अमरकोष, धनंजय-कोष तथा नंददास की नामावली की शैली पर इसकी रचना हुई है। इसमें १०० दोहे हैं। श्रीकृष्ण की नामावली इस प्रकार दी है—

गोकुलचन्द मुकुन्द हरि, मोहन माखन चोर ।
बनमाली गोविंद विधु, गिरधर स्याम किशोर ।।
केशव माधव मुरलिधर, दामोदर गोपाल ।
कुंजबिहारी चिकनियाँ, पुरुषोत्तम नँदलाल ।।

'प्रेमपत्री' पत्रशैली में लिखी एक सुंदर रचना है। गोपियाँ कृष्ण के लिए एक पत्र मथुरा भेजती हैं। यही प्रसंग इसमें है।

(३) निम्बार्क सम्प्रदाय

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय का ब्रजभूमि में व्यापक प्रसार हुआ। इसमें शृङ्गार और वात्सल्य की दिव्य भावधाराओं का संगम हुआ। इस सम्प्रदाय के अनेक कवियों ने ब्रजभाषा-साहित्य की महती सेवा की। मुख्य कवियों के नाम इस प्रकार हैं—१. श्री भट्टजी, २. श्री परशुरामदेवजी, ३. तत्ववेत्ताजी, ४. गोविंददेवजी, ५ सुंदर-कुँवरिजी, ६. हरिव्यासदेवजी, ७. रूपरसिकजी, ८. वृन्दावनदेवजी, ९. बाँकावतिजी, १०. बनीठनीजी, ११. गोविंदशरणदेवजी, १२. छत्रकुँवरिजी तथा रसिकगोविदजी।

इन कवियों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

श्री भट्टजी

ये इस सम्प्रदाय के सर्वप्रथम ब्रजभाषा-कवि माने जाते हैं। इनका जन्म सं० १५९५ (१५३८ ई०) में अनुमान किया जाता है। अतः इनका कविता-काल सं० १६२५ (१५६८ ई०) के लगभग

१. रसपच्चीसी, दोहा ५, ६ ।

माना जा सकता है ।[1] ये श्रीकेशव काश्मीरी के शिष्य थे ।[2] इनकी रचना 'युगल-शतक' है । पहले एक दोहा, फिर स्पष्टीकरण के लिए एक पद यही इस रचना का शैली-क्रम है । इसमें सम्प्रदाय के सिद्धांत के अनुकूल बृन्दावन-पद्धति की युगल भक्ति का रागानुगा रूप प्रस्तुत किया गया । इस रचना को संप्रदाय में 'आदि-वाणी' कहा जाता है । संयोग-शृङ्गार ही सम्प्रदाय में विशेष रूप से मान्य था । अतः 'युगल-शतक' का मुख्य रस संयोग-शृङ्गार ही है । श्री भट्टजी के 'युगल-शतक' का एक काव्य-चित्र यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है । राधा-कृष्ण दर्पण में अपने रूप को निहार रहे हैं—

सुकर मुकर निरखत दोऊ, मुख-ससि नैंन चकोर ।
गौर-स्याम अभिराम अति, छबि न फबी कछु थोर ॥

गौर-स्याम अभिराम बिराजैं ।
अति उमंग अँग-अंग भरे रँग, सुकर-मुकर निरखत नहिं त्याजैं ।
गंड सौं गंड, बाहु ग्रीवा मिलि, प्रतिबिंबित तन उपमा लाजैं ।
नैंन चकोर बिलोकि बदन-ससि, आनँद-सिंधु मगन भए आजैं ।
नील निचोल, पीत-पट के तट, मोंहन मुकट मनोहर राजैं ।
घटा-छटा आखंडल कौ दँड, दोउ तन एक देस छबि छाजैं ।
गावत सहित मिलत गति प्यारी, मोंहन मुख मुरली सुर बाजै ।
'श्रीभट' अटकि परे दम्पति दृग, मूरति मनहुँ एक ही साजैं ॥

इनके भावावेश की अनेक अनुश्रुतियाँ संप्रदाय में प्रचलित हैं । भाव-तन्मय होकर इष्ट की झाँकी का ध्यान जब ये करते थे तब ध्यानानुरूप झलक इनको मिल जाती थी । एक बार श्री भट्टजी मल्हार गा रहे थे—

भीजत कब देखौं इन नैना ।
स्यामाजू की सुरँग चूनरी, मोहन को उपरैना ॥

इसी रूप में इनको राधा-कृष्ण के ध्यान-दर्शन हुए । तब आगे मल्हार की पंक्तियाँ इस प्रकार चलीं—

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १८८ ।
२. वही ।

स्यामा-स्याम कुंज तर ठाढ़े, जतन कियौ कछु मैं ना ।
'श्रीभट' उमड़ि घटा चहुँ दिसि ते, घिरि आई जल-सेना ॥

युगल मूर्ति इनकी इष्ट थी । इस युगल छवि का सरस वर्णन नीचे के पद में है—

बसा मेरे नैननि में दोउ चंद ।
गौर बरनि वृषभानु-नंदिनी, स्याम बरन नँदनंद ।
गोलक रहे लुभाय रूप मे, निरखत आनँद-कंद ।
जय 'श्रीभट्ट' प्रेम-रस-बंधन, क्यों छूटै दृढ़ फंद ।।

हरिव्यासदेवजी

ये श्रीभट्ट के शिष्य थे। श्री निंबार्क सम्प्रदाय की इकतीसवी गद्दी पर ये थे । नाभादासजी ने अपने 'भक्तमाल' में हरिव्यासजी का परिचय इस प्रकार दिया है—

खेचर नर कौ सिष्य निपट यहै अचरज आवै ।
विदित बात ससार संत - मुख कीरति गावै ।।
बैरागिन के वृन्द रहत सँग स्याम सनेही ।
ज्यों आगे बर मध्य मनों सोभित वैदेही ।।
'हरिव्यास' तेज हरि-भजन-बल, देवी कौ दीच्छा दई ।
श्रीभट्ट चरन-रज-परसि कें, सकल सृष्टि जाकी नई ।।

नाभादासजी के समय तक श्री हरिव्यासजी का यश व्याप्त हो गया था । शाक्त-मत से संभवतः इन्होने सघर्ष किया और शाक्तो को स्वमत में दीक्षित किया । यह ध्वनि उक्त परिचय से निकलती है । हरिव्यासजी निम्बार्क सम्प्रदाय के अत्यत प्रभावशाली आचार्य थे । इनकी शिष्य-परपरा अलग भी चली । 'हरिव्यासी-सम्प्रदाय' इस शाखा का नाम है । इन्होने 'महावाणी' की रचना की । इसमें पाँच 'सुख' (अध्याय) हैं—सेवा, उत्सव, सुरत, सहज और सिद्धांत । कुछ विद्वान् इसे 'युगल-शतक' पर भाष्य मानते हैं । शैली 'महावाणी' की भी 'युगल-शतक'-जैसी है । हरिव्यासजी ने अपनी छाप 'हरिप्रिया' रखी है । इनकी रचनाओं में भाव, शब्द और नाद-सौंदर्य मिलता है । राधिकाजी का वर्णन देखिए—

जै श्री राधा रसिक-रस, मञ्जरि प्रिय सिर - मौर ।
रहसि रसिकिनी सखी सब, वृन्दावन रस-ठौर ।।

जयति जै राधिका रसिक-रस-मजरी, रसिक सिर-मौर मोहन बिराजै ।
रसिकिनी रहसि रस-धाम बृन्दाबिपिन, रसिक-रस-रसी सहचरि समाजै ।।
रसिक - रस - प्रेम - सिंगार-रँग रँगि रहे, रूप आगार सुखसार साजै ।
मधुर माधुर्य सौंदर्यतावर्य पै, कोटि ऐस्वर्य की कला लाजै ।।
नित्य नव-नायिका, नित्य सुखदायिका, नित्य नवकुंज में नित्य राजै ।
नित्य नवकेलि, नव नित्य नायक नवल, नित्य नव निपुनता भव्य भ्राजै ।।
कसित्र कौसेय कोमल कँमल-कँनक द्युति, चिकुर मेचक मुरित छुरित छाजै ।
दिव्य आभूषनाभूषिता भानुनी, अदभुतानंददा जै सदा जै ।।
चचला लोचनी, चातुरा चितहरा, चारुभा - चंद्रिका, चंद्रिकाजै ।
सच्चिदानद की सिद्धिदा, सक्तिदा, स्यॉमा सुधाँमा सुधादा सुभा जै ।।
चातिकी कृष्ण को, स्वाँति की बारिदा, बारिधा रूप - गुन - गर्विता जै ।
मदन-मन-मोचिनी, रोचिनी रति-कला, रतनमनि-कुंडला जगमगाजै ।।
प्रानप्रियतम प्रिया, प्रियतमा प्रेयसी, पद-पदमपांसु पावन कराजै ।
परम रस-राखिनी, कराखिनी-चित्र-प्रिय, नित्य हिय-हरखिनी श्रीहरिप्रिया जै ।।

ब्रजभाषा में हरिव्यासजी ने महावाणी का ही प्रणयन किया । शेष रचनाएँ सस्कृत में है ।

परशुरामदेवजी

ये श्री हरिव्यासदेवजी के शिष्य थे । इनका सं० १६७७ का एक ग्रन्थ 'विप्रमती' मिला है ।[१] इसी तिथि के आसपास इनका रचना-काल अनुमानित किया जा सकता है। ये आदिगौड़ थे । जन्म-स्थान अनिश्चित है । संप्रदाय की मान्यता के अनुसार जयपुर राज्य के खंडेला ग्राम में इनका जन्म हुआ था । नाभादासजी ने इनका परिचय इस प्रकार दिया है—

ज्यौं चदन कौ पवन, नींब पुनि चंदन करई ।
बहुत काल तम निबिड़ उदय दीपक ज्यौं हरई ।।

---

१. उदयपुर में श्री स्वा० प्रयागदासजी महाराज के स्थल की 'परशुराम सागर' की हस्तलिखित प्रति, पृ० १७४ ।

श्री भट पुनि हरिव्यास सत मारग अनुसरई ।
कथा कीरतन नेम रसनि हरिगुण उच्चरई ॥
गोविंद-भक्ति-गद-रोग-गति तिलक दाम सब बैद हद ।
जंगली देश के लोग सब परसुराम किय पारषद ॥

'जंगलदेश' को कुछ विद्वान् बीकानेर मानते हैं ।[१] इनकी एक रचना है—'परशुराम-सागर' । यह अभी तक अप्रकाशित है । उदयपुर वाली हस्तलिखित प्रति में निम्नलिखित २३ ग्रन्थ संगृहीत हैं—

१. साखी का जोड़ा, २. छंद का जोड़ा, ३. सवैया दस अवतार का, ४. रघुनाथ चरित्र, ५. श्रीकृष्ण चरित्र ६. सिंगार सुदामा चरित्र, ७. द्रौपदी का जोड़ा, ८. छप्पय गज-ग्राह का, ९. प्रह्लाद चरित्र, १०. अमरबोध लीला, ११. नामनिधि लीला, १२. साँच-निषेध लीला, १३. नाथलीला, १४. निजरूपलीला, १५. श्रीहरिलीला, १६. श्री निर्वाणलीला, १७. समभणी लीला, १८. तिथिलीला, १९. वारलीला, २०. नक्षत्रलीला, २१. श्री बावनी लीला, २२. विप्रमती तथा २३. पद ।

इनमें चरित्र और लीला-काव्य का मिश्रण है । परशुरामसागर की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा नहीं है । राजस्थानी से युक्त बोलचाल की भाषा में ही परशुरामदेवजी ने काव्य की रचना की । सगुण तथा निर्गुण दोनों भक्ति-पद्धतियों पर इन्होंने साहित्य-रचना की । इस दृष्टि से कबीर और सूर के भावों का उन पर विशेष प्रभाव दीखता है । कहीं-कहीं मौलिक सूक्तियाँ भी हैं । काव्य का परिमाण पर्याप्त है । राधा-कृष्ण के संयोग शृङ्गार-लीला-प्रकरण के अतिरिक्त वैराग्य, सत्संग, गुरुनिष्ठा आदि पर भी इन्होंने लिखा है । इस काव्यांग पर संत-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है । इनकी सगुण भक्ति में भी विनय का भाव अधिक रहता है । एक उदाहरण दिया जाता है—

मेरी तुमही कौं सब लाज बड़ाई ।
ज्यों जानौ त्यों ही त्यों राखौ, अपनौ करि आपन हरिराई ॥

---

१. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान का 'पिंगल-साहित्य', पृ० ७४ ।

करम उपाइ बौहौत करि देखे, मति निरकलप तृपति नहिं आई ।
हरी-कल्प-तरुवर की छायाँ बिनु, कबहूँ मन-कल्पना न जाई ॥
दीनानाथ, अनाथ निवाजन, कृपन-पाल गोपाल कन्हाई ।
परम पवित्र, पतित-पावन प्रभु, अधम उधारन विरद सदाई ॥
पापहरन, त्रैताप-निवारन, असरन सरन बड़ी सरनाई ।
अब न तजौं तन, मन ह्वै भजिहौं, हरि अमृत-निधि प्यासै पाई ॥
श्री गुरु कही, सुनी मैं नीकैं, कीरति प्रगटि सकल धरि छाई ।
सेस आदि निगमादि सुमहिमाँ भव-बिरचि उर धरि मुख गाई ॥
दीनदयाल कृपाल कृपानिधि, हरि दुख-हरन सकल सुखदाई ।
लै निबहँन कौं 'परसुराम' प्रभु तुम बिन कोउ सूझै न सहाई ॥

परशुरामदेवजी की वाणी मे विनय का स्वर उच्च है ।

रूपरसिकजी

ये भी श्री हरिव्यासदेवाचार्य की शिष्य-परंपरा से संबंध रखते हैं। द्रविड़ ब्राह्मणवंश में इनकी उत्पत्ति मानी जाती है। मथुरा में ३६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने श्री हरिव्यासदेवजी से दीक्षा ली। रूपरसिकजी का सम्मान भी सम्प्रदाय में बहुत है । इन्होने तीन काव्य-ग्रन्थ लिखे—

१. बृहदोत्सव मणिमाल
२. हरिव्यास-यशामृत
३. नित्यविहार पदावली

राधाकृष्ण के सौंदर्य को लेकर इन्होने अत्यंत मार्दवयुक्त काव्य लिखा है। शृङ्गार-भावना के अतिरिक्त सिद्धांत, उपदेश, भक्तिशास्त्र और नीति के प्रसंगों पर भी पर्याप्त लिखा है । अपने गुरु में इन्हें अपार निष्ठा थी । गुरु के संबंध में इन्होने लिखा है—

रीति चलावै आपनी, है कलि की यह टेक ।
बिना सरन 'हरिव्यास' की, उपजै कहाँ बिवेक ॥

'हरिव्यास-यशामृत' नामक ग्रंथ में ईश्वर-विनय का स्वर गुरुविनय के पदों में मिलता है—

रे मन भजि हरिब्यास उदार ।
बिन हरि व्यास न जग में तेरौ, मेरौ बचन बिचार ।।
मानुस तन अति दुरलभ पायौ, काहे करन खुवार ।
बेगि सम्हारि मूढ़ मति बौरे, अब क्यों करत अबार ।।
जो दायक दंपति-सुख-सपति, बृन्दाबिपिन बिहार ।
पतित-उधार-हेत जग प्रघटे, आप जुगल अवतार ।
असरँन सरँन, हरँन ससृति दुख निराधार आधार ।।

श्रीकृष्ण के सौदर्य का एक प्रसिद्ध पद इस प्रकार है—

स्यॉम घन, उमँगि-उमँगि इत आवै ।
क्रीट मुकुट, कुंडल, पीतांबर, मनु दामिनि दरसावै ।।
मोतिन-माल लसत उर ऊपर मनु बग-पाँति लखावै ।
मुरली गरज मनोहर धुनि सुनि, स्रवन मोर सचु पावै ।।
हम पर कृपा करी हरि मानों, नीर-नेह भर लावै ।
'रूपरसिक' यह सोभा निरखत, तन-मन नैन सिरावै ।।

तत्ववेत्ताजी

ये परशुरामदेवजी के शिष्य थे । इनका आविर्भाव सं० १६८० (१६२३ ई०) के लगभग हुआ । इनका वास्तविक नाम अज्ञात है । जोधपुर गाँव का जैतारण गाँव इनका जन्म-स्थान था । इनकी जाति गुर्जरगौड़ थी । इनकी वाणी जैतारण के गोपाल-मंदिर में सुरक्षित है । ज्ञान-उपदेश होते हुए भी वाणी की सरसता क्षुब्ध नहीं होने पाई है । इनकी 'कवित्त' नाम की एक और रचना उपलब्ध हुई है ।[1] इस रचना में ६८ कवित्त (छप्पय) हैं । इनमें राम, कृष्ण, नारद आदि की प्रशस्ति है । इस रचना की भाषा इस प्रकार की है—

उग्रसेन बलहीन कृष्णजी राजा कीनौ ।
राजपाट राज्यंट छत्र सिंहासन दीनौ ।।
स्वामी सेवक होइ चत्रभुज चौंर ढलावैं ।
पीतांबर त्यौं छाँड़ि पायँ पनही पहरावैं ।।

---

१. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज प्रथम भाग, पृ० ३६ ।

दालिदहरन दयाल विपुल वैभौ विस्तारा।
करुणासागर कृष्ण किशोर कीनौ सकुँवारा॥
'ततवेत्ता' तिहुँ लोक में भगतबछल जस गाइयै।
मनसा-बाचा-कर्मणा, मनवांछित फल पाइयै॥

इनका ध्यान काव्य-सौंदर्य और शृङ्गार-भावना की अपेक्षा सिद्धांत-निरूपण में अधिक रमा है। समस्त साधन-मार्गों का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—

धर्ममार्ग खग-धार, करम - मारग कछु नाहीं।
साध-मार्ग सिरताज, सिद्ध-मारग मन माहीं॥
जोग - मार्ग जोगेन्द्र, जोगि जोगेश्वर जानैं।
हरि-मारग हरिराय, वेद - भागवत बखानैं॥
'ततवेत्ता' तिहुँ लोक में विविध मार्ग विस्तरि रह्या।
सब मारग कों सुमिरताँ, परम मार्ग परचै भया॥

इन्होंने उत्सव के पदों की भी रचना की। सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार तत्ववेत्ताजी का जन्म सं० १६०० (१५४३ ई०) के लगभग जैतारण के समीप फ़ूलमाल नामक स्थान में हुआ। ये गुर्जर गौड़ न होकर दाधीचि माने जाते हैं[1]।

श्री वृन्दावनदेवजी

ये परशुरामदेवजी की तीसरी पीढ़ी में थे। इनकी जीवन-संबंधी कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। राजपूताना के किसी गौड़ ब्राह्मण कुल से इनका संबंध था। इनके पदों का संग्रह 'श्रीकृष्णामृत-गङ्गा' के नाम से प्रसिद्ध है। अलंकारों की छटा और सरसता के मिश्रण ने इनके काव्य को आकर्षक बना दिया है। इनका एक पद देखिए—

सुकुमार सिवारसे,मरकत तार से,कज्जल सार से,बार निवारि सुखावति बाला।
मार के जार, सिंगार के चौर से, एड़ी छुएँ पुनि ऐसे विसाला॥
स्याम घटा ते मनों निकसे, मुख चन्द दिएँ तन दामिनि - माला।
'वृन्दावन' प्रभु ओट भए लखि, पानि परी सुत नन्द के लाला॥

---

१. इस सूचना के लिए हम 'श्री सर्वेश्वर' के विद्वान् संपादक श्री ब्रजवल्लभ-शरणजी के आभारी हैं।

सूर की भाँति रूपकातिशयोक्ति के आश्रय से शिख-नख का भी वर्णन कवि ने सुन्दरता से किया है—

देखो अचरज कनक लता चल, ता पर पूरन चंद।
नील नलिन तापर द्वै राजत, तिन पर दोइ मिलिंद॥
नीकें चम्पकली इक सोहति, ता पर बिम्बी जु दोइ।
तिन्ह मधि दमकति बीज दाड़िमी, तरें अंबफल जोइ॥
तापर द्वै लागति अति नीकें, अरुन जु नलिन सनाल।
तिन मधि द्वै श्रीफल भल दीसत, तिन्ह तर बेलि सिंवाल॥
ताके मूल अलौकिक बापी, बँधी कनक सोपान।
तरतल द्वै कदली, द्वै तिन्ह पर कनक-केनकी-कली समान॥
तिन्ह पर द्वै पुनि कमल अधोमुख, तिन्ह दल पर दस इंद।
'वृन्दावन' प्रभु बनमाली, जिहिं रस सींचत गोविंद॥

इस प्रकार काव्य-प्रतिभा की दृष्टि से निम्बार्की कवियों में वृन्दावनदेवजी का ऊँचा स्थान है। इनके काव्य में रस, अलंकार और शब्द-सौंदर्य की त्रिवेणी मिलती है।

वृन्दावनदेवजी की परम्परा में तीन प्रमुख कवि हुए—श्री गोविंददेवजी, श्री बाँकावतिजी तथा श्री सुन्दरकुंवरजी। श्री गोविंददेवजी की रचना 'जयति चतुर्दशी' नाम से मिली है। दोनों कवियित्रियों का परिचय इस प्रकार है—

बाँकावतिजी

ये कृष्णगढ़-नरेश महाराज राजसिंह की रानी थीं। यह राजघराना परशुदामदेवजी की शिष्य-परम्परा से सम्बद्ध है। इनकी एक प्रसिद्ध रचना 'ब्रजदासी भागवत' है, जो भागवत के १२ स्कंधों का भाषानुवाद है। बाँकावतिजी ने इसी में अपने गुरु का उल्लेख किया है—

नमो नमो गोपाल लाल गोबरधन धारी।
नमो नमो वृषभानु-कुँवरि पिय-प्रान पियारी॥
नमो नमो मम गुरु प्रसिद्ध वृन्दावन नामं।
नमो नमो हरि-भक्त रसिक जे अति अभिरामं॥

नमो नमो श्री भागवत, कृपासिंधु मगल करन ।
दिनकर समान झलमलत सो, प्रघट जगत अघ-तम-हरन ।।

इसमें श्री वृन्दावनदेव को अपना गुरु स्वीकार किया है ।

सुंदरकुंवरिजी

ये बाँकावतिजी की पुत्री थीं । इन्होंने चार वर्ष की अवस्था में ही श्री वृन्दावनदेवजी से मत्र-दीक्षा ली थी । इनमें अलौकिक काव्य-प्रतिभा थी । 'सर्वेश्वरजी' ने इनको विद्या-दान दिया था । सुदरकुवरि ने स्वयं इसका उल्लेख किया है—

श्री बृन्दाबन देव प्रभु, जिन्ह की दासि जु छाप ।
लही बाल-बय में तबहि, उदए भाग अमाप ।।
सो अब यै दरसी प्रघट, महाभाग की ओप ।
श्री सरबेसुर सरम प्रभु, दिए सुभेव निज गोप ।।
सुथल सलेमाबाद की, हौं दासानुजदासि ।
जिहिं प्रभाव यै रहसि किय, मेरे हृदै निवासि ।।

श्री सुंदरकुंवरिजी के नाम से निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

नेहनिधि (सं० १८१७ वि०), वृन्दावन गोपी माहात्म्य, संकेत-युगल, रसपुंज, प्रेम संपुट, रंगझर, गोपी माहात्म्य, भावना-प्रकाश, राम रहस्य, मित्र-शिक्षा तथा फुटकर पद ।

इनकी रचना में पद प्रमुख है । पर कवित्त, सवैया तथा अन्य छन्दो का प्रयोग भी इन्होंने अपने काव्य में किया है । जुगल-रूप की एक मनोरम झाँकी उन्हीं की कोमल शब्दावली में देखिए—

मद ब्रज - बिपिन - रसासव भावै ।
जुगल रूप भरि नैंन - पियाले छिन - छिन छाक चढ़ावै ।
निभृत नवल निकुंज विनोदनु स्वाद विविध रुचि पावै ।।
लगत बिभव बैकुंठ अभावन, मतवारिन ठुकरावै ।
तीन लोक की रचना जेती, कछु न नजरि में आवै ।।
जमुना-पुलिन, नलिन-रज-रंजित मत्त पछरि मुसिक्यावै ।
नवल नेह मतवारी कौं गहि, राधा आनि उठावै ।।

बनीठनीजी

ये श्री नागरीदासजी की पासवान थी। आपका जन्म-संवत् प्रामाणिक रूप से ज्ञात नहीं है। इनकी मृत्यु आषाढ़ शुक्ला १५, बुधवार, सं० १८२२ (१७६५ ई०) में हुई। रचनाएँ अधिक नहीं मिलीं। भाषा तो इनकी विशेष परिमार्जित नहीं, पर भाव-गरिमा अनूठी है। राजस्थानी का पुट भी कविता में सजीवता उत्पन्न करता है। आप स्वा० हरिदासजी की शिष्य-परम्परा में प्रसिद्ध श्री रसिकदासजी की शिष्या थीं। कविता में 'रसिकबिहारी' की छाप मिलती है—

मनमोहन, सोहन स्याम, नंद ढिठौनाँ री।
बिन देखें पल कल न परत है, मेरौ जीव लगौना री॥
होरी में मो पै ठगोरी-सी डारी, हौं रिझई रीझि रिझौना री।
खेलौंगी मिलि 'रसिकबिहारी' सों, वा बिन खेल अलौना री॥

इनकी रचनाएँ 'नागर समुच्चय' में उपलब्ध है।

गोविंदशरणदेवजी

इनकी रचनाओं में शब्द-सौंदर्य और भावों की सूक्ष्मता का समावेश है। भावानुभूति साम्प्रदायिक होते हुए भी निराली है। काव्य में प्रवाह और आलंकारिकता है। ये श्री गोविददेवजी के शिष्य थे। पद तथा कवित्त-सवैया दोनों शैलियों में आपने काव्य-रचना की। सैद्धांतिक उपदेश और रस-प्रसंग दोनो विषयों पर आपकी लेखनी चली है। तृष्णा के विषय में निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है—

धन कौ भ्रम मन जान, महीतल खोदि निहार्‌यौ।
भसम करीं गिरि-धातु, अरथ बित काठ बिगार्‌यौ॥
सरिता कौ पति सिधु, सोउ दुस्तर रह्यौ भोई।
सेए बहु नर-देव, कमी राखी नहिं कोई॥
मत्र साधि साधन थक्यौ, हाथ जोरि हौं कहत तोहि।
मिली न कौड़ी एक अब, हे तिसनां तू त्यागि मोहि॥

छत्रकुँवरिजी

ये भी सुंदरकुँवरिजी के घराने की ही थी। 'प्रेम-विनोद' में

इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

रूप नगर नृप राजसिंह, जिन्ह सुत नागरिदास ।
तिन्हँन पुत्र जु सरदारसिंघ, हो तनया मै जास ॥
छत्रकुँवरि मम नाम है, कहिबे कौ जग माँहि ।
प्रिया सरन दास्युत्त ते, हों हित - चूर सदाँहि ॥

इनकी रचना में काव्य-सौष्ठव अधिक है । चित्रात्मकता और सूक्ष्म भावुकता इनके काव्य की विशेषताएँ है । एक कवित्त देखिए—

रसिक बिहारी - प्यारी खेलत खिलारी मिलि,
बाढ्यौ रंग भारी राँचे रग रिझवारी है ।
झमकि उठाइ पाँसे, रमकि चलाइ प्रिया,
रूपनिधि मानों कर - लैहैर पसारी है ॥
तामें मन-मीन पिय-लीन ह्वै कलोलत है,
निकसन चाहैं कैसे मौज सुखकारी है ।
लम्पट हैं नैन आन पान कंज - संपुट में,
कढ़त न लोभी अलि गति मतवारी है ॥

'प्रेमविनोद' की रचना की समाप्ति सं० १८४५ (१७८८ ई०) मे हुई थी । यह ग्रन्थ बूंदी राज्य की राजमाता द्वारा सुदरकुवरि कृत ग्यारह ग्रन्थों के साथ प्रकाशित हो चुका है।

रसिकगोविदजी

ये श्री सर्वेश्वरशरणदेवजी के शिष्य थे। साहित्य के इतिहास मे इनका महत्वपूर्ण स्थान है । इनके नौ ग्रन्थों का पता लग चुका है। इन ग्रन्थो की नामावली इस प्रकार है—

१. रामायण सूचनिका—३३ दोहों में अक्षर-क्रम से राम-कथा ।

२. रसिक गोविंदानदघन— लगभग आठ सौ पृष्ठों का रीति-ग्रन्थ। इसमें रस, नायिका-भेद, अलकार, गुण-दोष आदि के लक्षण तथा विस्तृत विबरण और व्याख्या गद्य में हैं ।

३. लछिमन चंद्रिका—यह पुस्तिका सं० १८८६ (१८२९ ई०) में किन्हीं लछिमन कान्यकुब्ज के अनुरोध मे रची गई ।

४. अष्टदेश भाषा—ब्रजभाषा से लेकर पूर्वी तक आठ भाषाओं में राधाकृष्ण का शृङ्गार-वर्णन है।

५. पिंगल—छंदशास्त्र।

६. समयप्रबंध—राधाकृष्ण की ऋतुचर्या।

७. कलियुग रासौ—१६ कवित्तों में कलियुग-वर्णन।

८. रसिक गोविंदचद्रालोक—अलकार ग्रन्थ।

९. युगल रस माधुरी—राधाकृष्ण-विहार तथा वृन्दावन-वर्णन।

भक्तिशृङ्गार के अतिरिक्त साहित्य-शास्त्र-संबंधी रचनाओं के लेखन का श्रेय भी आपको है। इनका भाषा पर पूर्ण अधिकार था। रीतिकालीन प्रभाव इनकी रचनाओं पर स्पष्ट दीखता है। चिबुक के नीले विंदु का वर्णन—

ललित चिबुक - बिन्द सुभग स्याम लीला सोभित अनु।
गिर्‌यौ गुलाब सुमनस मँझार मधु छक्यौ मधुप जनु ॥

नासिका और बेसरि-मुक्ता पर कवि की उक्ति—

दीप सिखा-सी नाक, मुक्त पर मुख ढिंग डोलै।
मनों चन्द की गोद, चन्द कौ कुँमर किलोलै ॥

कपोलों को गाढ़ और उसके तिल का वर्णन—

हँसत कपोलन गाढ़ परत, पुनि इक तिल स्यामल।
मनों सुधा-सर-मध्य खिल्यौ इक नील-कमल कल ॥

इस प्रकार इनका काव्य अनूठी उक्तियों और अलंकार-छटा से पूर्ण है।

<u>हरिदासी शाखा</u>—ऊपर निम्बार्क सम्प्रदाय की 'हरिव्यासी' शाखा के ब्रजभाषा-कवियों का परिचय हुआ। निम्बार्क सम्प्रदाय की दूसरी शाखा 'हरिदासी' है। स्वामी हरिदासजी अद्वितीय संगीतज्ञ हुए। उनकी एक सुदीर्घ शिष्य-परंपरा है। इस परंपरा में भी अनेक कवि हुए हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा-साहित्य को समृद्ध और समुन्नत किया। हरिदासी शाखा के मुख्य कवि इस प्रकार हैं—

स्वामी हरिदासजी, विट्ठलविपुलजी, विहारिनदेवजी, सरसदेवजी, नरहरिदेवजी, रसिकदेवजी, ललितकिशोरीदेवजी, सहचरिशरणजी तथा भगवतरसिकजी।

स्वामीजी के संप्रदाय के सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं। जब तक इस विषय में पुष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं होते तब तक यही युक्तिसगत प्रतीत होता है कि उन्हें तथा उनकी शिष्य-परंपरा को एक पृथक् संप्रदाय के अन्तर्गत माना जाए। नीचे स्वामीजी तथा उनके अनुयायी कुछ प्रमुख कवियों का परिचय दिया जाता है—

स्वामी हरिदासजी

स्वामीजी का सम्यक् जीवन-वृत्त हमें उपलब्ध नहीं है। एक मत के अनुसार[1] इनका जन्मस्थान वृन्दावन के समीप राजपुर ग्राम है। इसके अनुसार इनके पिता का नाम गंगाधर और माता का चित्रादेवी था तथा श्री आशुधीरदेवजी इनके दीक्षागुरु थे। ये विरक्त वैष्णव थे और सनाढ्य ब्राह्मण थे। इस मत के मानने वाले स्वामीजी का जन्म सं० १५३७ (१४८० ई०) में मानते हैं। परन्तु दूसरे मत के अनुसार हरिदासजी मुलतान के पास उच्च-ग्राम के निवासी सारस्वत ब्राह्मण आशुधीर के पुत्र थे और उनका जन्म अलीगढ़ जिले के हरिदासपुर नामक गाँव में स० १५६९ (१५१२ ई०) में हुआ था। इस दूसरे मत के अनुसार हरिदासजी का विवाह १५ वर्ष की अवस्था मे हरिमतीजी से हुआ। परन्तु उनके कोई संतान नहीं हुई। पत्नी की मृत्यु के बाद हरिदासजी की प्रवृत्ति संसार से हट गई। वे २५ वर्ष की आयु में वृन्दावन चले आए और वहाँ निधुवन में रहने लगे। उनके छोटे भाई जगन्नाथजी भी वृन्दावन आ गए, जहाँ उनका वंश चला। वृन्दावन में लगभग ९५ वर्ष की आयु में स्वामीजी ने भौतिक शरीर का

१. द्रष्टव्य बिहारीशरण ब्रह्मचारी, 'श्री निम्बार्क माधुरी', पृ० १९२।
२. द्र० शरणबिहारी गोस्वामी, 'स्वामी हरिदास' महाकाव्य, (वृन्दावन, सं० २०१०)।

त्याग किया। शोध की वर्तमान स्थिति में दूसरा मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। परन्तु अभी इस दिशा में अधिक खोज को आवश्यकता है।

स्वामीजी की उपासना सखी-भाव की है। इसी हेतु इनके संप्रदाय का एक नाम 'अनन्य रसिक सखी संप्रदाय' रखा गया है। भक्ति-शृङ्गार इनके काव्य की आत्मा है। पच्चीस वर्ष को अवस्था में ये वैष्णव-विरक्त हो गए थे। उसी समय से श्री राधाकृष्ण-भक्ति की तन्मयता इनमें आ गई। यही कारण है कि इनके भाव और शब्दों की कोमल सार्थक संयोजना उत्कृष्ट संगीति से युक्त होकर मन और शरीर को ही नहीं, प्रकृति के अणु-अणु को विमोहित करने वाली प्रतीत होती है। इनके विषय में श्री नाभादासजी ने निम्नलिखित छप्पय लिखा है—

> युगल नाम सो नेम जपत नित कुञ्जविहारी।
> अवलोकत रहे केलि सखी-सुख के अधिकारी ॥
> गान कला-गंधर्व स्याम-स्यामा को तोसे।
> उत्तम भोग लगाय मोर-मर्कट तिमि पोसे ॥
> नृपति द्वार ठाढ़े रहें, दर्शन आसा जास की।
> आसुधीर उद्योतकर, रसिक छाप हरिदास की ॥

प्रियादासजी ने अपनी टीका में अकबर का इनसे साक्षात्कार करने आना बताया है। स्वामीजी युगल नाम के उपासक थे।

विशेषत: इन्होंने पदों की ही रचना की है। इनको गानविद्या की मर्मज्ञता तथा उत्कृष्टता का पता इससे लगता है कि तानसेन तथा बैजू बावरा-जैसे ख्यातिप्राप्त संगीतज्ञों को भी इनका शिष्य माना जाता है। संप्रदाय में इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—'केलिमाल' तथा 'सिद्धांत के पद।'

एक सिद्धांत-पद इस प्रकार है—

> ज्योंहीं-ज्योंहीं तुम राखत हौ, त्योंहीं-त्योंहीं रहियतु हैं हो हरि।
> और तो अचरचे पाँइ धरौं, सो तौ कहौ कौन के पैंड भरि ॥

जदपि हौं अपनो मनभायो कियो चाहौं,
सु तौ कैसे कर सकौं जु तुम राखौ पकरि।
कहैं 'श्री हरिदास' पिंजरा के जनावर लौं,
तरफराइ रह्यौ उड़िबे कौ कितौऊ करि।।

वस्तुतः स्वामी हरिदासजी काव्य और सङ्गीत दोनों क्षेत्रों में पारंगत थे। स्वरप्रधान सङ्गीत के वे महान् आचार्य हुए।

श्री विट्ठल विपुलजी

ये हरिदासजी के भतीजे माने जाते हैं। श्री हरिदासजी से इन्होंने युगल मन्त्र की दीक्षा ली। स्वामीजी के स्वर्गवास के पश्चात् ये यथासमय आचार्य-गद्दी पर आरूढ़ हुए।

श्री विट्ठलविपुलजी ने ४० सुंदर पद रचे तथा 'हरिदासजू को मंगल' ग्रन्थ की रचना की। सांप्रदायिक रस-सिद्धांत और भक्ति को उन्होंने परिपुष्ट किया। इनका नित्यविहार-सम्बन्धी एक पद—

प्यारी! तेरे नैना री अति बाँके।
ललित त्रिभंगी बिहारी नागर तैं अपने करि आँके।
कहि धौं कुँवरि किसोरी कौ गुन सिखए इनहिं कहाँ के।
'श्री विट्ठलविपुल' विनोद विहारी प्रिय प्राननि में ढांके।।

श्री विहारिनदेवजी

ये श्री विट्ठलविपुलजी के शिष्य थे। इनका जन्म दिल्ली में शूरध्वज ब्राह्मण के घर हुआ। कहते हैं कि इनके पिता मुगल दरबार के कर्मचारी थे। इन्होंने ७०० दोहे और ३०० के लगभग पद रचे। विषय की दृष्टि से भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, नीति, उपदेश, गुरुनिष्ठा और शृङ्गार पर आपने रचना की। पद का उदाहरण—

रासमंडल मध्य नृत्यत दोऊ।
विमल भूमि विमल द्रुमदल नव नृत्य निरंतर आलस न कोऊ।
ज्यों ही ज्यों अपने अँग नृत्यत इत त्यों ही त्यों ही अपने अँग नृत्यत वेऊ।
उपजावत गति में गति उकत रहत न हारि मानि मन कोऊ।
रीझि-रीझि वारति सखी तन-मन-धन अद्भुत कौतुक जुवती जोऊ।
देत असीस 'बिहारिनिदासि' इन रसिक अनन्यनि सुख में सुख होऊ।।

सरसदेवजी

ये श्री बिहारिनदेवजी के शिष्य गौड़ ब्राह्मण थे। वृन्दावन में इन्होंने एक दीर्घ काल तक निवास किया। आपकी सरस रचना का एक उदाहरण इस प्रकार है—

राजति नवनिकुंज नवजोरी
सुंदर स्याम रसीले अँग-अँग नवल कुँवरि तन गोरी।
बदन माधुरी मदन-सदन सुख सागर नागर कुँवरि किशोरी।
'सरसदास' नयननि सचु पावत कौतिक निपट नयो री॥

श्री रसिकदेवजी

इन्होंने श्री रसिकबिहारी-मन्दिर की स्थापना की। यह श्री नरहरिदेवजी के विरक्त शिष्य थे। इनका जन्म सं० १६९२ (१६३५ ई०) में माना जाता है। सम्प्रदाय में इनके रचे हुए ग्यारह ग्रंथ बताए जाते हैं। मान-मनावन का एक पद देखिए—

अरी मान न कीजै रसीले श्याम सौं।
तुम तो हो लालन की अँखियाँ बँधे तिहारी दाम सौं।
बिन आगस जिय रोष धरति हो निरखि आपनी बाम सौं।
'श्री रसिकबिहारी' जानि अपनपौ बिहँसि मिली पिय धाम सौं॥

नरहरिदेवजी

इनका जन्म बुंदेलखण्ड में हुआ। इनकी जीवनगाथा से पता चलता है कि ये उच्चकोटि के भक्त और सिद्ध थे। इनके फुटकर पद मिले हैं, जो टट्टी स्थान के आचार्यों की वाणी में सम्मिलित हैं।

श्री ललितकिशोरीदेवजी

ये श्री रसिकदेवजी के शिष्य थे। श्री सहचरिशरणजी ने इनका परिचय इस प्रकार दिया है—

देस जो भदावर को तामें चारु सरिता है,
चामिल है नाम ताको ताके तट ग्राम है।
तासों हत कान्ति कहै वास द्विजराजन को,
माथुर कहामें सोई महिमा को धाम है॥

ताहि कुल माहिं प्रगट भए सो गंगाराम,
अभिराम स्यामा स्याम ही सों काम है।
धारी एक टंक बाँकी पद्धति अनन्यता को,
गुनहू अनेक प्यारे ललित ललाम है॥

इनका जन्म-काल सं० १७३३ (१६७६ ई०) है। बाल्यावस्था में ही ये विरक्त हो गए थे। इनके संबंध में अनेक अलौकिक घटनाएँ कही जाती हैं। इनके द्वारा रचित चार सौ के लगभग दोहे और पदों की वाणी टट्टी-स्थानीय अष्टाचार्यों की वाणी में सम्मिलित हैं। सं० १८२३ (१७६६ ई०) में ये निकुंज-लीला में प्रविष्ट हो गए। इनके कुछ दोहे नीचे दिए जाते हैं—

मिलत - मिलत में चाह अति, ललित रँगीली प्रीति।
कुंजबिहारी लाल की, यह तो अद्भुत रीति॥
कहा कहों यहि मिलन की, जो मिलिबो जिय होय।
तन-मन सों प्रीतम मिले, तऊ मिलन की खोय॥

एक पद इस प्रकार है—

लड़ैती जू! सुनिए बात हमारी।
जैसे दई केलि सुखरासी, अपनी जानि सम्हारी।
तैसी ये देहु देह सौ भूल न यहि लेहु हिए में धारी।
कुँजबिहारिनि रसिक-सिरोमनि ललित महा हितकारी॥

निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों ने दिव्य प्रेम-रस, निकुंज-लीला, वैराग्य, नीति, नख-शिख आदि विषयों पर विशाल साहित्य ब्रजभाषा को दिया। इस सम्प्रदाय के अनेक कवि अभी प्रकाश में नहीं आए हैं।

(४) राधावल्लभीय सम्प्रदाय

ब्रज का चौथा मुख्य सम्प्रदाय राधावल्लभीय है। इस सम्प्रदाय के साहित्यकारों की संख्या बहुत बड़ी है। राधावल्लभीय कवियों ने ब्रजभाषा-साहित्य की अपार सेवा की। इनकी रचनाएँ

रसपरक एवं सिद्धांत-परक दोनों प्रकार की हैं। १६वीं शती के मुख्य कवि ये हैं[1]—

१. श्री हित हरिवंशजी, २. श्री बिट्ठलदासजी ३. श्रीनरवाहनजी, ४. श्री मेधा (मेहा), ५. श्री खेमहित, ६. श्री अलिभगवान्, ७. श्री सेवकजी तथा ८. श्री नवलदासजी।

१७वी शती में निम्नलिखित कवि हुए—

१. श्री हरिरामजी व्यास, २. श्री प्रबोधानंद, ३. श्री वनचंद्र महाप्रभु, ४. श्री कृष्णचंद्र महाप्रभु, ५. श्री गोपीनाथ महाप्रभु, ६. श्री मोहनचंद्र महाप्रभु, ७. श्री चतुर्भुजदास, ८. श्री ध्रुवदास, ९. श्री दामोदर स्वामी, १०. श्री वृन्दावनदास, ११. गोस्वामी श्री दामोदरवर, १२. श्री कल्याण पुजारी, १३. श्री लालस्वामी, १४. गो० श्री ब्रजभूषण, १५. श्री जगन्नाथ पागल, १६. गोस्वामी श्री नागरवर, १७. गो० श्री सदानंद, १८. श्री वृन्दावन अली, १९. श्री वैष्णवदास, २०. श्री रामदास, २१. श्री अनन्त भट्ट. २२. श्री कान्हर स्वामी, २३. श्री माधौरसिक, २४. श्री वली, २५. श्री गंगाबाई, २६. श्री यमुनाबाई, २७. श्री खरगसेन, २८. श्री श्यामशाह, २९. श्री परमानंददास, ३०. श्री नागरीदास, ३१. श्री वेनो कवि, ३२. श्री सोमनाथ भट्ट, ३३. श्री गोकुलनाथ भट्ट, ३४. श्री किशोरीदास, ३५. श्री रसिकमुकुंद, ३६. श्री चतुरदास, ३७. श्री अलिमोहन, ३८. श्री अलि भगवान्, ३९. श्रीअलि कल्याण, ४०. श्री ब्रजपति, ४१. श्री नित्यानंद, ४२. श्री संत ललितसखी तथा ४३. श्री माधौमुकुद।

इस सूची के अनेक महानुभावों की रचनाओं का अनुसंधान अभी तक नहीं हुआ। कुछ ऐसे हैं जिनके कतिपय पद ही प्राप्त हैं। पर निश्चित है कि १७वीं शती में इस सम्प्रदाय के काव्य का विस्तार अधिक हुआ। नीचे १८वीं शती के कवियों की सूची दी जाती है—

---

१. राधावल्लभीय कवियों की विस्तृत सूची के लिए देखिए श्री किशोरीशरण 'अलि', श्रीहित राधावल्लभीय साहित्यरत्नावली, सं० २००७।

(श्री) राधा चरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज-केलि दंपती तहाँ की करत खवासी॥
सर्बसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
बिधि निषेध नहिं दास अनन्य उतकट व्रतधारी॥
व्यास-सुवन पथ अनुसरै, सोई भलै पहिंचानिहै।
(श्री) हरिवंश गुसाईं भजन की, रीति सुकृत कोइ जानिहै॥

इनके पिता व्यासजी महाराज देववन स्थान के निवासी थे। बिजनौर-नरेश कीर्तिचंद्र के ये राज-पुरोहित थे। दिल्ली के किसी लोदीवंशीय बादशाह के दरबार से भी उनका संबंध था, ऐसा कहा जाता है। एक बार व्यासजी बादशाह के साथ दिल्ली से आगरा जा रहे थे। मथुरा से कुछ दूर 'बाद' नामक ग्राम मे उनकी पत्नी तारा के गर्भ से हितजी का जन्म हुआ। जन्म का स० १५३० (१४७३ ई०) माना जाता है।[1] जन्म के पश्चात् कुछ दिनों यहाँ निवास करके व्यास-दंपति हितजी सहित देववन को चले गए। उनके साथ अनेक अलौकिक चमत्कारयुक्त कथाएँ जुड़ गई हैं। सुनते हैं कि छह महीने की अवस्था में हितजी ने 'राधा सुधानिधि' का पाठ किया। ३३ वर्ष की अवस्था में आप वृन्दावन में स्थायी रूप से निवास करने लगे।

सम्प्रदाय की मान्यता है कि स्वयं राधिकाजी ने आठ वर्ष की अवस्था में इनको मंत्रदान दिया। गो० जतनलालजी ने इस घटना को अपने एक पद में इस प्रकार व्यक्त किया है—

करत भजन इक दिवस लाड़िली छवि मन अटक्यौ।
रूपसिंधु के माँझ पर्‌यो कहुँ जात न भटक्यौ॥
बिबस होइ तब गये भये तनु प्यारी हरि कें।
झुके अवनि पर सिथिल होइ अति सुख में भरि कें॥
कृपा करी श्रीराधिका, प्रगट होइ दर्शन दियौ।
अपने हित कौं जानिकैं, हित सौं मंत्र सु कहि दियौ॥

---

१. यह सांप्रदायिक मान्यता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जन्म सं० १५५६ माना है। हिं० सा० का इतिहास, पृ० १८०।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनके संबंध में इस प्रकार लिखा है— "कहते हैं हितहरिवंशजी पहले माध्वानुयायी गोपालभट्ट के शिष्य थे। पीछे इन्हें स्वप्न में राधिकाजी ने मंत्र दिया और इन्होंने अपना एक अलग सम्प्रदाय चलाया"।[१] परन्तु गोपालभट्टजी के ये शिष्य थे, इसके कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं। सं०१५९० (१५३३ ई०) में हितजी ने वृन्दावन में श्री राधावल्लभजी की मूर्ति स्थापित की। यहाँ ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के गुरु श्री हरिराम व्यास आपके शिष्य हुए। व्यासजी ने कई मास तक ब्रज मे रहकर यहाँ के वन-उपवनों और लीला-स्थलों के दर्शन किए। फिर वे देववंद गए। हितजी ने देववन्द को अपना दूसरा प्रमुख केंद्र बनाया। सम्प्रदाय में हितजी को वशी का अवतार माना जाता है। इस प्रसङ्ग को श्रीरूपलालजी ने इस प्रकार लिखा है—

रास मध्य ललितादिक प्रार्थना जु कीनी।
कर ते सुकुमारी प्यारी बसी तब दीनी॥
सोई कलि प्रगट रूप बसी बपु धार्‌यौ।
कुंजभवन रास-रमन त्रिभुवन बिस्तार्‌यौ॥
रावल, गोकुल सुटाम निकट बाद राजै।
विदित प्रेम-रास जनम रसिकन हित काजै॥

श्री हरिवंशजी ने वृन्दावन में निवास करते समय यहाँ के कई सिद्ध-केलि-स्थलों का प्राकट्य किया। कहते हैं कि सेवाकुंज में उन्होंने राधावल्लभजी की प्रतिमा की सर्वप्रथम प्रतिष्ठापना की। सं० १६४१ (१५८४ ई०) में रहीम खानखाना के मित्र सुन्दरदास द्वारा राधावल्लभजी के प्राचीन मन्दिर का निर्माण किया गया और प्राचीन विग्रह की स्थापना उसमें हुई।

संप्रदाय की मान्यता के अनुसार मानसरोवर और भांडीरवन के बीच में 'भमर-भमरनी' स्थल पर स० १६०९ (१५५२ ई०) में शरदपूर्णिमा की रात्रि को हितजी सहचरी रूप से दिव्य विलास-लीला में सम्मिलित हो गए। ऐसा प्रचलित है कि उनका शरीर

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १८०।

प्राप्त नहीं हुआ, वे सशरीर दिव्यलीला में मिल गए। कहते हैं उनके विरह में बीठलदास और मोहनदास ने अपना शरीर त्याग दिया। हितहरिवंशजी ने संस्कृत मे दो रचनाएँ कीं—'राधा सुधानिधि' तथा 'श्री यमुनाष्टक'। ब्रजभाषा में उनकी तीन रचनाए प्रसिद्ध हैं—
१. चतुरासीजी, २. श्री स्फुटवाणीजी, तथा ३. श्री मुखपत्रीद्वय।

'चतुरासी' रसग्रन्थ है, 'स्फुटवाणी' सिद्धांत ग्रन्थ है और तीसरी रचना ब्रज भाषा गद्य में लिखित दो पत्रों के रूप में है। प्रथम दो पर अनेक टीकाएँ हुई हैं। 'चतुरासीजी' के एक पद में राधा का रूप इस प्रकार अङ्कित किया गया है—

ब्रज नव तरुनि कदंब मुकुटमनि स्यामा आजु बनी।
नख-सिख लौं अँग-अंग-माधुरी मोहे स्याम धनी।
यों राजति कबरी गूँथित कच कनक-कज बदनी।
चिकुर चन्द्रकनि बीच अर्ध विधु मानौ ग्रसित फनी।
सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमन्त ठनी।
भ्रकुटि-काम-कोदंड, नैन-सर, कज्जल रेख अनी।
भाल-तिलक, ताटंक गंड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुंद, सरसाधर पल्लव, पीतम मन-समनी।
'हित हरिवंस' प्रससित स्यामा कीरति विसद घनी।
गावत स्रवननि सुनत सुखाकर विश्व-दुरित-दमनी।।

स्फुटवाणी' का एक सिद्धान्त पद इस प्रकार है—

रहौ कोउ काहू मनहिं दिए।
मेरे प्राननाथ श्री स्यामा सपथ करौं तृन छिए।
जो अवतार-कदंब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हिए।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा बन बिहार रस पिए।
खोए रतन फिरत जे घर-घर कौन काज इमि जिए।
'हित हरिबंस' अनत सचु नाहीं बिनु या रजहिं लिए।।

श्री नरवाहन

श्री हित हरिवंशजी वृन्दावन में आकर एकांत और सुरम्य स्थल मदनटेर पर रहने लगे थे। डाकुओं का सरदार नरवाहन

जो भैगाँव (जि० मथुरा) का निवासी था, यहीं हितजी के प्रभाव से उनका भक्त शिष्य हो गया। कहते हैं कि उसने वृंदावन में मदनटेर से लेकर चीरघाट तक की भूमि हितजी को भेंट में दी। अब तक नरवाहनजी कृत कतिपय पद ही प्राप्त हुए हैं।

सेवकजी

श्री भगवतमुदित द्वारा लिखित जीवनी के अनुसार सेवकजी (दामोदरदास) का जन्म जबलपुर के पास गढ़ा नामक स्थान में हुआ। जन्म-संवत् लगभग १५८० (१५२३ ई०) है। उनका जीवन आदर्श महात्मा का था। सेवकजी की वाणी का संप्रदाय में बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है। वह १६ प्रकरणों में विभक्त है और सिद्धांत का उत्तम ग्रंथ है। साहित्यिक दृष्टि से भी इनकी रचना उच्चकोटि की है। एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

सरितातट सुरद्रुम निकट, अलि ता सुमन सुवास।
ललितादिक रसननि विवस, चलि ता कुंज निवास॥
चलि ता कुंज निवास आस तव हित श्रग परषत।
रासस्थल उत्तम विलास सचि मिलि मन हरषत॥
तासु वचन सुनि चित हुलास विरहज दुख गलिता।
दासन्तन कुल जुवति मास माधव सुख सरिता॥ (पद १८)

चतुर्भुजदास

इनका भी जन्म गढ़ा गावँ में सं० १५८५ के आसपास हुआ। इनका ब्रज भाषा का 'द्वादसयश' ग्रंथ प्रसिद्ध है, जिसके १२ विभाग हैं। इसकी टीका इन्होंने संस्कृत में लिखी। इस ग्रंथ के अतिरिक्त इनके फुटकर पद भी मिले हैं। 'द्वादस यश' का एक उदाहरण—

जहां कर्म तहाँ भक्ति न आवै। रवि छत कैसे रात बतावै॥
कै काजर को सेत बनावै। कर्मनि माँझ भक्ति तौ पावै॥

कृष्णदास भावुक

ये गो० विनोदवल्लभजी के शिष्य माने जाते हैं। वृन्दावन तथा बाद गांव में रहे। रचना सरसता से पूर्ण है। वसंत का एक वर्णन देखिए—

वन भई नई छवि कही न जाइ । नव बसंत रितु रही छाइ ॥
नव द्रुमनि लपटी नव बेली, नव फूली फुलवारी ।
नव सुर लुब्ध सरोज सुगंधनि, मधुप करत गुंजारी ॥
नव नव नूत मंजरी नवफल, दल नव कोकिल कीर ।
नव पल्लव नव तरु हरखे मनों, पहिरे सुरगित चीर ॥२॥

श्री हरिराम व्यास

इनका जन्म ओरछा में सं० १५४९ (१४९२ ई०) के लगभग हुआ । 'भक्तमाल', भगवतमुदित-कृत 'रसिक अनन्यमाल' तथा उत्तमदास कृत 'रसिकमाल' आदि ग्रंथों में इनका चरित्र मिलता है । वृन्दावन आ कर ये हितजी के अनुयायी बने और आजीवन यहीं रहकर काव्य-साधना में रत रहे। सं० १६५० (१५९३ ई०) के लगभग इनका देहावसान हुआ ।

व्यासजी का सम्बन्ध माध्व तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के साथ जोड़ा जाता है, परंतु इसके पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते । वृन्दावन आ कर वे राधावल्लभीय मत में दीक्षित हुए, यह निश्चित है । स्वयं व्यासजो ने हित हरिवशजी को अपना गुरु लिखा है—

व्यास भक्ति कौ फलु लह्यौ, वृन्दावन की धूरि ।
श्री हरिवस प्रसाद तें पाई जीवन-मूरि ।

व्यासजी उच्चकोटि के संतकवि थे । इन्होंने ब्रजभाषा के साथ संस्कृत में भी रचना की । इनके लिखे दो संस्कृत ग्रंथ 'नवरत्न' तथा 'स्वधर्मपद्धति' बताए जाते हैं, पर वे अनुपलब्ध हैं । 'व्यासवाणी' ब्रजभाषा की प्रमुख रचना है, जिसमें ७५८ पद तथा १४८ दोहे हैं । यह ग्रंथ प्रकाशित है । व्यासजी ने संगीतशास्त्र पर 'रागमाला' नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें ६०४ दोहे हैं । इससे ज्ञात होता है कि वे सङ्गीत के भी मर्मज्ञ थे । ध्रुपद शैली के वे प्रसिद्ध गायक थे । 'व्यास-वाणी' एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें माधुर्य भक्ति का अत्यंत सुंदर आलेखन है । व्यासजी का प्रकृति-वर्णन भी मनोरम है । वर्षा का एक पद देखिए—

आज कछु कुञ्जन में बरसा सी।
बादल-दल में देखि सखीरी चमकति है चपला सी।
नान्ही-नान्ही बूँदन कछु धुरवा से पवन बहै सुखरासी।
मन्द-मन्द गरजन-सी सुनियतु नाचत मोर-सभासी।
इन्द्रधनुष बगपंगति डोलति बोलत कोककला-सी।
इन्द्रबधू छवि छाइ रही मनु गिरि पर अरुन घटा सी।
उमगि महीरुह सी महि फूली भूली मृगमाला सी।
रटति व्यास चातक ज्यौं रसना रस पीवत हूँ प्यासी॥

इनके शृङ्गार के पद बड़े सरस हैं। एक पद देखिए—

गावति आवति पिय सँग स्यामा।
केलि संग तैं भोर चले उठि, बिधु सम मनहुँ त्रिजामा।
छूटी लट, टूटी मुकतावलि, लर लटकति अभिरामा।
उरज, करज अङ्कित मृगमद, मनहुँ माह मौरै हैं आमा।
विलुलित कटि पर अरुझानैं पट, तिरनि रति मनिदामा।
जनु संग्राम विषय सुख सूचत, बाजत काम दमामा।
विहँसति हँसति बिखण्डित सैंनन‍ि, बंक विलोकनि वामा।
'व्यास' स्वामिनि की उपमा कहि, ललकौ काम ललामा॥

ध्रुवदास

पं० रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—"ये श्रीहितहरिवंशजी के शिष्य स्वप्न में हुए थे। इसके अतिरिक्त इनका कुछ जीवनवृत्त नहीं प्राप्त हुआ है"।[1] श्री भगवतमुदितजी के लेख के आधार पर इनका इतना जीवन-वृत्त उपलब्ध है—ध्रुवदासजी श्रीहित हरिवंशजी के तृतीय पुत्र श्री गोपीनाथजी के शिष्य थे। अपने गुरु के आदेशानुसार ये सं० १६०० (१५४३ ई०) में देववन नगर से वृन्दावन में आए। वृन्दावन के रासमंडल नामक स्थान पर स्वप्न में सहचरी वपु से प्रिया-प्रियतम सहित श्रीहितजी ने इनको दर्शन दिए। अंत में रासमंडल के एक वृक्ष में ये सदेह लीन हो गए।[2]

इनकी रचना का परिमाण बहुत अधिक है। पदों के अतिरिक्त दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैये आदि की शैली में भी इन्होंने

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १९३।
२. 'अनन्यमाल' में ध्रुवदासजी का जीवन-चरित्र।

काव्य-रचना की । 'बयालीस लीला' प्रकाशित हो चुकी है।[1] नाभाजी के 'भक्तमाल' की शैली पर इन्होंने 'भक्त-नामावली' लिखी है। अपने समय तक के भक्तों का उल्लेख इसमें किया है। राधा-कृष्ण की रति-श्रान्ता झाँकी ध्रुवदासजी के शब्दों में देखिए—

सोवत भोर लाड़िली लाल ।
भूषण सिथिल भए अँग-अँग के अरुझि रहीं कंठनि पर माल ॥
अंचल नील बदन विवि ऊपर निरखत लोचन हियौ सिरात ।
तन न सँभार रैन सब जागे सुरति-केलि कीनी बहु भाँत ॥
यह सुखसार निहार नैंन भर बेपथ भईं सखी सब गात ।
'हित ध्रुव' कंठ प्रेमजल राख्यौ मुख निसरत नाहिन कछु बात ॥

'सिंगार-सत' का एक कवित्त इस प्रकार है—

रूपजल उठत तरंग है कटाछन के,
अंग-अंग भौंरन की अति गहराई है ।
नैंनन कौ प्रतिबिंब पर्‌यौ है कपोलन में,
तेई भए मीन तहाँ ऐसी उर आई है ।।
अरुन कमल मुसुकान मानो फबि रही,
थिरकन बेसरि के मोती की सुहाई है ।
भयौ है मुदित सखी लाल को मराल मन,
जीवन-जुगल ध्रुव एक ठाँव पाई है ॥

श्री नागरीदास

आपका जन्म सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ (लगभग सं० १६१०) में वेरछा नगर के एक पमार क्षत्रिय-कुल मे हुआ था । पीछे इनका संपर्क चतुर्भुजस्वामी से हुआ । उनके माध्यम से ये श्री वनचंद्रजी की शरण में आए। उन्होंने नागरीदासजी को वृन्दावन-रस का मर्म समझाया। इसी रस में उनकी वृत्तियाँ रम गईं। आप अधिकांश श्रीराधा के जन्मस्थान बरसाने में ही रहते थे। वहाँ की मोरकुटी आपका ही स्थान है। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि आपने एक सिंह को स्वमत में दीक्षित करके उसको हिंसक-

---

१. प्रकाशक बाबा तुलसीदास, श्री राधावल्लभजी का मंदिर, वृन्दावन ।

वृत्ति से विरत कर दिया था। आपकी रचनाएँ इस प्रकार हैं—

श्री हरिवंशाष्टक, दोहावली, पदावली, गुरुस्तवन-ग्रंथ तथा रसग्रन्थ।

इनके एक पद की रस-तरंग देखिए—

आजु सखि अद्‌भुत भाँति निहारि।
प्रेम सुदृढ़ की ग्रन्थि जु परि गई गौर-स्याम भुज चारि।
अब ही प्रात पलक लागी है मुख पर श्रम-कन वारि।
'नागरिदास' निकट रस पीवहु, अपने वचन विचारि॥

प्रिया-प्रियमत की एक और झाँकी देखिए—

सिटपिटात किरनन के लागे।
उठि न सकत लोचन चकचौंधत एंट ओढ़ वसनन दोऊ जागे।
हिय सौं हिय मुख सौं मुख मिलवत रस-लंपट जु सुरत रस पागे।
'नागरिदास' निरखि नैननि सुख मति कोऊ बोलौ जाओ जिन आगे॥

मिश्रबंधुओं ने इनकी एक रचना 'समय-प्रबध-संग्रह' का उल्लेख किया है।[1] उसको उन्होंने छतरपुर में देखा था। इनके कुछ पद 'राग-कल्पद्रुम' में भी संगृहीत हैं।

श्रीहित रूपलाल

इनका निश्चित जन्म और मृत्यु-संवत् अज्ञात हैं। अनुमानतः यह सं० १६४० (१५८३ ई०) के लगभग उपस्थित थे।[2] इनके काव्य का परिमाण बहुत अधिक है। श्री राधावल्लभीय 'साहित्य-रत्नावली' में इनकी रचनाओं की सूची इस प्रकार दी हुई है—

साधु लक्षण, सर्वस्व सिद्धांत भाषासार, आचार्य गुरुसिद्धांत, रूपसनातन वल्लभाचार्य सहित स्वकीया-परकीया-चर्चा, तिलक व्यौरौ, दिव्य रत्नमाला, सिद्धांत के पद, समय प्रबंध, विजयत्वतुरासी, विजय चतुरासी, खिचरी शृङ्खला, श्रीहित प्राकट्य, वंशावलि, सेवाधिकार, वर्षोत्सव, गुरुशिक्षा, गूढ़ ध्यान, वृन्दावन-रस-रहस्योद्गार,

---

१. मिश्रबन्धुविनोद, पृ० ३८६।

२. रत्नकुमारी, १६वीं शती के हिंदी और बंगाली वैष्णव कवि, पृ० १२०।

रस रत्नाकर, मनशिक्षाबत्तीसी, मानसिक सेवा समय, प्रबंधोल्लास, सिद्धांतसार, वंशीयुक्त युगल ध्यान, साँझी, सर्वतत्वसिद्धांत, भक्ति-भाव विवेक रत्नावलि, ब्रजभक्तिभावप्रकाश, प्रेमवर्धन-पत्रिका, वाणी-विलास, माझ हिंडोरा, भाना व्यौरौ, गुणभेद भक्तिभाव-विवेक, रत्नावलि, सम्प्रदाय निर्णय, गुरुसिद्धांत, शृङ्गार समयोल्लास, जलक्रीड़ा प्रबन्धोल्लास, राजभोग क्रीड़ा, संध्या समय क्रीड़ा, सयन क्रीड़ा, प्रियाध्यान, नित्यविहार, युगलध्यान आदि ।

उक्त सूची को देखने से रूपलालजी की काव्य-साधना का परिचय मिलता है। साथ ही उनके अध्ययन के विस्तार का भी पता चलता है ।

उनका राधा-विषयक एक पद यह है—

जयति वृषभानुजा कुँवरि राधे ।
सच्चिदानद घन रसिक सिरमौर बर, सकल वांछित सदा रहत साधे ।
निगम आगम सुमति रहे बहु भाँति जहँ, कहि नहीं सकत गुण-गण अगाधे ।
(जैश्री) हित रूपलाल पै करहु करुणाप्रिये देहु वृन्दाविपिन नित अबाधे ।।

श्रीहित हरिवंशजी के संबंध में उनका निम्नलिखित पद अत्यन्त प्रसिद्ध है—

व्यासनंदन, व्यासनंदन, व्यासनंदन गाइयै ।
जिनकौ हित नाम लेत दम्पति रति पाइयै ।।
रासमध्य ललितादिक प्रार्थना जु कीनी ।
कर तें सुकुँवारि प्यारी बसी तब दीनी ।।
सोई कलि प्रगट रूप वसी वपु धार्यौ ।
कुञ्ज-भवन रास-रवन त्रिभुवन विस्तार्यौ ।।
गोकुल, रावल सुठाँव निकट बाद राजै ।
विदित प्रेम राखि जनम रसिकनि हित काजै ।।
तिनकों पिय नाम सहित मंत्र दियौ (श्री) राधे ।
सतचित आनन्द रूप निगम अगम साधे ।।
(श्री) बृन्दावन धाम तरणिजा सुतीर वासी ।
श्री राधापति रति अनन्य करत नित खवासी ।।
अद्भुत हरियुत वंश भनत नाम श्यामा ।
(जय) श्रीरूपलाल हित चित्त दै पायौ विश्रामा ।।

भक्तिकालीन अन्य कवि

इस काल में ब्रज में लालजी, केवलराम, मदनमोहन, प्रभुदास खेम, गोपीनाथ, नाथ, नारायण भट्ट, रामदास आदि अनेक अन्य कवि हुए। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

लालजी

वल्लभ सम्प्रदाय की आठवीं पीठ में लालजी प्रथम आचार्य हुए। पंजाब, सिंध और सीमांत में आपने वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। भागवत की सरल टीका करने के साथ लालजी ने लीला, शृंगार तथा उपदेश सम्बन्धी कई हजार पदों की रचना की।

केवलरामजी

लालजी के पौत्र केवलरामजी उद्भट लेखक हुए। इनकी बड़ी रचनाएँ 'सनेहसागर' तथा 'ज्ञानदीपक' मिली हैं। पहले ग्रंथ में लगभग २,१०० दोहे और दूसरे में २,००० दोहे हैं। लगभग ५०० पदों का 'रत्नसागर' नामक ग्रन्थ भी मिला है। इनके अतिरिक्त केवलरामजी के रस, सिद्धांत तथा लीला-संबंधी सैकड़ों छंद उपलब्ध हैं। भाषा पर इनका पूरा अधिकार था। ब्रज भाषा के अतिरिक्त सीमाप्रांत की भाषा में भी इन्होंने अनेक रचनाएँ कीं। इनकी गणना उच्च कोटि के भक्त कवियों में की जा सकती है। 'भक्तमाल' में भी एक केवलरामजी का उल्लेख मिलता है। इनकी रचना का उदाहरण—

> मेरो माई माधव सों मन मान्यो।
> कमल नयन कमनीय सुघन वपु, तिनहीं को बर जान्यो॥
> लोकलाज कुलकानि तोड़ि कै उनसों बाँध्यो गानो।
> 'केवल' आनँद भूरि भयौ है, रोम-रोम रस सान्यो॥

मदनमोहनजी

ये केवलरामजी के पुत्र थे। इन्होंने दशमस्कंध विरह के पद, सिद्धांत के पद तथा माँझ लिखे। इनकी रचनाओं में प्रसाद गुण विशेष मिलता है। उदाहरण—

ऊधौ, हरि मेरी पीर न जानी।
नहिं जानौं मेरी कौन अवज्ञा, मनमोहन उर आनी।
तरफत रहौं, कहौं केहि आगे, जो दीनी सिर मानी।
'मदनमोहन' ब्रज लोक बिसरि गयौ, करि कुब्जा पटरानी॥

उक्त महानुभावों के अतिरिक्त खेम, गोपीनाथ, नाथ ब्रजवासी आदि ब्रज के भक्तिकालीन कतिपय कवियों के नाम भी मिलते हैं। परन्तु इनके सम्बन्ध में विशेष ज्ञात नहीं। खेम नाम के तीन व्यक्तियों का उल्लेख 'भक्तमाल' में है। गोपीनाथ जी का भी नाम 'भक्तमाल' में कुछ अन्य महानुभावों के साथ आया है[1]।

नारायण भट्ट जी

ग्रियर्सन ने इनका जन्म सं० १५६३ (१५०६ ई०) में माना है।[2] परन्तु अन्य मतानुसार वे सं० १५८८ (१५३१ ई०) में पैदा हुए।[3] बरसाना से कुछ दूर सखीगिरि के निकट ऊँचागाँव में ये रहते थे, जहाँ अब भी उनकी समाधि विद्यमान है। इन्होंने 'ब्रज-भक्तिविलास', 'भक्तिरसतरङ्गिणी', 'ब्रजप्रदीपिका', 'वृहत्ब्रज-गुणोत्सव' आदि संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनके रचित कुल ग्रन्थों की संख्या ५२ बताई जाती हैं।[4] 'ब्रज भक्ति-विलास' में ब्रज के प्रायः सभी सांस्कृतिक स्थलों का विस्तृत विवरण मिलता है। ब्रज की बड़ी वनयात्रा का प्रचार करने, अनेक लीला-स्थलों को प्रकट करने तथा उनका जीर्णोद्धार कराने में नारायण-भट्टजी ने महान् योग दिया। रासलीला के आरम्भकर्त्ता के रूप में भी उनका नाम लिया जाता है। ये ब्रजभूमि के अनन्य उपासक थे। नाभाजी ने 'भक्तमाल' में इनके लिए इस प्रकार लिखा है —

---

१. भक्तमाल, १०३।
२. दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान, पृ० ३७।
३. द्रष्टव्य बाबा कृष्णदास, रासलीलानुकरण और श्रीनारायण भट्ट, पृ० २३।
४. बाबा कृष्णदास, श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्, पृ० ४–६।
५. भक्तमाल, ८७।

गोप्यस्थल मथुरा मंडल जिते बाराह बखाने ।
ते किये नारायण प्रगट प्रसिद्ध पृथ्वी में जाने ।
भक्ति-सुधा को सिंधु सदा सतसंग समाजन ।
परम रसग्य अनन्य कृष्ण - लीला कौ भाजन ।
ज्ञान स्मारत पच्छ कौं, नाहिन कोउ खंडन कियौ ।
ब्रजभूमि उपासक भट्ट सो रचि-पचि हरि एकै कियौ ।।

वराहपुराण में वर्णित ब्रज के रहस्य-स्थलों का उद्घाटन करने का श्रेय इनको दिया गया है । व्यक्ति महत्वपूर्ण थे ।

रामदास

मिश्रबंधुओं ने रामदास नाम के दो व्यक्तियों का उल्लेख किया है—रामदास, रामदास बाबा ।[1] भक्तमाल में भी दो राम-दासों का उल्लेख मिलता है । एक का नाम छीतस्वामी, गदाधर, गोविद आदि के नाम के साथ आया है ।[2] हो सकता है ये भी ब्रज-वासी हों । दूसरे रामदास का वर्णन इस प्रकार है[3]—

श्री रामदास रसरीति सों, भली भाँति सेवत भगत ।
सीतल परम सुसील वचन कोमल मुख निकसै ।
भक्त उदित रवि देखि हृदै वारिज जिमि बिकसै ।
अति आनँद मन उमगि संत - परिचर्या करई ।
चरण धोइ दंडौत विविध भोजन विस्तरई ।
बछुवन-निवास विस्वास हरि, जुगल चरन उर जगमगत ।
श्री रामदास रसरीति सों, भली भाँति सेवत भगत ।।

ये बछुवन-निवासी और भक्तों के प्रेमी थे । यह नहीं कहा जा सकता कि 'रागकल्पद्रुम' में उल्लिखित पद इन्हीं रामदास के हैं ।

इनके अतिरिक्त ब्रज में अनेक कवि हुए होंगे, जो अभी प्रकाश में नहीं आए । अन्य स्थानों से संबंधित ब्रजभाषा के कवियों की सूची इस प्रकार है—

---

१. मिश्रबन्धुविनोद, पृ० ३२२ ।
२. भक्तमाल, १४६ ।
३. वही, १६६ ।

अग्रदास, आसकरनदास, कल्याणसिंह, कृष्णदास चालक, चंद्रसखी, नाभादास, मीरा, हृदयराम, रसखान, अभयराम, कल्यानदास, कल्यानी, गोविंदस्वामी, जगन्नाथदास, तुलसीदास, माधवदास, मुरारिदास, विद्यादास, कृष्णदास पयहारी, कील्हजी।

इनमें से कुछ प्रमुख कवियों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है—

मीराबाई

जीवनचरित्र के संबंध में अंतर्साक्ष्य तो प्राप्त नहीं है। बहिर्साक्ष्य के आधार पर उनके जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत की जाती है। इनको मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री माना जाता है।[१] शुक्लजी ने इनका जन्म सं० १५७३ (१५१६ ई०) माना है।[२] पर अन्य इतिहासकारों ने इनका जन्म १५५५ वि० के लगभग माना है।[३] इनका विवाह भोजराज के साथ हुआ। पर थोड़े समय पश्चात् ही इनके पति का देहान्त हो गया। इनकी निधन-तिथि सं० १६२० से १६३० तक मानी जाती है।

कुछ लोग रैदास को इनका गुरु मानते हैं। पर ऐतिहासिक दृष्टि से यह ठीक नहीं प्रतीत होता। श्री ब्रजरत्नदास ने रघुनाथदास को[४] और श्री वियोगीहरि ने जीवगोस्वामी को[५] मीराबाई का गुरु माना है। गुरु-संबंधी समस्या उलझी ही हुई है। 'बंगला भक्तमाल', ध्रुवदास की 'भक्तनामावली' और नाभादासजी की 'भक्तमाल' में इनका वर्णन मिलता है। इनकी अकबर से भेंट हुई थी, यह 'बंगला भक्तमाल' में उल्लिखित है।[६] इनके पाँच ग्रन्थ बताए जाते हैं—

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १८४; ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, पृष्ठ ३५६।

२. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १८४।

३. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ३५६।

४. 'मीरा-माधुरी', पृ० ७६।

५. वही, पृ० ७६।

६. माला, २२।

१. नरसीजी रो माहेरो, २. सत्यभामाजी नु रुसणुं, ३. गीतगोविंद टीका, ४. राग सोरठ तथा ५. राग गोविंद।

मीरा-काव्य राजस्थानी और ब्रजभाषा दोनों में है। मीरा की भक्ति दम्पति-पद्धति की थी। इनका शृङ्गार मर्यादित है। इनकी ब्रजभाषा का परिचय नीचे के उदाहरणों में मिलेगा—

बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहनि मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने रसाल।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल, अरुन तिलक दिए भाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजन्ती माल।
छुद्र घंटिका कटि-तट सोभित, नूपुर सब्द रसाल।
'मीरा' प्रभु सतन सुखदाई, भक्तबछल गोपाल॥

एक और पद देखिए—

मन रे परसि हरि के चरन।
सुभग सीतल कमल कोमल त्रिविध ज्वाला हरन।
जो चरन प्रहलाद परसे इन्द्र पदवी हरन।
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हों राखि अपनी सरन।
जिन चरन ब्रह्मांड भेंट्यौ नखसिखौ श्री भरन।
जिन चरन प्रभु परस लीन्हें तरी गौतम-धरनि।
जिन चरन धार्यौ गोवरधन गरब मघवा हरन।
दासि 'मीरा' लाल-गिरधर अगम तारन तरन॥

श्री कृष्णदास पयहारी

इनका प्रभावक्षेत्र मुख्यतः राजस्थान है। वहाँ इनकी परंपरा में कई भक्त कवि हुए। ये गलताजी के महंत और दाहिमा ब्राह्मण थे। अनन्तानंदजी के ये शिष्य थे। इनका समय सं० १५५९ (१५०२ ई०) से १५८४ (१५२७ ई०) के आसपास है। संस्कृत और ब्रजभाषा के ये अच्छे पंडित थे। इनके नाम से ये तीन ग्रन्थ प्रचलित हैं—

१. ब्रह्मगीता, २. प्रेमसत्वनिरूप तथा ३. जुगल मानचरित्र।

रामानंदी सिद्धांतों का समावेश इन ग्रन्थों में मिलता है। 'जुगल मानचरित' में राधाकृष्ण की प्रेमलीला वर्णित है । इनके पदों में तत्वज्ञान का विषय विशेष हे । तीसरा ग्रन्थ संदिग्ध है। काव्यतत्व की अपेक्षा बुद्धितत्व ही उसमें विशेप है ।

अग्रदास

ये श्री कृष्णदास पयहारो के शिष्य और नाभादासजी के गुरु थे । ये रामोपासक थे । गोस्वामी तुलसीदासजी के ये सम-कालीन थे। इनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं—

१. श्रीराम-भजनमंजरी, २. कुंडलियाँ, ३. हितोपदेश भाषा, ४. उपासना बावनी, ५. ध्यान-मंजरी, ६. विश्वब्रह्मज्ञान, ७. पद, ८. रागावली तथा ९. रामचरित के पद ।

इनकी भाषा सीधी-सादी ब्रजभाषा है । राजस्थानी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इनकी कविता का एक उदाहरण—

पहरे राम तुम्हारे सोवत । मैं मतिमंद अन्ध नहिं जोवत ॥
अपमारग मारग महिं जान्यो । इंद्री पोषि पुरुषारथ मान्यो ॥
औरन के बल अनत प्रकार । 'अगरदास' के राम अधार ॥

नाभादासजी

ये अग्रदास के शिष्य थे। इनको जाति के संबंध में मतभेद है। प्रियादासजी ने इनको हनुमानवशी लिखा है।[1] ये जन्मांध थे। दुर्भिक्ष-पीडिता माँ ने इनको निर्जन में छोड़ दिया। कील्हजा और अग्रदास की कृपा से इनकी आँखें ठीक हुई ।[2] इनका रचना-काल सं० १६४२ से १७०० (१५८५-१६४३ ई०) तक माना जाता है। ये कवि और भक्त थे। इनके रचे चार ग्रन्थ बताए जाते हैं—

१. भक्तमाल, २. रामचरित्र के पद, ३. अष्टयाम (गद्य), ४. अष्टयाम (पद्य)।

---

१. भक्तमाल टीका (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई से प्रकाशित), पृ० १६।
२. वही, पृ० १६ ।

इनमें 'भक्तमाल' सर्वश्रेष्ठ और महत्वपूर्ण रचना है। इसकी रचना अग्रदासजी की आज्ञा से हुई, ऐसा लिखा है—

गुरु अग्रदेव आज्ञा दई, भक्ति को यश गाइ।
भवसागर के तरन को, नाहिन और उपाइ॥[1]

इसमें २१६ छंद हैं। दोसौ वैष्णव भक्तों की महिमा का गायन इस ग्रन्थ में है। इस पर छह टीकाएँ हुई हैं। 'भक्तमाल' की ब्रजभाषा प्रौढ़ है। नाभाजी के गद्य ग्रंथ 'अष्टयाम' की भाषा का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

तब श्री महाराज कुमार प्रथम श्री वशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करि कै श्री महेंद्रनाथ दशरथजू के निकट बैठत भए।

नाभादासजी का भक्त कवियों में निस्सदेह उच्च स्थान है।

हृदयरामजी

ये पंजाब के रहने वाले थे। सं० १६८० में संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के आधार पर इन्होने ब्रजभाषा में 'हनुमन्नाटक' लिखा। इसमें कवित्त-सवैया शैली है। उदाहरण—

ए हो हनू! कह्यौ श्री रघुबीर कछू सुधि है सिय की छिति माहीं।
है प्रभु लंक कलंक बिना सु बसै तहँ रावन बाग की छाहीं॥
जीवति है! कहिबेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमतें बिछुराहीं?
प्रान बसै पद-पंकज में जम आवत है, पर पावत नाहीं॥

इसकी भाषा सुन्दर टकसाली ब्रजभाषा है।

रसखान

भक्त-प्रवर रसखान का जन्म दिल्ली में सं० १५९० (१५३३ ई०) के लगभग एक शाही पठान-वंश में हुआ था। मुगल शासक हुमायूँ के अन्तिम दिनों में दिल्ली की भीषण कलह से ऊब कर सं० १६१२ (१५५५ ई०) में रसखान ब्रज में चले आए। यहाँ भक्त

---

१. भक्तमाल. ४

के वेश में वे घूमते रहे। 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में २४५वीं वार्ता भक्तकवि रसखान की है। उसके अनुसार रसखान गोस्वामी विट्ठलनाथजी के कृपापात्र सेवक हुए। जिन-जिन लीलाओं के दर्शन रसखान को गोवर्धन-स्थित श्रीनाथजी के स्वरूप के हुए, उनके वर्णन उन्होंने काव्यरूप में किए। रसखान की रचनाएँ सरसता और प्रेमोत्कर्ष का मूर्तरूप हैं। वे भक्ति-रस से ओतप्रोत हैं। ब्रज की लता-पताओं और कृष्ण-कन्हैया की मधुर छवि पर उन्होंने अपने को निछावर कर दिया।

रसखान ने सं० १६२७ (१५७० ई०) के बाद गोकुल में विट्ठलनाथजी से वैष्णव धर्म की दीक्षा ग्रहण की। यहाँ उन्होंने तीन वर्ष तक रामचरितमानस की कथा सुनी। सं० १६७१ (१६१४ ई०) में 'प्रेमबाटिका' ग्रन्थ की रचना की, जिसमें ५३ दोहे हैं। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होंने स्फुट सवैये, कवित्त, पद आदि भी लिखे। अब तक की खोज में रसखान के ६६ दोहे, ४ सोरठे, २१५ सवैये, २० कवित्त और ५ पद—इस प्रकार कुल ३१० छंद प्राप्त हुए हैं।[1]

इन भक्तकवि का देहावसान लगभग ८५ वर्ष की अवस्था में सं० १६७५ (१६१८ ई०) के आसपास हुआ। गोकुल और महावन के बीच यमुना के सुरम्य तट पर इनकी सीधी-सादी समाधि निर्मित हुई।

रचना के उदाहरण—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन गानन वेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौ - सुन्यौ कबहूँ न कहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत-हेरत हारि पर्यौ, 'रसखान' बतायौ न लोग-लुगायन।
देख्यौ हुतो वह कुंज - कुटीर में बैठो पलोटत राधिका-पायन॥

---

१. द्रष्टव्य श्री मायाशंकर याज्ञिक का रसखान-सम्बन्धी लेख, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३०३-१७।

एरी आजुकाल्हि कुलकानि सबै त्यागि दोऊ,
सीखे हैं सबै बिधि सनेह सरसाइबो ।
कहै 'रसखान' दिना द्वै में बात फैलि जैहै,
कहाँ लौं सयानी चंद मंदहिं दुराइबो ॥
काल्हि ही निहार्‌यौ बीर कलित कलिंदी तीर,
दोउन कौ दोउन सौं मुरि मुसकाइबो ।
दोऊ परैं पइयाँ, दोऊ लेत हैं बलइयाँ,
उन्हैं भूलि गईं गइयाँ इन्हैं गागरि उठाइबो ॥

चन्द्रसखी

चंद्रसखी के संबंध में विशेष विवरण नहीं मिलता । कुछ इनको स्त्री मानते हैं, कुछ पुरुष । ग्रियर्सन ने इनको पुरुष माना है।[1] ये सं० १५६१ से १६३० तक के कवियों में से एक हैं । 'राग-कल्पद्रुम' में इनके अनेक पद हैं । 'चंद्रसखी भज बालकृष्ण छवि' टेक से यह ज्ञात होता है कि ये कृष्णजी के बालरूप की उपासिका थीं । मीरा का प्रभाव इनकी रचनाओं पर प्रतीत होता है । निम्न-लिखित पंक्तियों में मीरा का भाव है—

कहिये जो कहिबे की होय ।
\+ \+ \+
'चन्द्रसखी' पीर तब ही मिटेगी मिलै साँवरा वैद्य जो मोय ॥

इसमें 'मीरा की प्रभु पीर मिटैगी जब वैद संवलिया होय' की ध्वनि है । चंद्रसखी के नाम से अनेक पद ब्रज के गांवों में लोक-साहित्य के रूप में भी प्रचलित हैं । ब्रज के बाहर, विशेष कर राजस्थान में, इनके नाम के सैकड़ों पद लोक-प्रचलित हैं ।

भक्तिकालीन फुटकर ब्रजभाषा-कवि

इनकी नामावली शुक्लजी के आधार पर यह है—

१. छीहल, २. कृपाराम, ३. महापात्र नरहरि बंदीजन, ४. नरोत्तमदास, ५. महाराज बीरबल, ६. महाराज टोडरमल,

---

१. माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ़ हिंदुस्तान पृ० ३३२ ।

७. गंग, ८. मनोहर कवि, ९. बलभद्र मिश्र, १०. जमाल, ११. केशवदास, १२. होलराय, १३. रहीम, १४. कादिर, १५. मुबारिक, १६. बनारसीदास, १७. सेनापति, १८. पुहकर कवि, १९. सुन्दर, २०. लालचंद, २१. तानसेन, २२. अकबर।

ऊपर की सूची से प्रतीत होता है कि अनेक मुसलमान कवि भी ब्रजभाषा के माधुर्य की ओर आकर्षित हुए। अकबर बादशाह स्वयं ब्रजभाषा में कविता करता था। साथ ही रीति-प्रवृत्ति के बीज भी कृपाराम और केशवदास की रचनाओं में मिलते हैं। उक्त सूची में से कतिपय कवियों का परिचय नीचे दिया जाता है—

कृपाराम

इनके जीवन के संबंध में कुछ विवरण प्राप्त नहीं है। सं० १५९८ (१५४१ ई०) में इन्होंने एक रीति-ग्रन्थ 'हिततरंगिणी' दोहों में बनाया। इसके कई दोहे बिहारी के दोहों से मिलते हैं। 'हिततरंगिणी' के दोहे अत्यन्त सरस हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

लोचन चपल कटाच्छ सर, अनियारे विषपूरि।
मन मृग बेधैं मुनिन के, जगजन सहित बिसूरि॥
आजु सवारे हौं गई, नंदलाल हित ताल।
कुमुद-कुमुदिनी के भट्ट निरखे औरै हाल॥

महापात्र नरहरि वंदीजन

इनका जन्म-संवत् १५६२ (१५०५ ई०) और मृत्यु सं० १६६७ (१६१० ई०) बताया जाता है। अकबर ने इन्हें 'महापात्र' की पदवी दी थी। ये असनी, जिला फतेहपुर के निवासी थे। इन्होंने छप्पय और कवित्त की शैली में काव्य रचा है। इनके तीन ग्रन्थ प्रसद्ध हैं—

१. रुक्मिणीमंगल, २. छप्पयनीति, ३. कवित्त-संग्रह।

इनका एक प्रसिद्ध छप्पय यह है—

अरिहु दंत तिनु धरैं, ताहि नहिं मार सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, वचन उच्चरहिं दीन होइ॥

अमृत-पय नित स्रवहिं, बच्छ महि-थंमन जावहिं।
हिंदुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहिं॥
कह कवि 'नरहरि' अकबर सुनौ विनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहिं मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन॥

सुनते हैं कि अकबर ने इसको सुनकर गोवध बन्द करा दिया था।

आलम

ये मुसलमान कवि थे। सं० १६३९-४० (१५८२-८३ ई०) में 'माधवानल-कामकंदला' की रचना इन्होंने की। शैली दोहा-चौपाई है। इसमें शृङ्गार के तत्त्व अधिक हैं, आध्यात्मिक तत्त्व कम हैं। कवि ने रचना-काल इस प्रकार दिया है—

दिल्लीपति अकबर सुरताना। सप्त दीप में जाकी आना॥
धरमराज सब देस चलावा। हिंदू तुरुक पंथ सब लावा॥
+ + +
सन नौ सै इक्कानवै आही। करौं कथा औ बोलौं ताही॥

यह ९९१ हिजरी सन् है।

टोडरमल

ये अकबर के राज्य में भूमिकर-विभाग के मंत्री थे। इनका जन्म सं० १५८० (१५२३ ई०) में हुआ और मृत्यु सं० १६४६ (१५८९ ई०) में हुई। ये जाति के खत्री थे। इनके नीतिपरक पद्य प्रसिद्ध हैं। कुछ स्फुट कवित्त मिलते हैं। एक कवित्त यह है—

जार को विचार कहा, गनिका को लाज कहा,
गदहा को पान कहा, आँधरे को आरसी।
निगुनी को गुन कहा, दान कहा दारिद को,
सेवा कहा सूम की अरंडन की डार-सी॥
मदपी को सुचि कहाँ, साँच कहाँ लम्पट को,
नीच को वचन कहा स्यार की पुकार-सी।
'टोडर' सुकवि ऐसे हठी तौ न टारे टरें,
भावै कहौ सूधी बात भावै कहौ फ़ारसी॥

बीरबल

प्रयाग के किले के भीतर अशोक-स्तम्भ पर यह लेख खुदा है—"सं० १६३२ शाके १४९३[1] मार्ग बदी ५ सोमवार, गंगादास-सुत महाराज बीरबर श्री तीरथराज प्रयाग की यात्रा सफल लेखितं ।" इनका बचपन का नाम महेशदास था । इनका जन्मस्थान तिकवाँपुर माना जाता है । ये ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे । इनके कई सौ कवित्तों का एक संग्रह भरतपुर में है । इनका कवि-नाम 'ब्रह्म' था । रचना का उदाहरण—

उछरि-उछरि केकी झपटैं उरग पर,
उरग हू केकिन पै लपटैं लहकि है ।
केकिन के सुरति हिए की ना कछू है भए
एकी करि केहरि न बोलत बहकि है ।।
कहै कवि 'ब्रह्म' बारि हेरत हरिन फिरैं,
बैहर बहत बड़े जोर सों जहकि है ।
तरनि के तावन तवा-सी भई भूमि रही,
दसहू दिसान में दवारि सी दहकि है ।।

गंग

ये अपने समय के नर-काव्य करने वालों में सर्वश्रेष्ठ थे । इसीलिए दासजी ने कहा था—

तुलसी गंग दुवौ भए, सुकविन के सरदार ।

ये अकबर के दरबारी कवि थे । जीवन-वृत्त की सामग्री प्राप्त नहीं है । ये ब्रह्मभट्ट प्रसिद्ध हैं । सुना जाता है कि किसी नवाब या राजा की आज्ञा से इन्हें हाथी से कुचलवा दिया गया था । ये बड़े निर्भीक थे । सुनते हैं रहीम ने निम्नलिखित छप्पय पर इन्हें छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे—

चकित भँवर रहि गयो, गमन नहिं करत कमल बन ।
अहि फन मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन बन ।।
हंस मानसर तज्यो, चक्क चक्की न मिलै अति ।
बहु सुन्दरि पद्मिनी पुरुष न चहै न करै रति ।।

---

१. ठीक वर्ष १४९७ होना चाहिए ।

खलभलत्ति सेस कवि 'गंग' भन, अमित तेज रवि रथ खस्यौ।
खानानखान बैरम सुवन, जबहिं क्रोध करि तँग कस्यौ ॥

मनोहर कवि

ये भी अकबर के दरबार में रहा करते थे। ये फारसी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने 'शत-प्रश्नोत्तरी' नामक पुस्तक बनाई। नीति-शृङ्गार के फुटकर कुछ दोहे भी इनके रचित कहे हैं। कविता-काल १६२० (१५६३ ई०) के आगे माना जा सकता है। उदाहरण—

इन्दु बदन नरगिस नयन, संबुल वारे बार।
उर कुंकुम कोकिल बयन, जेहि लखि लाजत मार॥
बिथुरे-सुथुरे चीकने, घने-घने घुघुवार।
रसिकन को जंजीर से, बाला तेरे बार॥

बलभद्र मिश्र

ये ओरछा के निवासी थे और केशवदासजी के बड़े भाई थे। जन्म-काल सं० १६०० (१५४३ ई०) के आसपास माना जाता है। इनका 'नखशिख' ग्रंथ प्रसिद्ध है। अलंकृत शैली में नायिका-निरूपण इसमें है। 'नखशिख' का एक उदाहरण देखिए—

पाटल नयन कोकनद के-से दल दोऊ,
'बलभद्र' बासर उनीदी लखी बाल मैं।
सोभा के सरोवर में बाड़व की आभा कैधौं,
देवधुनी भारती मिली है पुन्य काल मैं॥
काम-कैवरा कैधौं नासिका उडुप बैठो,
खेलत सिकार तरुनी के मुख ताल मैं।
लोचन सितासित में लोहित लकीर मानो,
बाँधे जुग मीन डोर रेसम की लाल मैं॥

जमाल

इनका रचना काल सं० १६२७ अनुमान किया जाता है। इनकी कोई स्वतंत्र रचना नहीं मिलती। केवल शृङ्गार और नीति के कुछ दोहे प्राप्त हैं। कुछ दोहों में पहेलियां भी हैं। उदाहरण—

पूनम चाँद कुसूँभ रँग, नदी - तीर द्रुम-डाल ।
रेत भीत भुस लीपणो, ए थिर नहीं जमाल ।।
रंग जचोल मजीठ का, संत वचन प्रतिपाल ।
पाहण-रेख रु करम गत, ए किमि मिटैं जमाल ।।
जमला ऐसी प्रीत कर, जैसी केस कराय ।
कै काला कै ऊजला, जब तक सिर रयूँ जाय ।।

जमाल के दोहों का प्रचलन राजस्थान की ओर विशेष है। भाषा पर भी कुछ राजस्थानी प्रभाव है।

तानसेन

ये अकबर के दरबार के नवरत्नों में से थे। संगीत के क्षेत्र में इनकी बहुत ख्याति थी। जाति के ये ब्राह्मण कहे जाते हैं। ग्वालियर के रहने वाले थे। सुना जाता है कि पीछे इन्होंने मुसलमान धर्म स्वीकार कर लिया था। इनका रचना-काल सं० १६१७ (१५६० ई०) के लगभग माना जाता है। इनके रचे हुए तीन ग्रन्थ बताए जाते हैं—

१. संगीतसार, २. रागमाला, ३. श्रीगणेश स्तोत्र।

कहा जाता है कि इनकी प्रशंसा में सूरदासजी ने कहा था—

विधना यह जिय जानिकैं, सेसहिं दिए न कान ।
धरा मेरु सब डोलते, तानसेन की तान ।।

तानसेन ने ब्रजभाषा में काव्य भी किया। पर काव्य के क्षेत्र में इनकी इतनी ख्याति नहीं हुई।

रहीम

इनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था। ये बैरामखाँ के पुत्र थे। इनका जन्म-सं० १६१० (१५५३ ई०) है। संस्कृत, अरबी और फारसी के विद्वान् तो थे ही, साथ ही इन्होंने ब्रजभाषा में मार्मिक कविता की है। जहाँगीर के समय तक ये वर्तमान रहे। उस समय इनकी जागीर छीन ली गई। संसार के अनुभवों को काव्य-रस में परिणत कर देना आपकी कविता की सफलता की

कुंजी है। जनता में आज भी रहीम के दोहों का प्रचार है। भाषा पर इनका अधिकार था। ब्रजभाषा और अवधी दोनों भाषाओं में आपने काव्य किया। इनकी शैली में दोहे, बरवै, कवित्त, सवैया, सोरठा, पद आदि हैं। रहीम का देहांत सं० १६८३ (१६२६ ई०) में हुआ। इनका एक ब्रजभाषा पद देखिए—

कमल दल नैनन की उनमानि।
बिसरति नाहिं सखी! मो मन तें मंद-मंद मुसकानि।
बसुधा की बस करी मधुरता, सुधा पगी बतरानि।
मढ़ी रहै चित उर बिसाल की, मुकुतामल थहरानि।
नृत्य समय पीताम्बर हू की, फहर-फहर फहरानि।
अनुदिन श्री वृन्दावन ब्रज तें, आवन-आवन जानि।
अब 'रहीम' चित ते न टरति है, सकल स्याम की बानि॥

कादिर

ये पिहानी (जि० हरदोई) के निवासी थे। इनके गुरु सैयद इब्राहीम थे। इनका जन्म-सं० १६३५ (१५७८ ई०) माना जाता है। इनके फुटकर कवित्त उपलब्ध हैं। इनका एक प्रसिद्ध कवित्त इस प्रकार है—

गुन को न पूछै कोऊ, औगुन की बात पूछै,
कहा भयो दई! कलिकाल यों खरानो है।
पोथी औ पुरान-ज्ञान, ठट्ठन में डारि देत,
चुगुल चबाइन कौ मान ठहरानो है॥
'कादिर' कहत यासों कछु कहिबे को नाहिं,
जगत की रीति देखि चुप मन मानो है।
खोलि देखौ हियौ सब ओरन सों भाँति-भाँति,
गुन ना हिरानो, गुन-गाहक हिरानो है॥

मुबारक

इनका जन्म सं० १६४० (१५८३ ई०) में हुआ था। ये संस्कृत, फारसी, अरबी के विद्वान् थे। हिंदी में भी कविता करते थे। नायिका-भेद पर शृङ्गारिक कविता इन्होंने की। नायिका के दस अंगों को लेकर इन्होंने प्रत्येक अंग पर सौ-सौ दोहे बनाए।

'अलक-शतक' और 'तिल-शतक' इसी के अंतर्गत हैं। इनके अनेक कवित्त-सवैया भी पाए जाते हैं। इनके कुछ दोहे दिए जाते हैं—

परी 'मुबारक' तिय बदन, अलक ओप अति होय।
मनो चद की गोद में, रही निसा-सी सोय॥
चिबुक कूप में मन परयो, छवि जल तृषा विचारि।
कढ़ति 'मुबारक' ताहि तिय, अलक डोरि-सी डारि॥

बनारसीदास

इनका निवास-स्थान जौनपुर था। ये जैन थे। इनका जन्म सं० १६४३ (१५८६ ई०) में हुआ। सं० १६९८ (१६४१ ई०) तक का अपना जीवन-वृत्त इन्होंने 'अर्द्ध कथानक' में दिया है। पहले ये शृङ्गार-रस की कविता करते थे, पीछे ज्ञानोपदेश और जैनधर्म-संबंधी रचनाएँ आरम्भ कर दीं। ब्रजभाषा-गद्य में भी इन्होंने कुछ उपदेश लिखे। इनकी निम्नलिखित मुख्य रचनाएँ हैं—

१. बनारसी विलास, २. मोक्षपदी, ३. नाटक समयसार, ४. ध्रुव वंदना, ५. नाममाला, ६. कल्याण-मंदिर, ७. अर्द्ध कथानक. ८. वेद-निर्णय, ९. बनारसी पद्धति तथा १०. मारगन विद्या।

इनकी कविता का एक उदाहरण—

भोंदू! ते हिरदय की आँखैं।
जे सरबै अपनी सुख सम्पति भ्रम की संगति भाखैं॥
जिन आँखिन सों निरखि भेद-गुन ज्ञानी ज्ञान विचारैं।
जिन आँखिन सों लखि सरूप मुनि ध्यान धारना धारैं॥

केशवदास

इनका जन्म सं० १६१२ (१५५५ ई०) में हुआ और मृत्यु सं० १६७४ (१६१७ ई०) के आसपास हुई। ओरछा-नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह की सभा में ये रहते थे। इनके घराने में संस्कृत के पंडित होते आए हैं। इन्होंने काव्यशास्त्र पर ग्रंथ लिखे। ये अलंकारवादी थे—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न विराजई, कविता बनिता मित्त॥

इन्होंने प्राचीन आचार्य भामह, दंडी आदि का अनुसरण किया। केशव के ७ ग्रंथ बताए जाते हैं—

१. कविप्रिया, २. रसिकप्रिया, ३. रामचंद्रिका, ४. वीरसिंहदेव चरित, ५. विज्ञानगीता, ६. रतन बावनी, ७. जहांगीर-जस चंद्रिका।

इनकी एक कविता देखिए—

चंचल न हूजै नाथ, अंचल न खैंचौ हाथ,
सोवै नेक सारिकाऊ, सुक तौ सोवायो जू।
मंद करौ दीपदुति, चन्द्रमुख देखियत,
दारिकै दुराय आऊँ द्वार तो दिखायो जू॥
मृगज मराल बाल बाहिरै बिडारि देऊँ,
भायौ तुम्हैं 'केशव' सो मोहू मन भायो जू।
छल के निवास ऐसे वचन विलास सुनि,
सौगुनो सुरत हू तें स्याम सुख पायो जू॥

सेनापति

ये अनूपशहर के रहने वाले थे और कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १६४६ (१५८९ ई०) के आसपास माना जाता है। इनका ऋतु-वर्णन प्रसिद्ध है। आपका एक कवित्त इस प्रकार है—

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय कै।
सोभा सरसाने न बखाने जात कैहूँ भाँति,
आने हैं पहार मानों काजर के ढोय कै॥
घन सों गगन छप्यो, तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानो रवि गयो खोय कै।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि,
मेरे जानि याही ते रहत हरि सोय कै॥

'शिवसिंह सरोज' के अनुसार पीछे इन्होंने क्षेत्र-संन्यास ले लिया था। भक्तिभाव से पूर्ण अनेक कवित्त 'कवित्त-रत्नाकर' में मिलते हैं। एक यह है—

महा मोह-कंदनि में जगत-जकंदनि में,
दिन दुख ददनि में जात है विहाय कै ।
सुख को न लेस है कलेस सब भांतिन को,
'सेनापति' याही ते कहत अकुलाय कै ।।
आवै मन ऐसी घरबार परिवार तजौं,
डारौं लोकलाज के समाज बिसराय कै ।
हरिजन - पुंजनि में वृन्दावन - कुंजनि में,
रहौं बैठि कहूँ तरवर-तर जाय कै ।।

अकबर

अकबर बादशाह की ब्रजभाषा-कविता प्रसिद्ध है । विशेषत: दोहे मिलते हैं ।[1] अकबर का एक दोहा इस प्रकार है—

जाको जस है जगत में, जगत सराहै जाहि ।
ताको जनम सफल है, कहत अकब्बर साहि ।।

अकबर ने अपनी वृद्धावस्था में अपने निकट के मित्रों की मृत्यु के सम्बन्ध में एक दोहा यह लिखा—

पीथल सें मजलिस गई, तानसेन सें राग ।
हँसिबौ, रमिबौ, बोलिबौ गयौ बीरबल साथ ।।

'अकबर' के नाम से अनेक दोहे और सवैये भी प्रसिद्ध हैं ।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भक्तियुग ब्रजभाषा-काव्य का निस्संदेह स्वर्णयुग कहा जा सकता है । इस युग में भक्तकवियों ने अपनी भक्तिरसपूर्ण वाणी की कला का सौंदर्य बिखेरा । मानव-जीवन के आध्यात्मिक पक्ष की अनेक गुत्थियों को उन्होंने सरल भाषा में सुलझाया । दूसरी धारा लौकिक कवियों की है, जिसमें काव्य-शास्त्र, चरित्र, नीति, शृङ्गार आदि की रचनाएँ आती हैं । हिंदुओं ने ही नहीं, अनेक मुसलमान कवियों ने भी ब्रजभाषा को सम्पन्न बनाया । यद्यपि ब्रजभाषा में अनेक पौराणिक कथानकों को गूँथा गया, पर राधाकृष्ण का कथानक सिरमौर रहा । आगे के युगों में ब्रजभाषा इसीलिए काव्य का प्रमुख माध्यम बनी रही ।

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, भाग १, छठा संस्करण ।

ब्रजभाषा का रीतिकालीन साहित्य

पं० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार सं० १७०० से १६०० (लगभग १६४३ से १८४३ ई०) तक रीतिकालीन प्रवृत्ति का बोल-बाला रहा । राजनैतिक दृष्टि से मुगल-साम्राज्य के क्रमशः पतन और विनाश का यह युग था । सामाजिक व्यवस्था सामन्तीय भित्ति पर आधारित थी । राजा-रईस तथा अन्य उच्च वर्ग के लोग भोग का जीवन व्यतीत कर रहे थे । उच्च वर्ग विद्वानों, कवियों और कलावंतों को भी प्रश्रय देता था । ये प्रायः सभी उच्च वर्ग के अनु-गामी हो गए थे । शाहजहाँ के पश्चात् राज्याश्रय का द्वार इन कवियों के लिए बन्द हो गया । औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् विकेन्द्रीकरण आरम्भ हुआ । कवि विभिन्न राजाओं, नवाबों के दरबारों की ओर आश्रय के प्रलोभन से चल पड़ा था । शाहजहाँ का राज्यकाल वैभव-विलास का काल था । अतः कवि उस वैभव-विलास से परिवेष्टित हुआ । जवाहरात से जगमग बेगमों के वाता-वरण को कवि अपनी आँखों से देखता था । अमीरों और उच्च कर्मचारियों के जीवन में भी ऐश्वर्यपूर्ण विलास छन कर आ रहा था । उस समय के ऐश्वर्य और विलास की झाँकी पद्माकर के निम्नलिखित छंद से मिल सकती है—

गुलगुली गिलमें, गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चाँदनी हैं, चिक हैं, चिरागन की माला हैं ।
कहै 'पद्माकर' त्यों गजक गिजाएँ सजीं,
सेज हैं, सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं ॥
शिशिर के पाला कौ न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं ।
तान-तुक ताला हैं, विनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं, दुसाला हैं, बिसाला चित्रसाला हैं ॥

(जगद्विनोद)

'गुणीजन' की स्थिति कितनी बिचित्र थी ! वह विलास-आमोद का एक साधन-मात्र था ।

हिंदू राजाओं की राजनैतिक पराजय विलास में क्षति-पूर्ति खोजती थी। हीनता का मूलबद्ध भाव प्रदर्शन की शरण लेता था। नैतिक पतन इंद्रिय-लिप्सा की शान्ति के औचित्य का विचार नहीं करने देता था। भ्रष्टाचार ही इस विलास के अपव्यय का साथ दे सकता था।

मधुर भक्ति धार्मिक जीवन का अंग बन चुकी थी, जिससे समाज का कुछ अंशों में पतन होना स्वाभाविक था। वैष्णव-सम्प्रदाय भी वैभव की आग से वंचित न रह सके। जनता की अपेक्षा ये सम्प्रदाय श्रीमानों से दीक्षा-सम्पर्क स्थापित कर रहे थे। माध्व, निम्बार्क, चैतन्य-मतों की लीलासक्ति और राधा-भावना विलास की संकीर्ण गलियों की ओर अग्रसर होने लगी थीं। रूप गोस्वामी ने कृष्णभक्ति-परक नायिका-भेद प्रस्तुत कर ही दिया था। देवदासियाँ मंदिरों के वातावरण में एक लौकिक रस घोलने लगीं।

कला भी पतन की संगिनी होकर रही। प्रत्येक ललित कला में स्त्री का विलासमय सौदर्य छलक रहा था। रुचि का परिष्कार पतन के वातावरण में संभव नहीं था; अतः कुरुचिपूर्ण कला-विलास वाह्य रूप से पूर्ण उन्नति कर रहा था। आत्मास्थानीय रस अपने विशुद्ध रूप में स्थित न रह कर अश्लील शृङ्गारिकता के रूप में परिणत हो रहा था। काव्य में प्रायः विलास-विधान था, जिसके अन्तर्गत नायिका केन्द्र थी, नायक उसके प्रेम का साधक था, रति-रस की उपलब्धि की काम-शास्त्रीय योजनाएँ उसकी ऐन्द्रिक लिप्सा में वृद्धि करती थीं, दूतियाँ नायक-नायिका के बीच वासना जागृत करती थीं। इस प्रकार का विधान काव्य में स्थान पाने लगा। व्यावहारिक विलास के साथ मानसिक विलास भी चिपका हुआ था। मानसिक विलास के दो रूप थे—नायिका के अंग-प्रत्यंगों का शिख-नख चित्रण और काव्यरीति की शिक्षा तथा उसका उपयोग। अमीरों का प्रेय विलासरत रहने के अतिरिक्त कुछ नहीं था। मानसिक व्यभिचार अवकाश और शक्ति का पतनोन्मुख उपयोग ही था। इस वातावरण में रीतिकालीन ब्रजभाषा-काव्य पला-पनपा।

रीतिकालीन ब्रजभाषा-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

भक्ति-काल में ब्रजभाषा समस्त मधुर, उज्ज्वल और परकीया-प्रेम पर आश्रित भक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम रह चुकी थी। गुह्य और रहस्य-लीलाओं से युक्त साधना का समावेश भी ब्रजभाषा-काव्य में हो गया था। राधाकृष्ण-निकुंजकेलि की मधुरिमा से ब्रजभाषा के समस्त अंग आप्लावित हो चुके थे। साथ ही प्रेम-शृङ्गार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गतिविधि की अभिव्यक्ति के लिए इस भाषा ने उपयुक्तता प्राप्त कर ली थी। अतः परवर्ती काल में रीति-शृङ्गार की प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा पूर्ण सूक्षम मानी गई। ब्रज के कवियों ने ही नहीं, उत्तरी भारत के राज-दरबारों से संबंधित प्रायः सभी कवियों ने ब्रजभाषा को अपनाया।

इस युग की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति शृङ्गारिकता की है। इसके लिए परिस्थितियां और परम्परा दोनों ही उत्तरदायो हैं। शृङ्गारिकता को जन्म देने वाली परिस्थितियों का कुछ वर्णन ऊपर हो चुका है। समस्त विलास-जाल नारी के वाह्य रूप पर केन्द्रित हुआ। नारी की सर्वाङ्गीण स्थूल उपासना सामाजिक पतितोन्मुखता के कारण है। परम्पराओं में सबसे अधिक प्रासंगिक कृष्णभक्ति-परम्परा है। यह एक स्वर्णावरण था, जिसमें विलास की नग्नता छिपी रह सकती थी। इधर फारसी साहित्य की इश्कबाजी भी दृढ़ स्थान प्राप्त कर रही थी। संस्कृत और प्राकृत की शृङ्गार-परक ऐहिक रचनाएँ भी एक दृढ़ परम्परा की कड़ियाँ थीं। कृष्णभक्ति की परकीया-नायिका वाली परम्परा में नैतिक स्वीकृति प्राप्त थी। अतः कामपूर्ण शृङ्गारिकता की अभिव्यक्ति के लिए स्वच्छंदता भी मिल गई। शारीरिक रूप-सौंदर्य ही शरीर-सुख का आधार बना। मधुर भक्ति-विधान में शारीरिक सौंदर्य प्रेम की एकनिष्ठता से अनु-प्राणित था। रीतिकाल में वाह्यरूप-सज्जा विलासी रसिकता से अनुप्रेरित हुई। परिणामतः सौंदर्य-भावना विषयगत हो गई। सौंदर्य नयनों का व्यापार बना। देव के शब्दों में—

धार में धाय धँसीं निरधार ह्वै, जाय फँसीं उकसी न उघेरी ।
री अँगराय गिरीं गहरी, गहि फेरि फिरीं न, घिरीं नहिं घेरी ।।
'देव' कछू अपनो बस ना, रस लालच लाल चितै भईं चेरी ।
बेगि ही बूड़ि गईं पंखियाँ, अँखियाँ मधु की मँखियाँ भईं मेरी ।।
(प्रेमचंद्रिका)

दूसरी मुख्य प्रवृत्ति नायिकाभेद की है । इसका स्रोत साहित्य-शास्त्र नहीं, नाट्य-शास्त्र है । नाट्यशास्त्रों में शील, मर्यादा, रूप आदि के आधार पर नायक-नायिकाभेद मिलता है । भरत ने प्रकृति, अवस्था, जीवन-विधि (स्वकीयात्व, परकीयात्व आदि) अन्तःपुर की स्थिति के आधार पर नायिकाओं का वर्गीकरण किया है ।[1] धनंजय ने इस भेद को विस्तृत किया, कुछ नवीनता भी जोड़ी । धीरादि भेद भी धनंजय ने अपने ग्रन्थ 'दशरूपक' में कर दिए । फिर क्षेमेन्द्र, केशव मिश्र और विश्वनाथ ने नायिकाभेद को पुष्ट किया । रुद्रभट्ट के 'शृङ्गार-तिलक' में शृङ्गार को मुख्य रस माना गया है । इसमें संयोग, वियोग, नायक-नायिका, कामदशा, मानमोचन के उपाय आदि की व्याख्या है । भोज के 'शृङ्गार-प्रकाश' की भी यही शैली रही । फिर इस प्रकार के ग्रन्थों की परम्परा बन गई । भानुदत्त ने 'रस-तरंगिणी' और 'रस-मंजरी' में नायिका-भेद को सर्वांगीण बना दिया । इन्हीं ग्रन्थों के प्रतिरूप 'भाषा' में कृपाराम की 'हिततरंगिणी' तथा नंददास की 'रस-मंजरी' के रूप में हुए । फिर तो भाषा में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ । नायिकाभेद का उदात्तीकृत रूप रूपगोस्वामी ने प्रस्तुत किया । शृङ्गार के अंग-उपांगों की भक्तिपरक व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत की । इस व्याख्या से माधुर्य भाव से संयुक्त भक्ति-पथ प्रभावित रहा । रीतिकाल के कवियों को यह विरासत प्राप्त हुई । परिस्थितियों ने नारी के इस वर्गीकरण को लोकप्रिय बना दिया । रीतिकाल में नारी के इसी वर्गीकरण का अनुसरण कितने ही कवियों ने किया ।

---

१. भरत, नाट्यशास्त्र, अध्याय २२ ।

इस युग की तीसरी प्रमुख प्रवृत्ति आचार्यत्व की है। संस्कृत-प्राकृत में काव्यशास्त्र के आचार्यों की एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है। काव्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यों से भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का प्रवर्तन हुआ था। मम्मट इन सम्प्रदायों के समन्वय करने वाले के रूप में प्रतिष्ठित हैं। हिंदी के कवियों के लिए मौलिक रूप से विचार करने को कुछ रह नहीं गया। इनके आचार्यत्व-प्रदर्शन में पांडित्य का प्रलोभन भी एक कारण था। साथ ही इनका अभीष्ट श्रोता-वर्ग रसिक तो था ही, उस रसिकता की पूर्णता के लिए कुछ काव्य-शिक्षा की भी उसे अपेक्षा थी। अतः रीतिकालीन आचार्यत्व में शास्त्रीय सूक्ष्मता कम और सामान्य शिक्षा तथा रसिकता अधिक है।

हिंदी के रीति-ग्रन्थों की निरूपण-शैली पर डा० नगेन्द्र का यह कथन स्पष्ट है—हिंदी के रीति-ग्रन्थों में प्रायः तीन प्रकार की निरूपण-शैली काम में लाई गई है–(१) काव्य-प्रकाश का निरूपण शैली, जिसमें काव्य के सभी अंगों पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला गया है; (२) श्रृंगार-तिलक, रसमंजरी आदि की श्रृंगार-रसमयी नायिकाभेद वाली शैलो, जिसमें केवल श्रृंगार के विभिन्न अंगों—विशेष कर नायिका के भेद—का ही निरूपण किया गया है; (३) चंद्रालोक की संक्षिप्त अलंकार-निरूपण शैली, जिसमे अलंकारों के ही संक्षिप्त लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं।[1] इनमें पहली श्रेणी के ग्रन्थ ये हैं—

१. सेनापति—काव्य कल्पद्रुम।
२. चिंतामणि—कविकुलकल्पतरु और काव्यविवेक।
३. कुलपति मिश्र—रस-रहस्य।
४. देव—काव्य-रसायन।
५. सूरति मिश्र—काव्य-सिद्धांत।
६. श्रीपति—काव्य-सरोज।

---

१. रीति-काव्य की भूमिका, पृ० १४८-१४६।

७. दास—काव्य-निर्णय ।

८. सोमनाथ—रसपीयूषनिधि ।

९. कुमारमणि भट्ट—रसिक-रसाल ।

१०. रतनकवि—फतेहभूषण ।

११. करनकवि—साहित्यरस ।

१२. प्रतापसाहि—काव्य-विलास ।

१३. रसिकगोविंद—रसिकगोविंदानंदघन ।

द्वितीय श्रेणी के अंतर्गत निम्नलिखित ग्रन्थ आते हैं—

१. केशव—रसिकप्रिया ।

२. मतिराम—रसराज ।

३. सुखदेव मिश्र—रस रत्नाकर, रसार्णव ।

४. देव—भावविलास, रसविलास, भवानीविलास आदि।

५. कवीन्द्र—रस-चंद्रोदय ।

६. दास—रस-निर्णय ।

७. तोष—सुधानिधि ।

८. बेनी प्रवीन—नवरसतरंग ।

९. पद्माकर—जगद्विनोद ।

तृतीय श्रेणी की रचनाएँ कम हैं । इसमें दो ग्रन्थ ही मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं—

१. करनेस—श्रुतिभूषण ।

२. जसवंतसिंह—भाषाभूषण ।

कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें लक्षणों की अपेक्षा उदाहरणों को अधिक महत्व दिया गया है। ऐसे ग्रन्थों के कर्ताओं का लक्ष्य किसी चरित्रनायक या अन्य किसी विषय का निरूपण था । लक्षण-विधान मात्र प्रवृत्ति का अनुकरण है। ऐसे ग्रन्थ ये हैं—

१. मतिराम—ललितललाम ।

२. भूषण—शिवराजभूषण ।

३. रघुनाथ—रसिकमोहन ।

४. दूलह—कविकुलकंठाभरण।
५. दत्त—लालित्यलता।
६. ग्वाल—रसिकानंद।
७. प्रतापसाहि—अलंकार चिंतामणि।

रीतिकालीन कवियों में धर्म और भक्ति का भी पुट मिलता है। पर उसमें वास्तविकता नहीं, केवल रूपाभास-मात्र है। कृष्ण और राधिका, जो मधुर भक्ति के आलंबन थे, रीतिकालीन कवियों के भी नायक-नायिका बने। पर उनके प्रति दृष्टिकोण आध्यात्मिक नही था। भक्ति और शृङ्गार को मिलाकर मधुर भक्ति का रूप खड़ा हुआ था। रीतिकाल में शृंगारिकता प्रमुख होगई और भक्ति एक बहाना मात्र। शृंगारिकता के साथ भक्ति का क्या महत्व था, इसको डा० नगेन्द्र ने यों स्पष्ट किया है—"इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी न किसी रूप में उसका आँचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति-भावना से हीन नहीं है—हो ही नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी उनके विलास-जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते[१]।"

अलंकार की प्रवृत्ति भी इस काल के काव्य में प्रबल है। भाषा की शक्तियों की खोज और उनका विकास, अलंकारों का कभी रूढ़िगत, कभी मौलिक प्रयोग और गुणों की व्यवस्था तत्कालीन काव्य की एक प्रमुख विशेषता है।

आश्रयदाता की प्रशंसा भी एक प्रवृत्ति थी। पठान बादशाहों ने हिंदी के कवियों को राज्याश्रय प्रदान नहीं किया।[२]

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १८०।
२. ईश्वरीप्रसाद, मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास, पृ० २५३।

अकबर ने अनेक हिंदू कवियों को आश्रय या संरक्षण दिया। छोटे-छोटे पराधीन हिंदू राजाओं के दरबारों में भी कवि की स्थिति महत्वपूर्ण हुई। राज्याश्रय के साथ ही अत्युक्तिपूर्ण राजप्रशस्ति भी स्वाभाविक ढंग से संलग्न रहती है। प्राकृतजन की प्रशंसा में कवि-कल्पना प्रवृत्त हुई। पर यह राजप्रशस्ति रीतिकाल पर छा नहीं गई। स्वतंत्र काव्य-रचना के लिए भी अवकाश बना रहा। साथ ही आश्रयदाता के दानशीलता आदि शाश्वत गुणों का बखान यदि राजा के नाम को निकाल दिया जाय तो उचित ही दीखता है। पर अतिशयोक्ति का संयोग कभी-कभी हास्यास्पद हो जाता है। यथार्थ के अभाव में अतिशयोक्ति का आधार लेना कवियों के लिए आवश्यक हो गया। सेना और युद्धवीरता का वर्णन परंपरा-पालन के अतिरिक्त और कुछ नहीं। रीतिकालीन काव्य का यह एक थोथा अंग है।

हिंदी रीतिकाव्य की परंपरा

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में ऐहिकता-परक शृङ्गार-मुक्तकों की परंपरा अपना एक प्रमुख स्थान रखती है। हाल की 'सत्तसई' प्राकृत में तथा अमरुक का 'अमरु-शतक' और गोवर्धन की 'आर्या-सप्तशती' संस्कृत में बनीं। जयवल्लभ और हेमचंद्र ने भी काव्यक्षेत्र में इस प्रकार के मुक्तकों का प्रयोग किया। मुंज के दोहे अपभ्रंश और हिंदी के बीच की कड़ी हैं। इस प्रकार के ऐहिक मुक्तकों के अतिरिक्त स्तोत्रों के रूप में भी भक्ति-परक मुक्तक चले।[1] इनमें प्रेरणा भक्ति की है और रूप शृङ्गारिक है। बंगाल और बिहार में राधाकृष्ण-संबंधी अनेक मुक्तक बने। चंडीदास, जयदेव, विद्यापति के नाम इस दृष्टि से उल्लेख्य हैं। इस प्रकार के भक्तिशृंगारयुक्त मुक्तकों के विषय और उनकी शैली का स्पष्ट प्रभाव हिंदी के भक्तिकालीन साहित्य पर दीखता है। रीतिकालीन मुक्तकों पर मिलित प्रभाव द्रष्टव्य है।

---

१. दुर्गा सप्तशती, चंडीशतक, वक्रोक्ति पंचाशिका. कृष्णलीलामृत आदि।

हिंदी में विद्यापति के काव्य में कुछ रीति-संकेत मिलता है। उनके काव्य पर शृंगारिकता, स्तोत्र-प्रवृत्ति, नायिका-निरूपण और अलंकरण का प्रभाव स्पष्ट दीखता है। उस समय हिंदी में अनेक रीति-ग्रन्थों का प्रचलन था। कृपाराम की 'हिततरंगिणी' इसी प्रकार की एक रचना है।[1] कृपाराम ने अपने से पूर्व दीर्घ-वृत्तों में रचित रीतिग्रन्थों का उल्लेख किया है—

बरनत कवि सिंगार - रस, छन्द बड़े बिस्तारि।
मैं बरन्यों दोहान बिच, यातें सुघरि बिचारि॥

हिततरंगिणी नायिका-भेद का लक्षण-ग्रन्थ है। सूर इनके समकालीन थे। जयदेव, विद्यापति और कृपाराम के नायिका-भेद की शैली का प्रभाव सूर पर भी है। अनेक स्थलों पर सूर के रीतिग्रथित चित्र अनुपम हैं। सूर की खंडिता का वर्णन इन पंक्तियों में है—

तहँइ जाहु जहँ रैनि बसे।
अरगज अङ्ग मरगजी माला, वसन सुगन्ध भरे से हैं।
काजर अधर कपोलनि चन्दन लोचन अरुन ढरे से हैं॥

'साहित्य-लहरी' ग्रंथ यदि प्रामाणिक है तो वह भी अलंकार-ग्रंथ प्रतीत होता है। तुलसी का 'बरवै रामायण' भी अलंकृत शैली में है। रहीम का 'बरवै-नायिकाभेद' तो स्पष्ट रीतिग्रंथ है। नंददास की 'रसमंजरी' भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर बनी है—

रसमंजरि अनुसारि कै, नंद सुमति अनुसार।
वरनत वनिता-भेद जहँ, प्रेमसार बिस्तार॥

रहीम ने केवल उदाहरणों की संयोजना की है और नंददास ने केवल लक्षण दिए हैं।

यह तो पूर्वाभास है। हिंदी की रीतिकालीन प्रवृत्ति का विधिवत् व्यवस्थित रूप आचार्य केशवदास से आरम्भ होता है।

---

१. सिधिनिधि शिवमुख चंद्र लखि, माघ शुद्ध तृतियासु।
हिततरंगिणी हों रची, कवि हित परम प्रकासु॥

केशवदास

शुक्लजी ने भक्तिकालीन कवियों के साथ केशव का परिचय दिया है। पर उनके काव्य का पूरा मूल्यांकन भक्त कवियों के साथ नहीं हो सकता। अतः रीतिकाल के आदि आचार्य के रूप में उनकी प्रतिष्ठा होनी चाहिए। केशवदास संस्कृत-साहित्यशास्त्र के प्रकांड पंडित थे। हिंदी में इनसे पूर्व के रीतिग्रन्थ इस प्रकार हैं—

कृपाराम कृत हिततरंगिणी,
मोहनलाल मिश्र कृत शृङ्गारसागर,
करनेस कवि कृत कर्णाभरण, श्रुतिभूषण, भूपभूषण।

केशवदासजी के ग्रंथों में 'रामचंद्रिका' मुख्य है। इस ग्रन्थ में रामचरित वर्णित है। इसमें पिंगल का मुख्य विधान है। 'वीरसिंहदेव-चरित' में चरित्र कम, पर दान-लोभ आदि का रूपकात्मक संवाद अधिक है। 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' रस-अलंकार-ग्रन्थ हैं। 'विज्ञानगीता' संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक के ढंग की पुस्तक है। 'रतनबावनी' में इंद्रजीत के बड़े भाई रत्नसिंह की वीरता का छप्पय-शैली में वर्णन है। 'रसिकप्रिया' इनकी प्रथम रचना है, जिसमें आचार्यत्व की अपेक्षा उमंग अधिक है। 'रामचंद्रिका' छंद-शिक्षा का-सा ग्रन्थ है—

रामचन्द्र की चन्द्रिका, बरनत हौं बहु छन्द।

'कविप्रिया' में प्रौढ़ आचार्यत्व है। इसमें प्रमुखतः सिद्धांत-प्रतिपादन है। प्रवीणराय वेश्या के लिए इसकी रचना हुई।[१] इसका उद्देश्य था काव्य-रचनाविधि की शिक्षा।[२] आचार्य शुक्लजी ने केशव को अलंकारवादी आचार्य माना है।[३] इस दृष्टि से केशव दंडी आदि प्राचीन आचार्यों के अनुयायी हैं। केशव के अनुसार अलंकार नग्नत्व दोष को दूर करने वाले होते हैं। वस्त्र और भूषण

---

१. ताके काज कविप्रिया, कीन्ही केशवदास। १, ६१।
२. समझैं बाला बालकहु, वर्णन पंथ अगाध। ३, १।
३. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २३६।

(१६०६ ई०) के लगभग और रचनाकाल सं० १७०० (१६४३ ई०) के लगभग माना है।[१] चिंतामणि ने नागपुर के सूर्य वंशी राजा मकरन्दशाह के आश्रय में अपना ग्रन्थ पिंगल बनाया—

चिंतामनि कवि को हुकुम, किये साहि मकरन्द।
करौ लच्छि लच्छन सहित, भाषा पिंगल छन्द॥

'छन्द विचार' भी इन्हीं के आश्रय में बना। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है—

रामायण, काव्यविवेक, शृङ्गारमंजरी, रसमंजरी, काव्यप्रकाश तथा कविकुलकल्पतरु।

'शृङ्गारमंजरी' 'रसमंजरी' की शैली पर है। इसमें लक्षणों की सरल व्याख्या है। इस ग्रन्थ की रचना शाहिराज के पुत्र साहिब अकबर साहि के लिए हुई। ये मकरन्द साहि के वंशज थे। इस ग्रन्थ में नायिका-भेद का सूक्ष्म विचार है। अनेक स्थानों पर अपने निजी मत का भी स्थापन है। इसका सबसे महत्वपूर्ण अंश गद्य में लिखी चर्चा है। सामान्या नायिका की चर्चा इस प्रकार है—

"अथ सामान्या निरूपणं चर्चा ग्रन्थ। रस मंजरी का चित्र मात्रोपधिक सकल पुरुषानुरागा सामान्या। यह सामान्या को लक्षन लिख्यौ है। यामें शंका। चित्तोपधिक जो अनुराग सो अनुराग न कहावै ताते सामान्या में यह लक्षन कौ असम्भव रूप दोख होतु है।"

शृङ्गार रस की चर्चा का आरम्भ इस प्रकार से किया गया है—

"......शृङ्गार सो द्वै भाँति एक लौकिक दूसरौ अलौकिक। लौकिक नायिका-नायक में प्रगट होतु है। अलौकिक काव्य-नाट्य को सामाजिकन में प्रकाशित है। सो कैसे, यह जो कोऊ हेत पूछै

१. मिश्रबन्धुविनोद, भाग २, पृ० ४०८; हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २६२।

तौ यह कहिए लौकिक संभाषणादि वाक्यांतर संभोग करि पारवश्य कर सुखोत्पत्ति नायिका-नायक ही के होति है······[1]

'कविकुलकल्पतरु' में प्रायः सभी काव्यांगों पर प्रकाश डाला गया है। कवि रस-सिद्धांत के अनुयायी जान पड़ते हैं। काव्य की परिभाषा भी रस-परक है—

बतकहाउ रस में जु है, कवित कहावै सोय।

अलङ्कार व्यंग्य का एक उदाहरण देखिए—

बाजे जब बाजे महा मधुर नगर बीच, नागरिनि निखिल ललकि अकुलाई है।
'चिंतामनि' कहै अति परम ललित रूप, अटा पर दूलह विलोकन को आई है॥
फैली महलनि मनि-मेखला झनक महामनि नूपुरन की निनादन की झाईं है।
पहिले उज्यारी तन भूषन मयूषन की, पाछे ते मयंकमुखी झरोखनि छाई है॥

महाराजा जसवन्तसिंह

महाराजा जसवन्तसिंह मारवाड़ के प्रतापी हिन्दू राजा थे। इनका जन्म सं० १६८३ (१६२६ ई०) में हुआ और मृत्यु सं० १७३५ (१६७८ ई०) में हुई। ये बड़े साहित्य- मर्मज्ञ थे। महाराज ने अन्य विद्वानों से भी अनेक ग्रन्थ लिखाए। इनकी प्रसिद्ध रचना 'भाषा-भूषण' में शुद्ध अलङ्कारों के लक्षण और उपयुक्त उदाहरण दिए गए हैं। इसका रचना-काल वि० अठारहवी शती का प्रारम्भ है। इसके विषय इस प्रकार हैं–रस-विवेचन, नायक-भेद, नायिका के जाति-भेद, अवस्था-भेद, परकीया के छह भेद, नायिकाओं के नौ भेद, मान, सात्विक भाव, दस भाव, विरह की दस दशाएं, रस, स्थायी भाव, उद्दीपन, आलम्बन विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव। द्वितीय प्रकरण में भेदों सहित १०८ अलङ्कारों का वर्णन है।[2]

इसकी शैली 'चन्द्रालोक' की है। इस पर सात प्राचीन

---

१. डा० भगीरथ मिश्र द्वारा 'हिन्दी-रीति-साहित्य', पृ० ७१ पर उद्धृत।

२. अलङ्कार सब्दार्थ के, कहे एक सौ आठ।
किए प्रगट भाषा-विषै, देखि संस्कृत पाठ॥

टीकाएँ उपलब्ध हुई हैं। इसकी रचना का हेतु इस प्रका
बताया गया है—

ताही नर के हेतु यह, कीन्हों ग्रन्थ नवीन।
जो पंडित भाषा निपुन, कविता-विषै प्रवीन॥

इसमें प्रधानता अलङ्कारों की ही है[1]। इसके लेखन
'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' का आधार मुख्य रूप से तथा अन
संस्कृत ग्रन्थों का सामान्यतः लिया गया है। अलङ्कारों के उदाहर
स्वतन्त्र भी हैं। ये उदाहरण लेखक की काव्य-प्रतिभा दिखाने व
पर्याप्त हैं। अलङ्कार-क्षेत्र का यह अत्यन्त उपादेय छायाग्रन्थ हो
हुए भी इसकी मौलिकता लुप्त नहीं हुई। लक्षण कसे हुए त
उदाहरण उपयुक्त हैं।

महाराज जसवन्तसिंह आचार्य अधिक और कवि कम हैं।

बिहारीलाल

ये माथुर चौबे थे। इनका जन्म 'बिहारी बिहार' के अ
सार ग्वालियर में सं० १६५२ (१५९५ ई०) में हुआ था।
शुक्लजी ने इनका जन्म सं० १६६० (१६०३ ई०) के लगभ
माना है[3]। इनका बाल्य-काल बुंदेलखंड में बीता, तरुणावस्थ
मथुरा में व्यतीत हुई। मथुरा में इनकी ससुराल थी। आमेर
मिर्जा राजा जयसिंह इनके आश्रयदाता थे। इनका देहांत सं
१७२१ (१६६४ ई०) के लगभग हुआ।

इन्होंने 'बिहारी सतसई' की रचना राजा जयसिंह
आज्ञानुसार की। उनकी केवल यही रचना उपलब्ध है। इस
रचना-काल सं० १७०४ (१६४७ ई०) के लगभग है[4]। इस
अनेक टीकाएँ हुई हैं।[5]

---

१. अलङ्कार-संजोग ते 'भाषा भूषन' नाम।
२. ना० प्र० पत्रिका, भाग ८, अङ्क २, पृ० १२६-१३०।
३. हिं० सा० का इतिहास, पृ० २४६।
४. ना० प्र० पत्रिका, भाग ८, अङ्क २२, पृ० १५१।
५. श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने इसकी ५० टीकाओं का उल्लेख किया है

बिहारी का ब्रज भाषा पर पूर्ण अधिकार था। इनमें शृंगार रस का प्राधान्य है। भाव की विशदता और गम्भीरता को कम से कम सुष्ठु शब्दों में व्यक्त कर देना बिहारी का कौशल है। यही 'देखत में छोटे लगें घाव करें गंभीर' का रहस्य है। प्रेम चेष्टाओं का इतना गम्भीर, मौलिक, सूक्ष्म और मर्मस्पर्शी चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है नीचे कुछ दोहे उदाहरणस्वरूप दिए जाते हैं—

छला छबीले लाल कौ, नवल नेह लहि नारि।
चूँबति चाहति लाइ उर, पहिरति धरति उतारि॥
उड़त गुड़ी लखि ललन की, अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह॥
भेटत बनै न भावतो, चितु तरसत अति प्यार।
धरति लगाइ लगाइ उर, भूषन बसन हथ्यार॥
कर लै चूमि चढ़ाइ सिर, उर लगाइ भुज भेटि।
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति धरति समेटि॥

बिहारी के काव्य का कलापक्ष भी इतना ही पुष्ट है। काव्यरीति का ऐसा कोई अङ्ग नहीं जिसको बिहारी ने छोड़ा हो। कला की दृष्टि से निम्नलिखित दोहे द्रष्टव्य हैं—

जुरे दुहुन के दृग झमकि, रुके न झीने चीर।
हलुकी फौज हरौल ज्यों, परै गोल पर भीर॥
लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुँह जोर तुरङ्ग ज्यों, ऐंचत हू चलि जाहिं॥

मतिराम

ये परम्परा से चिंतामणि और भूषण के भाई प्रसिद्ध हैं। ये तिकवांपुर में सं० १६७४ (१६१७ ई०) के लगभग उत्पन्न हुए[१]। इनकी रचनाएँ ये हैं—

१. ललितललाम, २. छंदसार, ३. रसराज, ४. साहित्यसार, ५. लक्षण शृङ्गार, ६. मतिराम सतसई, ७. अलङ्कार पंचाशिका।

१ शुक्ल, हिं० सा० का इतिहास, पृ० २५२।

ये बूँदी के राजा भावसिंह के यहाँ दीर्घ काल तक रहे और उन्हीं के आश्रय में 'ललित ललाम' नामक अलङ्कार ग्रन्थ रचा। 'अलङ्कार पंचाशिका' कुमायूं-नरेश उदोतचंद्र के पुत्र ज्ञानचंद्र के लिए लिखी गई। इसका आधार 'चंद्रालोक' है। इसमें लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्तों में हैं। इसमें चुने हुए पचास अलङ्कारों का वर्णन है। 'ललित ललाम' में भी यही क्रम है। इसमें अर्थालंकारों का ही विशद परिचय दिया गया है। अधिकांश उदाहरण भावसिंह की प्रशंसा में हैं।

मतिराम की प्रवृत्ति रस की ओर अधिक दीखती है। वे लक्षणकार की अपेक्षा कवि अधिक हैं कवि के रूप में ये रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं। मतिराम की कविता का एक उदाहरण—

कुन्दन कौ रङ्ग फीकौ लगै, झलकै अति अङ्गनि चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु विलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहे मुसुकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई॥

भूषण

इनका जन्मकाल सं० १६७० (१६१३ ई०) है। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें 'कवि भूषण' की उपाधि प्रदान की थी। इनका यथार्थ नाम ज्ञात नही है। पीछे छत्रपति शिवाजी ने इनको आश्रय दिया। पन्ना का राजा छत्रसाल भी इनका बहुत सम्मान करता था। छत्रसाल ने इनकी पालकी में अपना कधा लगाया बताते हैं। इनका परलोकवास सं० १७७२ (१७१५ ई०) माना जाता है।

भूषण के दोनों चरित्रनायक अपने समय के वीर और धर्मनिष्ठ पुरुष थे। इनकी प्रशंसा जनता के मन के अनुकूल थी। शृङ्गार रस के घनीभूत वातावरण में वीररस को प्रवाहित करने का श्रेय महाकवि भूषण को है। इनके रचित तीन ग्रन्थ उपलब्ध

हैं—शिवराजभूषण, शिवाबावनी और छत्रसाल-दशक। इनके तीन ग्रन्थ और बताए जाते हैं—भूषण-उल्लास, दूषण-उल्लास और भूषण-हजारा।

यद्यपि भूषण मुख्यतः वीर रस के कवि थे तो भी उनके कुछ कवित्त शृंगार रस के भी मिले हैं। 'भूषण ग्रंथावली' में ११ ऐसे पद्य संगृहीत हैं। डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल को ऐसे लगभग २५ छन्द मिले थे।[1] यह रीतिकालीन प्रवृत्ति का प्रभाव कहा जा सकता है।

आश्रयदाता की प्रशस्ति का गायन भी भूषण ने किया है। पर अन्य कवियों की भाँति हलकी और अयथार्थ चाटुकारिता भूषण के काव्य में नहीं मिलती। लोकानुरंजनकारी गुणों का गायन करके उन्होंने अन्य कवियों के कलंक को धोया—

'भूषण' यों कलि के कविराजन,
राजन के गुण गाय हिरानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजे,
सर न्हाइ पवित्र भई पुनि बानी॥

शिवाजी के साथ भूषण ने अवतार-भाव जोड़ा—

जा दिन जन्म लीन्हों भू पर भुसिल भूप,
ताही दिन जीत्यौ अरि-उर के उछाह को।
छटी छत्रपतिन को जीत्यौ भाग अनायास,
जीत्यौ नाम करन में करन प्रवाह को॥
'भूषन' भनत बाल लीला गढ़ कोट जीत्यौ,
साहि के सिवाजी करि चहूँ चक्क चाह को।
बीजापुर, गोलकुण्डा जीत्यो लरिकाई में ही,
ज्वानी आये जीत्यो दिल्लीपति पातसाह को॥

'शिवराज-भूषण' में आचार्यत्व की प्रवृत्ति ने भूषण की कला को पकड़ा। भूषण ने लिखा है—

---

१. बड़थ्वाल, 'भूषण की शृङ्गारी कविता', ना० प्र० पत्रिका भाग १६, (सं० १९९५)।

सिव चरित्र लखि यों भयौ, कवि भूषन के चित्त।
भांति भांति के भूषननि, भूषित करौ कवित्त ॥
सुकविन हू की कछु कृपा, समुझि कविन कौ पन्थ।
भूषन भूषनमय करत, शिव भूषन शुभ ग्रन्थ ॥

शिवराज-भूषण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भूषण लक्षणकार इतने अच्छे नहीं थे जितने कि कवि। भूषण में सभी रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। वीररस उनमें अपवाद-स्वरूप है।

कुलपति मिश्र

ये आगरा के रहने वाले माथुर चौबे थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि सुकवि बिहारी के ये भानजे थे। ये जयपुर के महाराज जयसिंह के पुत्र राजा रामसिंह के दरबार में रहते थे। इनके 'रस-रहस्य' का रचना-काल कर्तिक कृष्णा ११, सं० १७२७ (१६७० ई०) है। खोज में इनके निम्नलिखित ग्रन्थ और मिले हैं—

१. द्रोण पर्व
२. युक्ति तरङ्गिणी
३. नखशिख
४. संग्रामसार

इनका कविता-काल सं० १७२४ (१६६७ ई०) और सं० १७४३ (१६८६ ई०) के बीच है। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। 'रस-रहस्य' मम्मट के 'काव्य प्रकाश' का छायानुवाद है। इस लक्षण ग्रंथ में कुछ गद्य-वार्तिक भी मिलते हैं। अलंकार-प्रकरण में अपने आश्रयदाता रामसिंह की प्रशंसा में स्वरचित उदाहरण भी दिए हैं। ब्रज-मण्डल के निवासी होने के कारण इनकी ब्रजभाषा स्वाभाविक और परिष्कृत है। एक छन्द देखिए—

ऐसिय कुंज बनी छवि पुंज, रहैं अलि गुंजत यों सुख लीजै।
नैंन बिसाल हिए बनमाल, विलोकत रूप-सुधा भरि पीजै ॥

जामिनि-जाम की कौन कहै, जुग जात न जानिए ज्यों छिन छीजै ।
आनद यों उमग्यौई रहै, पिय मोहन को मुख देखिबौ कीजै ॥

देव

ये इटावा के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे । 'भावविलास' की रचना इन्होंने सं० १७४६ (१६८९ ई०) में की । उस समय इनकी अवस्था १६ वर्ष की थी—

सुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरही वर्ष ।
कढ़ी देव मुख देवता, भाव विलास सहर्ष ॥
दिल्लीपति अवरङ्ग के, आजमसाह सपूत ।
सुन्यो सराह्यौ ग्रंथ यह, अष्टजाम संजूत ॥

'भाव विलास' में भाव, नायिका-भेद और अलंकार तीनों का वर्णन है । भवानीदत्त वैश्य के आश्रय में इन्होंने 'भवानी विलास' लिखा । कुशलसिंह के नाम पर 'कुशलविलास', उद्योगसिंह के लिए 'प्रेम-चंद्रिका' तथा भोगीलाल के लिए 'रस-विलास' ग्रंथ देव ने रचे । 'रस-विलास' की रचना सं० १७८३ (१७२६ ई०) में हुई देव के कुल ७५ ग्रथ बताए जाते हैं, जिनमें से अधिकांश ग्रंथ उपलब्ध हैं । इनकी सूची इस प्रकार है—प्रेमतरङ्ग; रागरत्नाकर, कुशलविलास, देवचरित्र, प्रेम-चन्द्रिका, भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, सुजानविनोद, जातिविलास, रसविलास, काव्य-रसायन, सुखसागर तरंग, वृक्ष-विलास, पावस-विलास, ब्रह्मदर्शन-पचीसी, तत्वदर्शन पचीसी, आत्मदर्शन पचीसी, जगद्दर्शन पचीसी, रसानंदलहरी, प्रेमदीपिका, सुमिलविनोद, राधिका-विलास, नीति-शतक और नखशिख प्रेम दर्पण ।

देव को आचार्य और कवि दोनों रूपों में सफलता मिली । उनकी कविताओं में मौलिकता और कवित्व शक्ति दोनो ही हैं । मानवीय मनोभावों का सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्रण करने की क्षमता देव में थी । शब्दों पर तो उनका असाधारण अधिकार था । एक गतिमय चित्र की छवि देखिए—

आई बरसाने ते बोलाई वृषभानुसुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गईं।
चक-चकवानि के चकाये चक चोरन सों,
चौंकत चकोर चकचौंधा सो चकै गई॥
'देव' नँद–नन्दन के नैननि अनन्दमई,
नन्दजू के मंदिरन चंदमई कै गई।
कंजनि कलिनमई कुंजनि अलिनमई,
गोकुल की गलिन नलिनमई कै गई॥

देवकृत 'भाव-विलास' पाँचों विलासों का ग्रन्थ है। इसमें नायक-नायिका के साथ अलंकार वर्णन किया गया है। कवि का मन नायिका-वर्णन में अधिक रमा है। इसमें भावना का अतिरेक तथा हृदय की कोमलता अधिक है, मस्तिष्क की प्रौढ़ता उतनी नहीं है।

दूसरा ग्रंथ 'काव्य-रसायन' आचार्यत्व की दृष्टि से प्रौढ़ रचना है। इसमें सिद्धांत का प्रतिपादन वैज्ञानिक है। देव की अन्य कृतियाँ भी उच्च कोटि की कही जा सकती हैं। आपको रचनाओं को देखकर देव के पांडित्य और बहुमुखी अनुभव का पता चलता है। रीतिकाल के साहित्यकारों में उनका स्थान सर्वोच्च कहा जा सकता है। देव के दो अन्य उत्कृष्ट छन्द यहाँ दिए जाते हैं—

हौंही ब्रज वृंदाबन मोहि में बसत सदा
यमुना तरङ्ग श्याम रङ्ग अवलीन की।
चहूँ ओर सुंदर सघन वन देखियत,
कुंजनि में सुरमित गुंजनि अलीन की॥
वंशीवट-तट नटनागर नटतु मोमें,
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक बनक ताल-ताननि की,
तनक–तनक तामें झनक चुरीन की॥

आँगन बैठी सुन्यौ पिय आवत, चित्त झरोखन ते लरक्यौ परै।
'देवजू' घूँघट के पटहू में, समात न फूल्यौ हियौ फरक्यौ परै॥
नैनन आनँद के अँसुवा, मनों भौंर सरोजन ते सरक्यौ परै।
दंत लसै मृदु मंद हँसी, सुख सों मुख दाड़िम सो दरक्यौ परै॥

सूरति मिश्र

ये आगरा निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका कविता-काल विक्रम की अठारहवीं शती का अंतिम चरण माना जाता है। ये नसरुल्लाखाँ नामक सरदार तथा दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के दरबार में आया-जाया करते थे[1]। इन्होंने 'बिहारी सतसई', 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' पर ब्रजभाषा गद्य में टीकाएँ लिखी हैं। इनके निम्नलिखित रीति ग्रंथ कहे जाते हैं।

अलंकारमाला, रसरत्नमाला, सरसरस, नखशिख, काव्य-सिद्धांत, रसरत्नाकर तथा रसग्राहकचंद्रिका।

'अलंकारमाला' की रचना 'भाषाभूषण' की पद्धति पर है। इसमें लक्षण और उदाहरण प्राय: एक ही दोहे में मिलते है। नखशिख का एक कवित्त इस प्रकार है—

तेरे ये कपोल बाल अतिही रसाल,
मन जिनकी सदाई उपमा विचारियत है।
कोऊ न समान जाहि कीजै उपमान,
अरु बापुरे मधूकन की देह जारियत है॥
नेंकु दरपन समता की चाह करी कहूँ,
भए अपराधी ऐसौ चित्त धारियत है।
'सूरति' सो याही ते जगत बीच आजहूँ लौं,
उनके बदन पर छार डारियत है॥

कृष्णकवि

ये मथुरा के चौबे थे। कहा जाता है कि ये बिहारी कवि के पुत्र थे। इन्होंने बिहारी के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के जीवन-काल में 'बिहारी सतसई' पर टीका लिखी। इसका रचना-काल सं० १७८५ (१७२८ ई०) तथा सं० १७९० (१७३३ ई०)

---

१. शुक्ल, हिं० सा० का इतिहास, पृ० २६६।

के बीच में माना जा सकता है। इस टीका में प्रत्येक दोहे के भाव को सवैया में प्रदर्शित किया गया है। टीका में वार्तिक भी दिए हैं जिनमें काव्यांग दिखाए गए हैं। कुछ सवैये बहुत सुन्दर हैं। उदाहरण—

दोहा—डोरी लागी सुनन की, कहि गोरी मुसकात।
थोरी थोरी सकुच सों, भोरी भोरी बात॥ २५७

नायिका प्रौढ़ा ने नायक की चेष्टा देखी है, सो सखी सखी सों कहति है। सवैया—

जा दिन ते वह साँवरो नैन सों नैन मिलै मुसकाय गयौ है।
ता दिन ते 'कविकृष्ण' कहैं मन वाही के हाथ बिकाय गयौ है॥
थोरी-सी लाज गहै हित चीकनी भोरी-सी बात बनाय गयौ है।
कानन को अब वे बतियाँ सुनिबे ही की डोरी लगाय गयौ है॥

रसिक सुमति

ये आगरा-निवासी उपाध्याय ब्राह्मण थे। सं० १७८५ (१७२८ ई०) के लगभग इन्होंने 'अलङ्कार-चन्द्रोदय' की रचना की। इसमें १८७ दोहे हैं। १८० में अर्थालङ्कार-निरूपण हैं। इस पर 'कुवलयानंद' का प्रभाव है। कहीं-कहीं कवि ने स्वतंत्रता का भी परिचय दिया है।

भिखारीदास

ये प्रतापगढ़ के पास ट्योंगा गाँव के रहने वाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। प्रतापगढ़-नरेश राजा पृथ्वीपतिसिंह के अनुज हिन्दूपतिसिंह के आश्रय में भिखरीदासजी ने 'काव्य-निर्णय' की रचना सं० १८०३ (१७४६ ई०) में की। इनकी अन्य रचनाएँ ये हैं—

१. रससारांश,
२. छंदोर्णवपिंगल,
३. काव्यनिर्णय,
४. शृङ्गारनिर्णय,

५. नामप्रकाश,
६. विष्णुपुराण भाषा,
७. छंदप्रकाश,
८. शतरंजशतिका तथा
९. अमरप्रकाश।

इनका कविता-काल सं० १७८५ से १८०७ (१७२८ से १७५० ई०) तक माना जा सकता है।

आचार्यत्व की दृष्टि से काव्यांगों के शास्त्रीय निरूपण में दासजी का स्थान प्रधान है। 'काव्यनिर्णय' इनको प्रमुख कृति है। इसकी प्रेरणा इन्हें 'चन्द्रालोक', 'काव्यप्रकाश' आदि से मिली—

बूझि सुचन्द्रालोक अरु, काव्यप्रकासहु ग्रंथ।
समुझि सुरुचि भाषा कियौ, लै औरौ कवि पंथ॥

दास कवि को अलङ्कारवादी नहीं कहा जा सकता। इनकी दृष्टि समन्वयात्मक थी। नीचे की पंक्तियों से यह स्पष्ट है—

अनुप्रास उपमादि जे, शब्दार्थालङ्कार।
ऊपर ते भूषित करें, जैसे तन कौ हार॥
अलङ्कार बिनु रसहु है, रसौ अलंकृत छंडि।
सुकवि-वचन-रचनान सों, देत दुहुन को मंडि॥

दासजी ने अपने काव्य में परिमार्जित भाषा का प्रयोग किया है। शृङ्गार ही इनका प्रमुख रस है। वे उच्चकोटि के कवि थे। इनकी एक कविता देखिए—

नैनन को तरसैए कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो बिरहागि में तैए।
एक घरी न कहूँ कल पैए, कहाँ लगि प्रानन को कलपैए।।
आवै यही अब जी में विचार, सखी चलि सौतिहुँ के घर जैए।
मान घटे ते कहा घटिहै, जु पै प्रानपियारे को देखन पैए॥

आलम

ये ब्राह्मण थे। पर शेख नामक रंगरेजिन पर आसक्त हो मुसलमान हो गए और उसके साथ विवाह कर लिया। इनका

कविता-काल सं० १७४० से १७६० (१६८३ से १७०३ ई०) तक माना जा सकता है।[1] इनकी कविताओं का एक संग्रह 'आलम-केलि' मिला है। इनकी रचनाओं में शृङ्गार की उन्मादक उक्तियाँ मिलती हैं। उदाहरण—

प्रेम रङ्ग पगे जगमगे जगे जामिनि के,
जोबन की जोति जगि जोर उमगत हैं।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत हैं झुकि-झुकि झँपि उघरत हैं।।
'आलम' सो नवल निकाई इन नैनन की,
पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं।
चाहत हैं उड़िबे को देखत मयङ्कमुख,
जानत हैं रैनि ताते ताहि में रहत हैं।।

लालकवि

ये मऊ (बुन्देलखण्ड) के रहने वाले थे। इनका नाम गोरेलाल पुरोहित था। महाराज छत्रसाल का विस्तृत जीवन-चरित्र इन्होंने चौपाइयों में लिखा है। इस 'छत्रप्रकाश'[2] ग्रन्थ में छत्रसाल का सं० १७६४ (१७०७ ई०) तक का ही जीवन-वृत्त आया है। इतिहास की दृष्टि से यह पुस्तक महत्वपूर्ण है। इसमें छत्रसाल के समय की प्राय: सभी घटनाएँ प्रामाणिक हैं।

काव्य की दृष्टि से भी लाल का यह ग्रन्थ उत्कृष्ट कोटि का है। लाल में प्रबन्धपटुता के साथ-साथ स्वभाविकता बराबर मिलती है। चमत्कार तथा उक्तिवैचित्र्य के फेर में ये नहीं पड़े। लालकवि का एक दूसरा ग्रन्थ 'विष्णु-विलास' है, जिसमें बरवै छंद में नायिका-भेद वर्णित है। लाल के सम्बन्ध में अभी विशेष खोज करने की आवश्यकता है। रचना का उदाहरण—

लखत पुरुष लच्छन सब जाने। पच्छी बोलत सगुन बखाने।।

---

१ शुक्ल, वही पृ० ३२९।
२. काशी-नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

रत कवि कवित सुनत रस पागे। बिलसति मति अरथन में आगे॥
रुचि सों लसत तुरँग जो नीके। विहँसि लेत मोजरा सबही के॥

चौंकि चौंकि सब दिसि उठैं, सूबा खान खुमान।
अब धौं धावै कौन पर, छत्रसाल बलवान॥

घनानंद

इनका जन्म सं० १७४६ (१६८६ ई०) के लगभग माना जाता है। ये दिल्ली-निवासी कायस्थ थे और बादशाद मुहम्मदशाह के मीरमुन्शी थे। बाल्यावस्था में इन्हें रासलीला देखने का चाव था। इससे इनके हृदय में कृष्ण की प्रेमाभक्ति जाग्रत हुई। इनका प्रेम 'सुजान' नामक वेश्या पर था। उसी के कारण ये नौकरी से निकाले गए। वृन्दावन आकर निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित होकर कृष्ण-भक्ति में लीन रहने लगे। सं० १७९६ (१७३९ ई०) में नादिरशाह के मथुरा-आक्रमण के समय ये मारे गए।[१]

वस्तुतः इनकी मुख्य प्रवृत्ति भक्त कवियों की-सी थी। परन्तु समय की दृष्टि से ये रीतिकालीन कवियों में हैं। इनके काव्य पर रीति-परम्परा का प्रभाव भी स्पष्ट है। सवैया और कवित्त-शैली को इन्होंने विशेष रूप से अपनाया। भक्ति, विरह और करुणा का जो स्रोत घनानंद जी ने बहाया वह ब्रजभाषा की अमर निधि है। रचना के उदाहरण—

नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै।
योग-वियोग की रीति में कोविद भावना भेद सरूप को ठानै॥
चाह के रङ्ग में भीज्यौ हियौ बिछुरे-मिले प्रीतम सांति न मानै।
भाषा-प्रवीन सुछन्द सदा रहै सो घनजी के कवित्त बखानै॥

सहज सनेह तथा विरह की तीव्रानुभूति दरसाने वाली कुछ अन्य रचनाएँ देखिए—

---

१. ब्रज का इतिहास, भाग १, पृ० १८१।

पहिले अपनाइ सुजान सनेह सों क्यों फिर नेह को तोरिए जू।
निरधार अधार दै धार मँझार दई गहि बाँह न बोरिए जू॥
'घनआनंद' आपुने चातक को गुन बांधिकै मोह न छोरिए जू।
रस प्याइ कै ज्याइ बँधाइ कै आस, बिसास में ना विष घोरिए जू॥

तब तौ दुरि दूरहि ते मुसक्याय बचाय कै और की दीठि हँसे।
दरसाय मनोज की मूरति ऐसी रचाय कै नैननि में सरसे॥
अब तौ उर माहिं बसाय कै मारत ए जू बिसासी कहाँ धौं बसे।
कछु नेह-निबाह न जानत हे तौ सनेह की धार में काहे धँसे॥

अति तीखे परेखनि सों ब्रजमोहन नातौ नहीं कटि जाय है जू।
घनआनँद प्रान-पपीहा जिवावन आए कहा घटि जाय है जू॥
मन कौन धरै जु बियोग की आँचनि ताचि तनौ लटि जाय है जू।
कबहूँक तिहारी औसेर-दरेरनि हाय हियौ फटि जाय है जू॥

रीतिकालीन ब्रजभाषा कवियों में घनानँदजी का निस्संदेह बहुत ऊँचा स्थान है।

नागरीदासजी

इस नाम के कई भक्त कवि ब्रज में हुए हैं, पर इन सबमें प्रसिद्ध कवि कृष्णगढ़-नरेश महाराज सावंतसिंह उपनाम नागरीदासजी हैं। इनका जन्म संवत् १७५६ (१६९९ ई०) में हुआ था। राजनैतिक जीवन से इनकी विरक्ति हो जाने पर ये राजपाट छोड़ वृन्दावन चले आए और यहाँ विरक्त भाव में रहने लगे। इनका कविता-काल सं० १७८० से १८१९ (१७२३ से १७६२ ई०) तक माना जाता है। इनकी सब छोटी-बड़ी रचनाएँ मिलाकर ७३ पुस्तकें 'नागर-सर्वस्व' नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। कुछ अन्य रचनाएँ भी बताई जाती हैं। इनमें स्थान-स्थान पर बड़े सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति मिलती है। नागरीदासजी ने ब्रज तथा राधा-कृष्ण-चरित्र का वर्णन ही मुख्य रूप से पदों, सवैयों, कवित्तों, दोहों आदि में किया है। रचना के उदाहरण—

मैं अपने मन मूढ़ ते, डरत रहत हौं हाय ।
वृन्दावन की ओर तें, मति कबहूँ फिरि जाय ॥

वर्षा वर्णन

भादौं की कारी अँध्यारी निशा झुकि बादर मंद फुही बरसावै ।
श्यामाजू आपनी ऊँची अटा पै छकी रसरीति मलारहि गावै ॥
ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै ।
पौन मया करि घूँघट टारैं दया करि दामिनी दीप दिखावै ॥

सोमनाथ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[1] और मोतीलाल मेनारिया[2] ने इनका कविताकाल सं० १७९५–१८१० (१७३८–१७५३ ई०) ना है । श्री मुनि कान्तिसागर ने इस मत का खंडन किया है ।[3] उनकी दृष्टि से इनका कविताकाल सं० १७८६–१८१२ (१७२९–१७५५ ई०) मानना न्यायसंगत होगा ।[4] इनके जीवन के संबंध में कुछ सामग्री उपलब्ध नहीं है । ये 'छिरौंरा' उपनाम के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे । भरतपुर के राजा बदनसिंह के ये राजकवि थे तथा राज्य के उच्चतम सरदार और दानाध्यक्ष थे । सूरजमल के ये शिक्षक नियुक्त किए गए थे । सूरजमल के ही लिए इन्होंने 'सुजान-विलास' नाम से 'सिंहासन बत्तीसी' का अनुवाद किया ।

हिन्दी-संसार में इनके 'सोमनाथ', 'शशिनाथ' और 'नाथ' ये तीन नाम प्रसिद्ध हैं । कवि की निम्नलिखित कृतियों की खोज होचुकी है—

संग्रामदर्पण, रसपीयूषनिधि,
सुजानविलास, माधवविनोद,

---

१. हिं० सा० का इतिहास, पृ० ३१४ ।
२. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १९२ ।
३. अजंता, जनवरी, १९५५ ।
४. 'भारतीय साहित्य', अप्रैल, १९५६ (द्वितीय अङ्क), पृ० १८० ।

कृष्णलीलामृत, पंचाध्यायी,
दशमस्कंधभाषा, ध्रुवविनोद,
शशिनाथविनोद, रामकलाधर,
अध्यात्मरामायण, अयोध्याकांड,
सुन्दरकांड, किष्किंधाकांड,
युद्धकांड, अरण्यकांड,
रसविलास, रामचरित्ररत्नाकर,
प्रेमपच्चीसी तथा शृङ्गारविलास।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य स्फुट काव्य भी हैं। बलवंतसिंह की प्रेरणा से इनके ग्रन्थों का उर्दू अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए—

दिसि विदिसन तें उमड़ि मढ़ि लीनो नभ,
छांड़ि दीने धुरवा, जवासे जूथ जरिगे।
डहडहे भए द्रुम रंचक हवा के गुन,
कहूँ-कहूँ मोरवा पुकारि मोद भरिगे॥
रहि गए चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
'सोमनाथ' कहै बूँदाबूँदि हू न करिगे।
सोर भयौ घोर चारों ओर महिमंडल में,
'आए घन आए घन' आइकै उघरिगे॥

कवि होने के साथ-साथ आप एक उच्चकोटि के आचार्य भी थे। 'रसपीयूषनिधि' आपकी एक अमर कृति है। इसमें पिंगल, काव्य-लक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष इत्यादि सब विषयों का निरूपण है। ग्रंथ बाईस तरङ्गों में विभक्त है। काव्यांगों का अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विवेचन इसमें है। ऐसा विवेचन देव, श्रीपति, दास आदि हिन्दी के दो-चार रीतिकार ही कर पाए हैं। नायिका-भेद वर्णन इन्होंने बहुत उत्तम किया है। उसमें नवीनता और सरसता है।

रसलीन

ये बिलग्राम, जि० हरदोई के निवासी थे। इनका नाम सैयद गुलाम नबी था। इनकी दो पुस्तकें 'अङ्ग-दर्पण' तथा 'रस-प्रबोध' प्रसिद्ध हैं। 'अङ्गदर्पण' सं० १७९४ (१७३७ ई०) में लिखा गया। इसमें विभिन्न अङ्गों का उपमा-उत्प्रेक्षा युक्त वर्णन है। 'रसप्रबोध' सं० १७९८ (१७४१ ई०) में लिखा गया। इसमें ११५५ दोहे हैं, जिनमें रस, भाव, नायिका-भेद, षट्ऋतु, बारहमासा आदि का वर्णन है। रसलीन के दोहों में चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य अच्छा मिलता है। उदाहरण—

> अधिक रूप दरसाय इनि, दृग दूतन मिलि साथ।
> मो मन मानिक सो तिही, बेच्यौ हरि के हाथ ॥१॥
> तेरस दुतिया दुहुन मिलि, एक रूप निज ठानि।
> भोर-साँझ गहि अरुनई, भए अधर तुव आनि ॥२॥
> टपकावति अँसुवा कुचन, ओट किए पट लाज।
> आली शिव के सीस इनि, जमुन बहाई आज ॥३॥
> निसि बिछुरी कछु बचन कहि, यों रोई लखि कंत।
> औंटि-औंटि उफनाय ज्यों, छीर चुवत है अंत ॥४॥

चाचा हितवृन्दावनदासजी

इनका नामोल्लेख पीछे किया जा चुका है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय के ये एक उज्ज्वल रत्न हैं। ब्रज भाषा-साहित्य की जितनी रचना अकेले चाचाजी ने की उतनी शायद ही किसी अन्य ने की। कहते हैं कि उन्होंने कुल चार लाख पदों का निर्माण किया। उनका एक लाख पद-साहित्य तो अब भी उपलब्ध है।

चाचाजी का जन्म लगभग सं० १७६० (१७०३ ई०) में हुआ और मृत्यु सं० १८५० (१७९३ ई०) के लगभग हुई।[1] इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में विवाद है। सम्भवतः ये ब्रज के ही

१. द्रष्टव्य प्रभुदयाल मीतल, चाचा हित वृन्दावनदास के साहित्य की शोध, सम्मेलन पत्रिका, भाग ४२ (सं० २०१३), संख्या ४, पृ० ८७-८८।

किसी स्थान में उत्पन्न हुए थे। वृन्दावन में इन्होंने शिक्षा प्राप्त की और राधावल्लभीय संप्रदाय के विद्वान आचार्य श्री हित-रूपलालजी से दीक्षा ग्रहण की। महाप्रभु श्री हितहरिवंशजी तथा अपने गुरुवर के प्रति वृन्दावनदासजी अपार श्रद्धा रखते थे। अपनी अधिकांश रचनाओं में अपने नाम की छाप के साथ इन्होंने अपने गुरु की छाप भी दी है। सम्प्रदाय के तत्कालीन गोस्वामी के पिताजी के ये गुरुभाई थे, इसीसे वे इन्हें 'चाचाजी' कहते थे। अन्य लोग भी इन्हें 'चाचा' कहने लगे।

चाचाजी की अनेक कृतियों में निर्माण-काल मिलता है। इन कृतियों का रचना-समय सं० १७९५ (१७३८ ई०) से सं० १८४४ (१७८७ ई०) तक है। वस्तुतः इन्होंने अपना जीवन भगवद्भक्ति तथा काव्य-रचना में ही अर्पित कर दिया।

अब तक इनके लगभग २०० छोटे-बड़े ग्रंथों के नाम मिले हैं। अधिकांश ग्रंथ सौभाग्य से वृन्दावन में सुरक्षित हैं। इनमें ७ सागर ग्रन्थ (राधा लाड़ सागर, कृष्ण लाड़ सागर आदि), ५ पदावली (वर्सोत्सव, रास आदि), ४ इतिहास ग्रंथ, २ माँझ ग्रंथ २० अष्टक (मथुरा प्रतापाष्टक, कुशस्थली अष्टक आदि), १४ पच्चीसी (राधा बाल पच्चीसी आदि), ६० बेलियाँ (दान बेली, हरिनाम बेली, करुणा बेली आदि), ४२ छद्म (रास की विवध लीलाएँ) तथा फुटकर ग्रंथ (अष्टयाम, रहस्यभावना, प्रेयपहेली आदि) सम्मिलित हैं।[1]

चाचाजी का यह विशाल साहित्य शृङ्गार और सरसता का अगाध सागर है। राधाकृष्ण की विवध लीलाओं का, ब्रज माधुरी के अनेक रूपों का तथा लोकजीवन के बहुमुखी स्वरूप का जो मनोरम चित्रण चाचाजी ने उपस्थित किया है वह ब्रज साहित्य

---

१. श्री मीतल, वही, पृ० ८६-६१। छद्म रचनाएँ 'श्री रासछद्मविनोद' नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। 'श्री लाड़सागर' ग्रन्थ भी हाल में प्रकाशित हुआ है।

में अमर है। भक्ति साहित्य और प्रिया प्रीमत की प्रेम-माधुरी के इतने विवध रूप अन्यत्र दुर्लभ है। नीचे चाचाजी की दो रचनाएं दी जाती हैं—

प्रसाधन

बदन विधु मुहथ प्रछालति, त्योंही प्रीतम हाथ लियें जलभारी।
नकबेसर की सम्हारति, लियें कर दर्पन रूप छकत लखि भारी ॥
छवि के जौहरी नैन सखीरी, करि कोउ मिस परखत हैं बिहारी।
'वृन्दावन हित रूप' कछू अनखति-सी बाला को धौं बानि तिहारी ॥

हंस का दुलार

प्यारी मोती ताहि चुगावही।
ललिता याहि राखियौ नीकें मो मन अधिको भावही ॥
उज्ज्वल वरन हरत है मनको कुहुक-कुहुक सुर गावही।
प्राण-भावते बिनु जु अपूरब कौतुक को दरसावही ॥
धन्य रविसुता जो ऐसे पछिनु को तीर बसावही।
अति कमनी वृन्दा को कानन लोकनि धन्य कहावही ॥
जामें खग बेली-द्रुम नाना उर आनँद उपजावही।
सखी-अंस भुज दियें छवि छकी मल्हकति गज गति आवही ॥
बैठी कल्पवृच्छ की छहियाँ सारँग राग जु गावही।
'वृन्दावन हित रूप' गाइ अमृत सर पियहि न्हवावही ॥

भगवत रसिक

ये टट्टी सम्प्रदाय (निंबार्क) के महात्मा ललितमोहनीदासजी के शिष्य थे। इनका जन्म सं० १७९५ (१७३८ ई०) के लगभग बताया जाता है। इनकी रचनाओं में, जो पद, छप्पय, कवित्त आदि के रूप में हैं। प्रेम मथा वैराग्य दोनों मिलते हैं। रसिकता के ये मूर्त रूप थे। इन्होंने लिखा है—

भगवत रसिक रसिक की बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना।

सूदन

ये मथुरा के चौबे थे और भरतपुर के महाराजा सूरजमल (उपनाम सुजानसिंह) के यहाँ रहते थे। उनके चरित्र का वर्णन

इन्होंने 'सुजान चरित्र' नामक एक बड़े काव्य-ग्रंथ में किया। यह ग्रंथ सात जंगों अध्यायों में है और इसमें सं० १८०२ (१७४५ ई०) से १८१० (१७५३ ई०) तक की राजनैतिक हलचलों का तथ्यपूर्ण वर्णन है। वर्णन में विस्तार और प्रचुरता की मात्रा अधिक है। सूदन मुख्यत: वीररस के कवि थे। इनकी कविता ओजपूर्ण है। उदाहरण—

कोप्यौ मानौं काल सौ बदन महिपाल पूत,
दीठि बाँकी करिकें निहारै ओर तू जाकी।
तू ही अवतार भुव भार के उतारन कौ,
सार के सम्हार नहिं ताव नर दूजा की॥
'सूदन' समत्थ अरि रूपन कौ पत्थ सम,
कीरति अकत्थ रतनाकर लौं भूजा की॥
दिल्ली दल दट्टन सुकट्टन मलेच्छ बस,
देस-देस जाहिर प्रचण्ड तेग सूजा की॥

परन्तु कभी-कभी सूदनजी इतने धर्राटे में लिखते थे कि उनकी लेखनी से प्रसूत शब्द भी संग्राम करते-से प्रतीत होते थे।

दूलह

ये कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ 'कवींद्र' के पुत्र थे। इनका कविता-काल सं० १८०० से १८२५ (१७४३ से १७६८ ई०) तक माना जा सकता है। इनका बनाया एक ही ग्रंथ 'कविकुलकंठाभरण' मिला है। कुछ फुटकर कवित्त भी बताए जाते हैं। 'कविकुलकंठाभरण' अलङ्कार का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें लक्षण और उदाहरण एक ही पद्य में कहे गए हैं। ग्रंथ बहुत सुबोध है, अत: कवि ने कहा है—

जो या कंठाभरण को, कंठ करै चित लाइ।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥

इस ग्रंथ में केवल ८५ पद्य हैं, पर वे प्राय: सभी उच्चकोटि के हैं। एक श्रृङ्गारी कविता का उदाहरण—

धरी जब बाहीं तब करी तुम ''नाहीं',
पाँय दियौ पलकाहीं 'नाहीं-नाहीं' कै सुहाई हौ।
बोलत में नाहीं, पट खोलत में नाहीं,
कवि 'दूलह' उछाहीं लाख भाँतिन लहाई हौ ॥
चुम्बन में नाहीं, परिरम्भन में नाहीं,
सब आसन-विलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ।
मेलि गलबाहीं केलि कीन्हीं चितचाही,
यह 'हा' ते भली 'नाहीं' सो कहाँ ते सीखि आई हौ ॥

बोधा

ये राजापुर (जि० बाँदा) के सरयूपारी ब्राह्मण थे। बचपन का नाम बुद्धिसेन था। पन्ना के महाराजा इन्हें 'बोधा' कहते थे। यही नाम आगे चलकर प्रसिद्ध हो गया। इनका कविता-काल सं० १८३० से १८६० (१७७३ से १८०३ ई०) तक माना जा सकता है।[1]

बोधा रसिक कवि थे। इनकी प्रेम-सम्बंधी रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। सवैये बड़े चुटीले हैं। इनके दो ग्रंथ 'विरह-वारीश' तथा 'इश्कनामा' प्रसिद्ध हैं। कुछ फुटकर कवित्त-सवैये भी मिले हैं। बोधा मस्त, फक्कड़ी जीव थे, जिसका आभास इनकी रचनाओं में मिलता है। प्रेम की पीर पर उनके दो छंद देखिए—

कबहूँ मिलिबौ, कबहूँ मिलिबौ, यह धीरज ही में धरैबौ करै।
उरतें कढ़ि आवै गरे तें फिरै, मनकी मन ही में सिरैबौ करै ॥
कवि 'बोधा' न चाव सरी कबहूँ, नित ही हरवा सौ हिरैबौ करै।
सहतेई बनै, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबौ करै ॥

लोक की लाज औ सोक अलोक की, बारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।
गाँव को गेह को देह को नातो, सनेह में हाँतो करै पुनि सोऊ ॥
'बोधा' सुनीति निबाह करै, धर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।
लोक की भीत डेरात जो मीत, तौ प्रीति के पैंड़े परै जनि कोऊ ॥

---

१. शुक्ल, वही, पृ० ३७१।

ठाकुर

ठाकुर नाम के कई कवि हुए हैं। इनमें बुंदेलखंडी लाला ठाकुरदास 'ठाकुर' सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। ये कायस्थ थे। इनका जन्म ओरछा में सं० १८२३ (१७६६ ई०) में हुआ। ये जैतपुर के राजा केशरीसिंह के यहाँ रहे। कुछ दिन बिजावर में भी रहे। धीरे-धीरे बुंदेलखंड के अन्य राजदरबारों में भी ठाकुर की प्रतिष्ठा होने लगी। बाँदा के हिम्मतबहादुर गोसाईं के दरबार में ठाकुर और पद्माकर की कभी-कभी नोक-झोंक हो जाया करती थी।

ठाकुर का देहावसान सं० १८८० (१८२३ ई०) के लगभग हुआ। इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'ठाकुर ठसक' नाम से प्रकाशित हुआ है। परन्तु उसमें अन्य ठाकुरों की भी कई रचनाएँ आ गई हैं। ठाकुर की रचनाओं में प्रेम की सच्ची उमङ्ग मिलती है। जैसी स्वाभाविक भाषा उनकी है वैसी बहुत कम कवियों में मिलती है। इनकी कविता में एक भी शब्द व्यर्थ का न मिलेगा। लोक-व्यापार का सूक्ष्म चित्रण ठाकुर ने किया है। इनके कितने ही सवैये और कवित्त सुन्दर लोकोक्तियों से युक्त हैं। रचना के कुछ उदाहरण—

अपने-अपने सुटि गेहन में, चढ़े दोऊ सनेह की नावँ पै री।
अँगनान में भींजत प्रेम भरे, समयो लखि मैं बलि जावँ पै री॥
कहै 'ठाकुर' दोउन की रुचि सों, रङ्ग ह्वै उमड़े दोउ ठावँ पै री।
सखी, कारी घटा बरसै बरसाने पै, गोरी घटा नँदगावँ पै री॥

लगी अंतर में करै बाहर को, बिन जाहर कोऊ न मानतु है।
दुख औ सुख, हानि औ लाभ सबै, घर की कोऊ बाहर भानतु है?
कवि 'ठाकुर' आपनी चातुरी सों, सबही सब भाँति बखानतु है।
पर बीर! मिलै-बिछुरे की बिथा, मिलिकै बिछुरै सोई जानतु है॥

चारिहूँ ओर उदौ मुख-चन्द की चाँदनी चारु निहार लै री।
बलि जो पै अधीन भयो पियप्यारी, तौ एतौ विचार विचार लै री॥
कवि 'ठाकुर' चूकि गयो जो गोपाल, तौ तैं बिगरी को सम्हारि लै री।
अब रैहै न रैहै यही समयौ, बहती नदी पाँव पखार लै री॥

पद्माकर

ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८१० (१७५३ ई०) में बाँदा में हुआ था। सं० १८९० (१८३३ ई०) में इनकी मृत्यु हुई। ये कई स्थानों पर रहे। सुगरा के नोने अर्जुनसिंह के ये मंत्रगुरु थे। सं० १८४९ (१७९२ ई०) में ये गो० अनूपगिरि उपनाम हिम्मतबहादुर के यहाँ गए, जो बड़े योद्धा थे। उनके नाम पर पद्माकरजी ने 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' नामक वीररस की रचना की। ये सितारे के महाराज रघुनाथराव के यहाँ भी गए। फिर जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के यहाँ पहुँचे। प्रतापसिंह के पुत्र महाराज जगतसिंह के समय में भी ये बहुत काल तक जयपुर रहे और उन्हीं के नाम पर अपना ग्रंथ 'जगद्विनोद' बनाया दूसरे ग्रंथ 'पद्माभरण' की रचना भी संभवतः जयपुर में ही हुई। सिंधिया दरबार में भी इनका अच्छा मान हुआ। जयपुर-नरेश ने इन्हें 'कविराज-शिरोमणि' की पदवी प्रदान की। वहाँ पद्माकर ने हितोपदेश का भाषानुवाद किया। विराग और भक्तिरस-पूर्ण ग्रंथ 'प्रबोध-पचासा' उन्होंने अंतिम दिनों में बनाया। 'गङ्गालहरी' की रचना इसी समय हुई। उनका 'रामरसायन' ग्रंथ वाल्मीकि रामायण के आधार पर बनाया गया।

वैसे अन्य रसों की कविता भी पद्माकरजी ने की, पर इनकी प्रतिभा का निखार शृङ्गार-रस में हुआ है। इनकी रचनाओं में सजीवता और आनंद-उल्लास व्याप्त मिलता है। शब्द-चयन, अलङ्कार-योजना, भाषा की विविध-रूपता एवं कल्पना के साथ भावुकता का संयोग—इन सब में पद्माकर जी सिद्धहस्त थे। उनके दो छंद यहाँ दिए जाते हैं—

तीर पर तरनि-तनूजा के तमाल तरे,
तीज की तयारी तकि आई अँखियान में।
कहै 'पद्माकर' त्यों उमगि उमङ्ग उठी,
मेंहदी सुरङ्ग की तरङ्ग अँखियान में।।
प्रेम-रङ्ग बोरी गोरी नवल किसोरी भोरी,
झूलत हिंडोरे सो सुहाई अँखियान में।
काम झूलै उर में, उरोजन में दाम झूलै,
श्याम झूलै प्यारी की अन्यारी अँखियान में।।

सोभित स्वकीयागन गुन गनती में तहाँ,
तेरे नाम ही की एक रेखा रेखियतु है।
कहै 'पदमाकर' पगी यों पति-प्रेम ही में,
पदमिनि तोसी तिया तू ही पेखियतु है।।
सुवरन रूप जैसौ तैसौ सील सौरभ है,
याही तें तिहारो तन धन्य लेखियतु है।
सोने में सुगंध न सुगध में सुन्यौ री सोनौ,
सोनौ औ सुगन्ध तोमें दोऊ देखियतु है।।

ग्वाल

ये मथुरा-निवासी बंदीजन सेवाराम के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १८४८ (१७९१ ई०) माना जाता है।[1] इनका रचना-काल सं० १८७९ से १९२७ (१८२२ से १८६७ ई०) तक कहा जा सकता है। अपना प्रायः सम्पूर्ण जीवन ग्वाल ने साहित्य-रचना में लगाया। उनके ग्रंथों की संख्या काफी बड़ी है। मुख्य उपलब्ध ग्रंथ ये हैं—

१. जमुनालहरी, २. रसिकानन्द, ३. हमीरहठ, ४. राधा-माधव-मिलन, ५. श्रीकृष्णजू कौ नखशिख, ६. कविदर्पन, ७. रस-रङ्ग, ८. साहित्यानन्द, ९. अलङ्कार-भ्रमभंजन, १०. प्रस्तार-प्रकाश ११. नेहनिवाह, १२. भक्तभावन और १३. कविहृदयविनोद।

---

१. द्र० प्रभुदयाल मीतल, ग्वाल कवि के ग्रन्थों की समीक्षा, ब्रजभारती, वर्ष ११ (सं० २०१०), अङ्क ४, पृ० २७-३६।

ग्वाल की रचनाओं की लोकप्रियता का पता इस बात से चलता है कि उनके सैकड़ों कवित्त-सवैये अनेक लोगों को कण्ठस्थ हैं। ग्वाल मौजी जीव थे। इन्होंने भारत के अनेक प्रांतों का भ्रमण किया। पंजाब में ये बहुत समय तक रहे। इन्हें भारत की कई भाषाएँ मालूम थीं। संस्कृत काव्यशास्त्र का इन्हें अच्छा ज्ञान था। जीवन पर्यन्त देशाटन से इन्हें सांसारिक अनुभव प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुआ। षट्ऋतुओं का ग्वाल ने विस्तृत वर्णन किया है।

ग्वाल मथुरा के अन्तिम प्रसिद्ध रीतकालीन कवि थे। चूनाकङ्कड़ मुहल्ले में, जहाँ ये रहते थे, ग्वाल ने ग्वालेश्वर महादेव की प्रतिष्ठापना की। 'ग्वाल-चबूतरा' के नाम से मंदिर का चबूतरा अब भी प्रसिद्ध है। रचना का उदाहरण—

मोरन के सोरन की नेकौ न मरोर रही,
घोरहू रही न घन घने या फरद की।
अम्बर अमल, सर सरिता विमल भल,
पङ्क को न अङ्क औ न उड़न गरद की॥
'ग्वाल' कवि चित्त में चकोरन के चैन भए,
पंथिन की दूर भई दूषन दरद की।
जल पर, थल पर, महल अचल पर,
चाँदी सी चमकि रही चाँदनी सरद की॥

प्रतापसाहि

ये बंदीजन थे और चरखारी के महाराज विक्रमसिंह के यहाँ रहते थे। इनका कविता-काल सं० १८८० से १९०० (१८२३ से १८४३ ई०) तक माना जाता है।[1] इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की, जिनमें व्यंग्यार्थ कौमुदी, काव्यविलास, जयसिंहप्रकाश, शृङ्गारमंजरी, शृङ्गारशिरोमणि, अलङ्कारचिंतामणि तथा काव्यविनोद उल्लेखनीय हैं। इन्होंनेबिहारी-सतसई, रसराज आदि कई ग्रंथों की टीका भी लिखी।

---

१. शुक्ल, वही, पृ० ३१५।

कवित्व और आचार्यत्व का इनमें अद्भुत समन्वय था। 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' के समस्त पद व्यंजना या ध्वनि के उदाहरण हैं। प्रतापसाहि का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उनकी रचनाओं में कहीं कृत्रिमता नहीं मिलती। परवर्ती रीतिकाल के ये एक अत्यन्त सफल कवि हुए। रचना के उदाहरण—

नायिका

बिहँसे दुति दामिनि-सी दरसै, तन-ज्योति जुन्हाई उई-सी परै।
लखि पांयन की अरुनाई अनूप, ललाई जपा की जुई-सी परै॥
निकरै-सी निकाई निहारे नई, रति रूप लुनाई तुई-सी परै।
सुकुमारता मञ्जु मनोहरता, मुख चारुता चारु चुई-सी परै॥

वयःसंधि

सीख सिखाई न मानति है, बर ही बस सङ्ग सखीन के आवै।
खेलत खेल नए जल में, बिना काम बृथा कत जाम बितावै॥
छोड़िकै साथ सहेलिन को, रहिकै कहि कौन सवादहि पावै।
कौन परी यह बानि अरी, नित नीर भरी गगरी ढरकावै॥

द्विजदेव

अयोध्या के महाराजा मानसिंह ने द्विजदेव नाम से बड़ी सरस रचनाएँ की हैं। इनके दो ग्रंथ 'शृङ्गारलतिका' तथा 'शृङ्गारबत्तीसी' प्रसिद्ध हैं। इनकी भावसम्पन्न एवं प्रसादगुण-युक्त शृङ्गार-कविता रसिकों के गले का हार रही है। इनका ऋतु-वर्णन उत्कृष्ट कोटि का है। उदाहरण—

सुरही के भार सूधे सबद सुकीरन के,
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
'द्विजदेव' त्योंही मधुभारन अपारन सों,
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन॥
खोलि इन नैनन निहारौं तौ निहारौं कहा,
सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन-भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो-चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद-मंद पौन॥

मानिनी

कछु अंचल कौ न सम्हार कहूँ, पलहू जुग चारि समाँ करती ।
अबलौं इतराइ झुकै-उझकै, कहुँ नाक सिकोरती, 'ना' करती ॥
'द्विजदेव' दही सी पलोटै परी, सुतौ नागरि नेह-निसाँ करती ।
लगी साँकरी सी गरे हाँक री वेनु की, साँकरी-खोरि में 'हाँ' करती ॥

उक्त कवियों के अतिरिक्त रीतिकाल में अन्य कितने ही ब्रजभाषा कवि हुए । आचार्य शुक्ल ने अन्य मुख्य कवियों के जो नाम दिए हैं, वे ये हैं—

बेनी, मंडन, सुखदेव मिश्र, कालिदास त्रिवेदी, राम, नेवाज, श्रीधर, कवींद्र, श्रीपति, बीर, गंजन, अलीमुहिबखां, भूपति, तोषनिधि, दलपतराय, बंसीधर, रघुनाथ, कुमारमणिभट्ट, शंभुनाथ मिश्र, शिवसहायदास, रूपसाहि, ऋषिनाथ, बैरीसाल, दत्त, रतन, नाथ, मनीराम मिश्र, चंदन, देवकीनन्दन, रामसिंह, भान, थान, बेनी बन्दीजन, बेनी प्रवीन, जसवन्तसिंह द्वितीय, यशोदानंद, करन, गुरदीन, ब्रह्मदत्त, रसिक गोविद, बनवारी, सबलसिंह चौहान, वृंद, छत्रसिंह, बैताल, गुरु गोविंदसिंह, श्रीधर, रसनिधि, विश्वनाथसिंह, जोधराज, बख्शी हंसराज, किशोरीशरण, अलबेली अलि, गिरधर, हठीजी, गुमान मिश्र, सरजूराम, भगवंतराय खीची, हरनारायण, ब्रजवासीदास, गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव, रामचंद्र, मधुसूदन दास, मनियारसिंह, कृष्णदास, गणेश, सम्मन, ठाकुर (असनी वाले) ललकदास, खुमान, नवलसिंह कायस्थ, रामसहायदास, चंद्रशेखर, बाबा दीनदयाल गिरि, पजनेस तथा गिरधरदास ।

राजस्थान में अनेक ब्रजभाषा के कवि हुए, जिन्होंने रीति की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर काव्य-रचना की । ऐसे कवियों की सूची मोतीलाल मेनारिया ने इस प्रकार दी है[1]—

लेखक	ग्रंथ	रचनाकाल
१— जान	रसकोश	सं० १६७६

१. राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० ७७-७८ ।

		कविवल्लभ	सं० १७०४
		रसमजरी	सं० १७०६
		रस तरङ्गिनी	सं० १७११
२—	केहरी	रसिकविलास	सं० १७१०
३—	जगन्नाथ	रतिभूषण	सं० १७१४
४—	सूरदत्त	रसिकहुलास	सं० १७१६
५—	उदयचद	अनूपरसाल	सं० १७२८
६—	नन्दराम	अलसभेदनी	सं० १७२८
७—	भान	संयोगद्वात्रिंशिका	सं० १७३१
८—	सतीदास व्यास	रसिकआराम	सं० १७३३
९—	रूपजी	रसरूप	सं० १७३९
१०—	अभयराम	अनूपश्रृङ्गार	सं० १७५४
११—	लोकनाथ चौबे	रसतरङ्ग	सं० १७६०
१२—	तिलोकराम	रसप्रकाश	सं० १७६७
१३—	अजीतसिंह	भावविरही	सं० १७७०
१४—	बुधसिंह	नेहतरङ्ग	सं० १७८४
१५—	श्रीकृष्णभट्ट	श्रृङ्गाररसमाधुरी	सं० १७६९
		अलङ्कारकलानिधि	सं० १७९१
१६—	दलपतिरायबंशीधर	अलङ्कार रत्नाकर	स० १७९८
१७—	पीथल	जुगलविलास	स० १८००

ऊपर रीतिकाल के कवियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।[1] इस काल में विषय की दृष्टि से रीतिग्रंथ, श्रृङ्गार-ग्रंथ और चरित्र-काव्य मुख्य रूप से लिखे गए। ब्रजभाषा के कवि प्राय: भारत के प्रत्येक कोने में हुए। ब्रजभाषा का विस्तार इस काल से अधिक किसी काल में नहीं हुआ।

---

१. रीतिकालीन अन्य कवियों के सम्बन्ध में द्रष्टव्य मिश्रबंधुविनोद; पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३५७–६३; ४९७ ५१७, ६०२–१०।

भारतेन्दु-पूर्व के अन्य कवि

रीतिकाल की समाप्ति के पश्चात् भी ब्रजभाषा के अनेक कवि ऐसी रचनाएँ करते रहे जिनमें रीतिकाल की छाप स्पष्ट है। ब्रज में ग्वाल के समकालीन तथा उनके बाद के कई कवियों के नाम यहाँ उल्लेखनीय हैं।

उरदाम (उड़दाम) चौबे

ये ग्वालजी के सम-सामयिक मथुरा-निवासी थे। करौली भी जाया करते थे। कहते हैं कि ये मथुरा की एक रँगरेजिन पर आसक्त थे, जो करौली में ब्याही थी। अपनी प्रेयसी के कँटीले नयनों का कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

नैन नवला के नेंक निरखे निहाल होत,
हेरे रहि जात मृग मीन लट गए हैं।
कहै 'उरदाम' काम बानन की नोकन पै,
कहाँ यह रङ्ग कवि कोटि रट गए हैं॥
भौंह रूप सरस-सरोवर में सुख सने,
कमल-दलन डर डार डट गए हैं।
आन अबलान के गुमान घट गए मानों,
सैन चढ़ि केतिक सुजान कट गए हैं॥

इनकी रचनाओं का कुछ संग्रह श्री नवनीत चतुर्वेदी के पुत्र गोविंदजी के पास सुरक्षित है।[1]

नवीन कवि

ये सं० १६०० के लगभग विद्यमान थे। ये वृन्दावन-निवासी कायस्थ बताए जाते हैं, पर इनके वंश आदि के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक बात ज्ञात नहीं। कहते हैं कि इनका असली नाम गोपालराय था। जयपुर के कवि ईश के ये शिष्य थे। उन्होंने ही इन्हें 'नवीन' उपाधि दी—

श्री गुरु ईश प्रवीन कृपा करि दीनन को छाप नवीन की दीनी।

१. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५७३।

नाभा, ग्वालियर तथा भरतपुर राज-दरबारों में इन्हें बड़ा सन्मान मिला ।[1]

नवीनजो ने ब्रजभाषा के एक महत्वपूर्ण संग्रह-ग्रंथ को तैयार किया, जिसे 'प्रबोधसुधासागर' या 'सुधासर' कहा जाता है। इसके एक अंश को बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने छपाया था। इसकी कुछ दुर्लभ हस्तलिखित प्रतियाँ नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा खोज में मिली थीं[2] । सम्पूर्ण ग्रंथ में ६ तरङ्ग हैं—शृंगार, ब्रज-रसरीति, राज-समाज, राजनीति, भक्ति-निर्वेद तथा दानलीला । इसमे ब्रजभाषा के कितने ही ज्ञात-अज्ञात कवियों की रचनाएँ विषयानुसार दी हैं । नवोनजी ने अपने भी कई छंद इसमें दिए हैं ।

नवीन कृत तीन अन्य ग्रंथ बताए जाते हैं—'सरसरस', 'रसतरंग' तथा 'नेहनिदान' । पहले दो सम्भवतः प्रबोधसुधासागर के ही अंग हैं । 'नेहनिदान' २१ दोहों तथा २५ घनाक्षरियों का सुन्दर संग्रह है । रचना का उदाहरण—

यमुना—वर्णन

और हरियाई में सकल जग तेरी कांति,
हरिहू के हीतल की सीतल करैया तू ।
कोमल पुलिन रसरास की थली तू भली,
भक्तन के प्रेमपन-पद को दिवैया तू ।।
बानिक विसेस सेस गावत न पावै पार,
नित ही 'नवीन' जस-पुंज उपजैया तू ।
रस में रसारी रसरङ्ग सरसारी वारी,
वृंदावन वारी प्यारी तरनि-तनैया तू ।।

लाला साधूराम

ये ग्वालजी के शिष्य अग्रवाल थे और मथुरा के चौक बाजार में कपड़े की दूकान करते थे । इनकी मृत्यु सं० १९४३

---

१. द्र० श्री भवानीशङ्कर याज्ञिक का लेख, विशाल भारत के ऐंड्रूज अङ्क (जनवरी, १९४१) में प्रकाशित ।

२. देखिए 'ब्रजभारती', वर्ष १, अङ्क ४, पृ० १९ ।

(१८८६ ई०) में हुई। योगी गोपीचंद की कथा पर १०८ छंदों में इन्होंने एक प्रबन्ध-काव्य लिखा था। अन्य फुटकर छंद भी मिले है, जिनसे पता चलता है कि इन्हें पिंगल का अच्छा ज्ञान था और ये सरस कविता करते थे। रचना का उदाहरण—

> जान दे री, जमुना के कूल फूल बीनबे कूँ,
> रोकै मत गैल, सैल बागन कूँ जान दै।
> जान दे री, झूलना झुलामन कूँ आज नेंक,
> गड़ौ है हिंडोरौ बट ताके तट जान दै॥
> जान दै री, बरसा बुढ़ात दिन द्वै -इक में,
> 'साधू' यों कहत री घटान घटि जान दै।
> जान दे री, साँमरे सलोने नँद-नन्दन पै,
> चूँदरी चुचात याकौ रङ्ग बहि जान दै॥

किशोर

ये मथुरा के सनाढ्य ब्राह्मण थे। लाला साधूराम जी की दुकान के पास मथुरा चौक में आपकी दुकान थी। थे आशु कवि के रूप मे भो प्रसिद्ध थे।

खड़्ग कवि

ये माथुर ब्राह्मण थे। दतिया-नरेश भी इनके यजमान थे। कहते हैं कि इनको चाची 'सतिया' भी कविता करती थी। उसके साथ खड़्गजी की कविता में चोंचें हुआ करती हैं। अनेक फुटकर छंद और भड़ौए खड़्गजी-कृत कहे जाते हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त वृन्दावन के हरदेवजी, ब्रजभाषा तथा संगीत के अद्वितीय ग्रंथ 'राग कल्पद्रुम' के संग्रहकर्त्ता उदयपुर-निवासी श्री कृष्णानंद व्यास, सीतामऊ के राजकुमार रत्नसिंह 'नटनागर', असनी के सेवक कवि, रीवां-नरेश महाराज रघुराजसिंह, रावलपिंडी वाले श्री नारायण स्वामी, मथुरा निवासी रंगीलालजी, स्वनामधन्य राजा लक्ष्मणसिंहजी, काशी के बेनी द्विज तथा सरदार कवि, गुजरात के कविवर गोविंद गिल्ला भाई, अयोध्या के बाबा

रघुनाथदासजी, पं० नकछेदी तिवारी उपनाम 'अजान', हनुमान कवि, लखनऊ के भक्तप्रवर बंधुद्वय ललितकिशोरीजी तथा ललितमाधुरी जी, बस्ती के लच्छीराम, गोकुल-निवासी गोपभट्ट, वृन्दावन के लाल बलवीरजी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से कई तो भारतेन्दुजी के समय या उनके बाद तक वर्तमान रहे।

रीवाँ–नरेश रघुराजसिंहजी (सं० १८८० से १९३६) ने सम्पूर्ण भागवत का अनुवाद 'आनंदाम्बुनिधि' नाम से ब्रजभाषा में किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'राम-स्वयंवर', 'रुक्मिणी-परिणय' 'रामाष्टयाम' आदि कई ग्रंथ लिखे। इनके यहाँ अनेक अच्छे कवि रहते थे। राजा लक्ष्मणसिंह ने अभिज्ञान शाकुंतल, मेघदूत, रघुवंश आदि ग्रंथों के अत्यंत सुन्दर अनुवाद ब्रजभाषा में किए। इनसे इनकी प्रतिभा और भावुकता का पता चलता है। काशी के सरदार कवि ने अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना के अतिरिक्त केशव सूर, बिहारी आदि के ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं। सूर के कूटों का उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ अर्थ निकाला। श्री गोविंद गिल्लाभाई ने भूषण की रचनाओं का प्रामाणिक संस्करण निकाला। ब्रजभाषा में उन्होंने कई ग्रन्थ स्वयं लिखे। लखनऊ के शाह-बन्धुओं कुंदनलाल तथा फुंदनलाल ने 'ललितकिशोरी' तथा 'ललितमाधुरी' नाम से बड़ी सरस एवं भक्तिपूर्ण रचनाएँ कीं।

ब्रजभाषा का प्राचीन गद्य साहित्य

हिंदी पद्य साहित्य में ब्रजभाषा काव्य का महत्व सर्वमान्य है, किंतु गद्य साहित्य में भी ब्रजभाषा की रचनाओं का कम महत्व नहीं है। आजकल हिंदी गद्य साहित्य का अभिप्राय खड़ी बोली के सर्वव्यापी साहित्य से लिया जाता है, किंतु यह समस्त साहित्य एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। पटियाला के रामप्रसाद निरंजनी, प्रयाग के मुन्शी सदासुखलाल, लखनऊ के इंशाअल्ला खाँ, आगरा के लल्लूलाल और पटना के सदल मिश्र ने १९वीं शती के लगभग जिस साहित्य का बीजारोपण किया, वही आज विशाल वृक्ष के रूप में लहलहा रहा है। १९वी शती से पूर्व का प्राय: समस्त गद्य साहित्य ब्रजभाषा में निर्मित हुआ था, जिसकी परम्परा १४वीं शती से चली आ रही थी।

हिंदी साहित्य के इतिहास में १४ वीं से १९ वीं शती तक पांच सौ वर्षों का काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उस काल में उस महान् ब्रजभाषा-काव्य का निर्माण हुआ जिस पर हिंदी के मध्य-कालीन साहित्य का गौरव आधारित है। उस काल में जो गद्य-साहित्य निर्मित हुआ वह पद्य साहित्य की तुलना में बहुत कम है; किंतु इसीलिए उसका महत्व कम नहीं। वह युग गद्य का नहीं था। आजकल की वैज्ञानिक आवश्यकताओं ने गद्य की माँग को बेहद बढ़ा दिया है, किंतु उस काल मे उसकी बहुत कम आवश्यकता प्रतीत होती थी। कुछ सीमित रचनाओं में, जैसे धर्म-प्रचार, कथा-वार्ता आदि के ग्रंथों में, ही गद्य की आवश्यकता होती थी। इसकी पूर्ति मुख्यतया ब्रजभाषा के गद्य-ग्रन्थों द्वारा हुई। हिंदी की बोलियों में ब्रजभाषा के बाद राजस्थानी में उस काल की कुछ गद्य रचनाएं उपलब्ध होती हैं। ब्रजभाषा गद्य के वचनिका, वार्ता और भाषा

तथा राजस्थानी गद्य के ख्यात, बात आदि नाम प्रसिद्ध थे। ब्रज-भाषा गद्य की परम्परा प्रायः उतनी ही पुरानी मिलती है जितनी ब्रजभाषा पद्य की। 'पृथ्वीराज रासो' के रचना-काल और उसकी भाषा से सम्बन्धित समस्याएँ विवादग्रस्त है, किंतु यदि रासो में हिंदी की आदिकालीन कविता के अंश भी विद्यमान हैं, तब उसकी पिंगल भाषा में रचे हुए छंदों को ब्रजभाषा का प्राचीन पद्य और उसकी वचनिकाओं को प्राचीन गद्य कहा जा सकता है। राजस्थान में प्राप्त प्राचीन राजाज्ञाओ, सनदों, पट्टों और ताम्रपत्रों की भाषा भी यदि पिंगल है तो उनमें भी प्राचीन ब्रजभाषा गद्य के तत्व ढूँढ़े जा सकते हैं। यह विषय वस्तुतः साहित्य-शोधकों और भाषा-शास्त्रियों के अनुसंधान का है।

ब्रजभाषा का जितना साहित्य अब तक प्रकाश में आया है। उससे ज्ञात होता है कि उसके निर्माण और प्रचार में धर्मोपदेशकों और धार्मिक महापुरुषों का विशेष हाथ रहा है यह बात जहाँ पद्य के लिए सत्य है वहाँ गद्य के लिए भी। अब तक के उपलब्ध ग्रन्थों मे ब्रज भाषा गद्य का सर्वप्राचीन रूप गोरखपंथी साधुओं की रचनाओं में मिलता है, जिसका उदाहरण इस प्रकार है—

श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द आनन्द-स्वरूप है सरीर जिन्हि कौ। जिन्हि के नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है।

आचार्य शुक्ल जी—जैसे मर्मज्ञ विद्वान् इसे "निश्चयपूर्वक ब्रजभाषा गद्य का पुराना रूप" और "सं० १४०० के ब्रजभाषा गद्य का नमूना" मानते हैं[१]। इसके दो सौ वर्ष बाद वल्लभ संप्रदाय का विपुल वार्ता-सहित्य उपस्थित होता है। वार्ता-साहित्य से कुछ पूर्व के लिखे हुए विभिन्न धर्माचार्यों के कतिपय पत्र भी उपलब्ध हैं।

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४०३-४।

इनमें श्री हित हरिवंशजी (सं० १५५६–१६०६) और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी (सं० १५७२–१६४२) द्वारा अपने सेवकों को लिखे हुए पत्र उल्लेखनीय है। श्री हित जी ने सं० १६०० के लगभग दो पत्र अपने प्रिय शिष्य बीठलदास को और श्री गोसाईं जी ने सं० १६२० के लगभग एक पत्र अपने सेवक को लिखा था। हित जी के पत्र का निम्नांकित उद्धरण सुव्यवस्थित गद्य का नमूना कहा जा सकता है—

तुम कुशल स्वरूप हौ। तिहारे हस्ताक्षर बारम्बार आवत हैं, सुख अमृत स्वरूप हैं। पत्री बाँचत आनन्द उमड़ि चलै है। मेरी बुद्धि कौं इतनी शक्ति नहीं जो कहि सकौं, पर तोहि जानत हौं। श्री स्वामिनी जू तुम पर बहुत प्रसन्न हैं। हम कहा आशीर्वाद देयँ। हम यही आशीर्वाद देत हैं कि तिहारौ आयुष बढ़ौ, और तिहारी सकल सम्पत्ति बढ़ौ, तिहारे मन कौ मनोरथ पूरण होहु। हम नेत्रनि सुख देवें, हमारी भेट यही है।

गोरखपंथी और वल्लभ सप्रदायी रचनाओं के निर्माण-काल में दो शताब्दियों का अन्तर है। इस अन्तरिम काल की ब्रजभाषा गद्य की रचनाएँ अल्प मात्रा में ही मिली हैं।

वल्लभ सम्प्रदायी वार्ताओं की सुव्यवस्थित और पुष्ट गद्य-शैली ब्रजभाषा गद्य की अविच्छिन्न परम्परा का आभास देती है। नवीन शोध में सूर-पूर्व के कतिपय ब्रजभाषा काव्य ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। उस काल की ब्रजभाषा गद्य-रचनाएँ भी खोज में मिल सकती हैं।

वल्लभ संप्रदायी वार्ताओं के निर्माताओं में गो० गोकुलनाथ जी (सं० १६०८–१६९७) और गो० हरिरायजी (सं० १६४७ –१७७२) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। गो० गोकुलनाथ जी कृत अनेक वार्ता ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। उनमें 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'खटऋतु वार्ता', 'भावसिंधु' 'नित्य सेवा प्रकार', 'उत्सव भावना' और 'श्रीजी के स्वरूप की

भावना' मुख्य हैं। गो० हरिराय जी वार्ता-साहित्य के महान् लेखक हुए हैं। उन्होंने १२५ वर्ष के सुदीर्घ जीवन-काल में विशाल वार्ता-साहित्य का निर्माण किया। उनके रचे ३० से भी अधिक वार्ता-ग्रन्थ प्रसिद्ध है। उनमें 'चोरासी वार्ता' और 'दो सौ बावन वार्ता' के भावनात्मक सस्करण, 'द्वादस निकुज की भावना', 'नित्य लीला भावना', 'उत्सव भावना', 'रास प्रसङ्ग' और 'गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' विशेष महत्वपूर्ण है। गो० हरिराय जी की प्रचुर रचनाओं ने ब्रजभाषा गद्य के स्वर्णयुग का निर्माण किया। उनके पश्चात् श्री द्वारकेशजी भी वार्ता-साहित्य के प्रमुख निर्माता हुए। उनका समय सं० १७५१ से १८०० के लगभग है। उनकी रचनाओं में 'श्रीनाथ जी आदि सात स्वरूपन की भावना', 'उत्सव भावना' और 'भाव भावना' विशेष प्रसिद्ध है। इन प्रमुख वार्ताकारो के अतिरिक्त अन्य लेखकों ने भी समय-समय पर वार्ताओं की रचना की। अब तक की खोज में लगभग एक सौ वार्ता-ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं। यह विशाल साहित्य ब्रजभाषा गद्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग है।

वार्ताओं के अनुकरण पर अन्य सम्प्रदायों में भी गद्य ग्रंथों का निर्माण हुआ। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में जहां विशाल वाणी-साहित्य की रचना हुई वहाँ गद्य ग्रंथ भी पर्याप्त रचे गए। ध्रुव-दास ने सं० १६५० के लगभग 'सिद्धांत विचार' नामक एक महत्व-पूर्ण गद्य ग्रंथ की रचना की। इस सम्प्रदाय के अन्य भक्तों में दामो-दर स्वामी कृत 'भक्ति विवेचन', प्राणनाथ कृत 'हस्तामलक', अनन्य अली कृत 'स्वप्न विलास,' गो० चतुर शिरोमणिलाल कृत 'भावना सागर,' गो० रंगीलाल कृत 'ब्रजप्रेमानन्दामृत' और श्री स्वामिनी-शरण कृत 'हितामृतसिंधु' उल्लेखनीय गद्य-रचनाएँ हैं। किशनगढ़ नरेश सावंतसिंह उपनाम नागरीदास ने कई गद्य ग्रंथों की भी रचना की। उनके रचे हुए 'भागवत पारायन विधि प्रकास,' 'गोपी

पवित्र' की मूल रचना सं० १६०० से कुछ पूर्व हुई थी, किंतु इन ब्रजभाषा गद्य ग्रंथों की सबसे प्राचीन प्रति सं० १७५४ की प्राप्त हुई है। इसी ग्रंथ का एक अनुवाद रामहरि के नाम से सं० १८२४ का लिखा हुआ मिला है।

वि० १७ वी शती के अंत में वैकुण्ठमणि शुक्ल ने 'वैशाख महात्म्य' और 'अगहन माहात्म्य' की रचना की। १८ वीं शती के आरंभ में दादू संप्रदाय के साधु दामोदरदास ने 'मार्कण्डेय पुराण' का और ओरछा-निवासी मेघराज प्रधान ने 'अध्यात्म रामायण' का भावानुवाद किया। 'भाषा-भूषण'-कार महाराज जसवंतसिंह ने 'प्रबोध चंद्रोदय नाटक' और माथुर कृष्णदेव ने 'भागवत भाषा' की रचना की। गीता की भी अनेक ब्रजभाषा-टीकाएँ की गईं। सं० १७५६ में भगवानदास ने 'भाषामृत' के नाम से गीता की टीका की। सं० १७६१ में आनन्दराय ने गीता की टीका की, उसमें गद्य के साथ पद्य भी है। अठारहवीं शती के अन्त में रची हुई गीता की एक और टीका प्राप्त हुई है, किंतु उसके रचयिता का नाम अज्ञात है। सं० १८०० के लगभग 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की गई। उसके रचयिता का नाम भी अज्ञात है। गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरित मानस और नाभाजी कृत 'भक्तमाल' की भी अनेक ब्रजभाषा टीकाएँ प्राप्त हुई हैं। श्री हित हरिवंश-कृत 'चतुरासी' की भी अनेक टीकाएँ हुईं। गद्यात्मक टीकाओं का नामोल्लेख श्री किशोरी शरण 'अलि' ने किया है।[1] निंबार्क संप्रदाय के साहित्यकारों ने ब्रज-भाषा गद्य में अनेक सुन्दर टीकाओं की रचना की।

वैष्णव संम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के अनेक विद्वानों ने भी ब्रजभाषा गद्य ग्रन्थों की रचना की। जैन धर्मानुयायिओं ने अति प्राचीन काल से लोकभाषा के माध्यम द्वारा अपने विचार प्रकट

१. ब्रजभारती, वर्ष १५, अङ्क १।

किए। अपभ्रंश भाषा, उसके बाद 'पुरानी हिन्दी' का उपलब्ध साहित्य अधिकतर जैन विद्वानों द्वारा रचा हुआ है। इस साहित्य का विशेष महत्व है। डा० ज्योतिप्रसाद जैन का ब्रज के जैन साहित्यकारों पर एक विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है।[1] उसमें जैन विद्वानों द्वारा लिखे हुए ब्रजभाषा गद्य ग्रथों का भी उल्लेख है। सबसे पुरानी रचना बनारसीदास (सं० १६४३-१७००) की प्राप्त हुई है। वे मध्यकालीन जैन साहित्यकारों में शिरोमणि थे। उनके बाद पांडे हेमराज (सं० १६७५-१७२६) गद्य के बहुत बड़े लेखक हुए। उन्होंने अनुवाद, टीका और वचनिका के रूप में प्रायः १,००० पृष्ठों का गद्य लिखा। उनके बाद पं० दौलतराम (लगभग स० १७५० से १८२६ तक) ने १०-१२ बड़े बड़े ग्रंथ लिखे, जो सभी गद्य में है। हिंदी के मध्यकालीन गद्यकारों में दौलतराम का महत्वपूर्ण स्थान है। उनके पश्चात् विलासराय ने स० १८३७ में 'नयचक्र वचनिका' एव 'पद्मनंदि पचीसी वचनिका', नंदराम ने स० १६०४ में 'योगसार की भाषा गद्य वचनिका' और भागचन्द ने 'नेमिनाथ पुराण' आदि ग्रंथों की टीकाएँ लिखी। इन लेखकों की रचनाओं में ब्रजभाषा गद्य के भी अनेक ग्रंथ है।

इस प्रकार ब्रजभाषा गद्य मे लिखे गए धार्मिक ग्रंथों की सख्या बहुत अधिक है। धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त जिन अन्य विषयों की रचनाएँ हुईं उनमें ब्रजभाषा के काव्य ग्रंथों की टीकाएँ सबसे अधिक हैं। बिहारी, केशव, मतिराम आदि के ग्रंथों की टीकाएँ अधिक हुई हैं। 'बिहारी सतसई' पर ब्रजभाषा गद्य में लगभग २० टीकाएँ लिखी गईं। उनमें 'अनवर चंद्रिका', साहित्य चंद्रिका, 'अमर चंद्रिका', ईसवीखाँ की 'रस चंद्रिका' और सूरति मिश्र तथा सरदार कवि की टीकाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। केशवदास की 'कविप्रिया', 'रसिक प्रिया' और 'रामचद्रिका' पर भी अनेक टीकाएँ

---

१ ब्रजभारती, वर्ष १४, अङ्क ४।

अप्रलब्ध हैं। सूरतिमिश्र द्वारा की हुई 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की टीकाएँ अपना विशेष स्थान रखती हैं। मतिराम के 'रसराज' पर भी कुछ टीकाएँ प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कवियों के प्रमुख ग्रंथों पर भी कतिपय टीकाएँ मिली हैं। इन टीकाओं का उद्देश्य कवि के भावों को सरल भाषा में स्पष्ट करना है। किंतु कुछ की शैली इतनी जटिल है कि उनसे वास्तविक उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती।

काव्य ग्रंथों की टीकाओं के अतिरिक्त वैद्यक, ज्योतिष कथा-कहानी, इतिहास आदि विषयों के मूल और अनुवादित ग्रंथ भी ब्रजभाषा गद्य में रचे गए। सं० १६५० के लगभग 'भुवन दीपिका' नामक सटीक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना हुई। सं० १७५० में देवीचंद ने 'हितोपदेश' का और सं० १७६८ में सूरति मिश्र ने 'वैताल पञ्चविंशति' का संस्कृत से ब्रजभाषा गद्य में अनुवाद किया। सूरति मिश्र की इसी रचना के आधार पर बाद में लल्लू-लालजी ने खड़ी बोली में 'वैताल पच्चीसी' की रचना की। सं० १७०० के लगभग 'कोक कथा' और 'कोक मंजरी' की रचना हुई। ये सब ग्रंथ ब्रजभाषा गद्य के कथा-साहित्य की रचनाएँ हैं। स० १८२० के लगभग रचा हुआ मुगल बादशाहों का संक्षिप्त इतिहास प्राप्त हुआ है, जिसके लेखक का नाम अज्ञात है। सं० १८५२ में हीरालाल ने 'आईन अकबरी' की भाषा में 'वचनिका' लिखी। इनके अतिरिक्त ब्रजभाषा गद्य के दो-एक इतिहास ग्रंथ और भी उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन नाट्य साहित्य में भी ब्रजभाषा गद्य के कुछ नमूने प्राप्त हुए हैं।

ब्रजभाषा गद्य के सिंहावलोकन से ज्ञात होता है कि उसमें धार्मिक ग्रंथों की संख्या अधिक होते हुए भी अन्य विषयों की भी रचनाएँ हुई। अभी तक इस साहित्य का पूरी तरह अन्वेषण नहीं हुआ। आशा है भविष्य में और भी महत्वपूर्ण ग्रंथ प्राप्त होंगे, जिनसे ब्रजभाषा गद्य के विकास का पता चल सकेगा।

अध्याय ५

ब्रज का आधुनिक साहित्य

[भारतेन्दु से अब तक]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से हिंदी साहित्य के नये युग का आरम्भ हुआ। भारतेन्दुजी हिंदी-काव्याकाश के ऐसे प्रकाश हैं जिनकी शीतल चंद्रिका से प्रत्येक हिंदी प्रेमी का मन-कुमुद विकसित है। उन्होंने यद्यपि गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली को स्थिर किया, परन्तु काव्य-भाषा के रूप में उनके रसिक हृदय ने अंत तक ब्रजभाषा का साथ नहीं छोड़ा। वह युग-निर्माता महापुरुष थे और आज के ब्रजभाषा-काव्य पर उनके व्यक्तित्व का अमिट प्रभाव पड़ा है। भारतेंदुजी ने ब्रजभाषा को भाषा की दृष्टि से परिष्कृत करके उसके उस रीतिकालीन स्वरूप को सँभाला जो जनता से दूर होता जा रहा था और उसको पुनः जनता के लिए हृदय-गम्य बनाया। उन्होंने कविता को पहली बार नए युग के अनुरूप नए विषय दिए और कविता-कामिनी को नायिका के केश-पाश के बंधन से मुक्त किया। देश-प्रेम और जागरण का जो मंत्र उन्होंने फूँका उसने एक नई चेतना को जन्म दिया—

आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई!

ऐसा कहकर उन्होंने कवि को समय के साथ चलकर संसार को या स्वदेश को अनुभूतिपूर्ण नेत्रों से देखने के लिए नेतृत्व प्रदान किया; उसे कल्पनाकाश का व्योम-विहारी पक्षीमात्र बन जाने से बचाया। इसके अतिरिक्त भारतेंदुजी ने कवियों के निर्माण में भी बड़ा योग दिया। वह सच्चे गुण-ग्राहक थे और अपने समय के कुशल कलाकारों को मान, धन और हार्दिक प्रेम प्रदान करके उन्होंने उन्हें हिंदी की सेवा के लिए तैयार किया।

कवियों को प्रोत्साहन देने के लिए ही आपने 'कवि-वचन-सुधा' पत्रिका निकाली और 'कविता-वर्द्धिनी सभा' की स्थापना की।

भारतेंदुजी के समय कविता और समस्या-पूर्तियों की काशी नगरी केंद्र थी। उनके द्वारा संस्थापित कवि-सभाओं में गोष्ठियों की परिपाटी खूब पनपी। इन गोष्ठियों में भाग लेने वाले अग्रगण्य कवियों में पं० सुधाकर द्विवेदी, अंबिकादत्त व्यास, बाबू रामकृष्ण वर्मा, ब्रजचंद जी वल्लभीय, बेनी द्विज आदि थे। वर्माजी इस समाज के मंत्री थे। इस कवि-समाज में बाहर के भी बड़े-बड़े प्रसिद्ध कवि उपस्थित होते थे या डाक से ही समस्या-पूर्ति करके भेजते थे। इनमें से निम्न नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—बाबा सुमेरसिंह, श्रीमती चंद्रकला बाई (बूँदी), बाबू शिवनदन सहाय (सीहौर), गोविंद गिल्ला भाई (काठियावाड़), ठाकुर रामेश्वर बक्ससिंह (सीतापुर), कविराय लच्छीराम (अयोध्या) और श्री नवनीत चतुर्वेदी (मथुरा)।

भारतेन्दुजी का जन्म काशी में सं० १९०७ (१८५० ई०) में हुआ। इनके पिता गिरिधरदासजी ब्रजभाषा के प्रौढ़ कवि एवं अनेक ग्रंथों के रचयिता थे। खेद है कि भारतेन्दुजी का भौतिक शरीर बहुत कम समय तक ही हमारे बीच रहा और वह अल्पायु में ही सं० १९४२ (१८८५ ई०) में हिंदी-जगत् को अनाथ छोड़ कर चल बसे। अपने यश:शरीर से वह सदा ही माता नागरी के मानस-हंस पर आसीन रहेंगे। भारतेंदुजी अपनी छोटी-सी आयु में ही हिंदी का जो कार्य कर या करा गए, वह वहुत समय में कई संस्थाओं द्वारा भी होना संभव नहीं हुआ। वास्तव में वह स्वयं अपने आप में एक महान् संस्था थे। उन्होंने कितने ही विषयों पर रचनाएं की। भक्ति तथा रीतिकाल के साथ उन्होंने वर्तमान का जो सामंजस्य किया उससे भारतेन्दुजी की बहुमुखी प्रतिभा का अनुमान किया जा सकता है।

भारतेन्दुजी की ब्रजभाषा-रचनाओं के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

ब्रज के लता-पता मोहिं कीजै।
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जामैं सिर भीजै॥
आवत-जात कुंज की गलियँन, रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे-राधे मुख यह बर, मुँह माँग्यौ हरि दीजै॥

शृंगार-परक

हमहूँ सब जानतीं लोक की चालहिं, क्यों इतनौ बतरावती हौ।
हित जामैं हमारो बनैं सो करौ, सखियाँ तुम मेरी कहावती हौ॥
'हरिचंद जू' यामैं न लाभ कछू, हमैं बातन क्यों बहरावती हौ।
सजनी मन पास नहीं हमरे, तुम कौन को का समुझावती हौ॥

राव कृष्णदेवशरणसिंह जी 'गोप'—

गोप जी भारतेंदु जी के समकालीन और उनके निकटवर्ती मित्रों में थे। आप भरतपुर के राजवंश से संबंधित थे।

श्रीकृष्ण के आप अनन्य भक्त थे और प्रायः अपने यहाँ रासलीला कराया करते थे। जब काशी में कवि-समाज स्थापित हुआ तो आप भी उसके सदस्य हो गए। इनकी अधिकांश रचनाएँ 'हरिश्चद्र-चंद्रिका या 'हरिश्चंद्र-मेगजीन' में छपी थीं। इनके निबंधों का एक अंश मिर्जापुर की 'आनंदकादंबिनी' पत्रिका में, जिसका संपादन भारतेंदु जी को 'सखा' पं० बद्रीनारायण चौधरी (आप अपने को 'सखा' ही कहा करते थे) करते थे, में भी छपा था। इनका 'प्रेम-संदेश' तथा 'मान-चरित्र' हरिश्चंद्र मेगजीन में तथा 'दोहावली' हरिश्चंद्र-चंद्रिका में छपी थी। उदाहरण—

प्यारी, मोहिं अचंभौ आयौ।
सुनि त्रिभुवन में कोऊ सर नहिं, देखत ही मन भायौ।
तो पटतर औरहु कोउ कहुँ ते, बिधि दूजौ सिरजायौ।
प्यारी मो पै रह्यौ गयौ नहिं, यह सुनि हौं उठि धायौ।
पूंछि देखिए सखी संग में, जो मैं झूंठ कहायौ।
'गोप' स्वाँमिनी भोरे जो की, सब साँचौ करि पायौ॥

श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

प्रेमघन जी की अनुप्रासमयी ललित रचना भारतेंदु-मंडल में प्रसिद्ध थी। आप केवल काव्य क्षेत्र में ही नहीं, वरन् जीवन के सभी क्षेत्रों में भारतेंदु जी से प्रभावित हुए। आपने 'आनंद-कादंबिनी' मासिक और 'नागरी-नीरद' साप्ताहिक प्रकाशित किया था। आप नागरी-प्रचार के पक्के समर्थक थे। प्रेमघन जी का जन्म संवत् १९१२ (१८५५ ई०) में और मृत्यु संवत् १९७९ (१९२२ ई०) में हुई। आपका अधिकांश जीवन मिर्जापुर में व्यतीत हुआ। कविता का उदाहरण—

बगियाँन बसंत बसेरौ कियौ, बसिए तिहि त्याग तपाइए ना।
दिन काँम कुतूहल के जो बने, तिन बीच बियोग बुलाइए ना॥
'घनप्रेम' बढ़ाइ के प्रेम अहो, बिथा-बारि वृथा बरसाइए ना।
चित-चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबे की चलाइए ना॥

प्रतापनारायण जी मिश्र

प्रतापनारायण जी भारतेंदु-मंडल के बहुत ही विनोद-प्रिय, मस्त और सजीव कवि थे। आपने अपनी मन की मौज में सरस सवैयों से लेकर लावनियाँ तक लिखी हैं। मिश्र जी का जन्म संवत् १९१३ (१८५६ ई०) में और मृत्यु संवत् १९५१ (१८९४ ई०) में हुई। जहाँ आपने अपने को बेजोड़ निबंधों के कारण इतिहास में अमर किया है वहाँ कविता में 'हरगङ्गा' से लेकर 'गौ रक्षा', 'बुढ़ापा' आदि के सजीव वर्णनों के साथ देश की दुर्दशा पर भी आँसू बहाये हैं—

तबहिं लख्यौ जहँ रह्यौ एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटी कों तरसत॥
जहाँ कृषी, वानिज्य, सिल्प सेवा सब माँही।
देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसेहु नाँही॥
कहिय कहाँ लगि नृपति, दबे हैं जहँ रिन-भारन।
कहँ तिन की धन कथा, कौन जे गही सधारन॥

पं० नाथूरामजी शर्मा 'शंकर'

शर्माजी प्रतापनारायण मिश्र के घनिष्ट मित्र थे। आपका जन्म संवत् १९१६ (१८५९ ई०) में और अवसान १९८९ (१९३२ ई०) में हुआ। कवि-समाजों में 'शङ्कर' जी की समस्याओं की बड़ी धाक थी और उनका सर्वत्र पगड़ी, दुशालों और पदकों से स्वागत होता था। आप ब्रजभाषा के रससिद्ध कवि थे, किन्तु बाद में खड़ी बोली की ओर आकर्षित हो गए। आपका एक वियोग-वर्णन यहाँ दिया जाता है—

संकर नदी नद नदीसँन के नीरन की, भाप बन अंबर ते ऊँची चढ़ि जाइगी
दोनों ध्रुव छोरँन सों पल में पिघल कर, घूँम-घूँम धरनी धुरी-सी बढ़ि जाइगी
झारेंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति, जारेंगे खमंडल में आग मढ़ि जाइगी
काहू विध विधिकी बनावट बचैगी नाहिं, जो पै वा वियोगिनीकी आह कढ़ि जाइगी

ठाकुर जगमोहनसिंह

ठाकुर साहब का जन्म सं० १९१४ (१८५७ ई०) में और मृत्यु सं० १९९० (१९३३ ई०) में हुई। आप भारतेन्दु-परिवार के अग्रगण्य कवियों में से थे। आपने लौकिक के माध्यम द्वारा आध्यात्मिक प्रेम का भक्तिमय सुंदर वर्णन किया है। आलंबन के रूप में प्रकृति की नैसर्गिक छटा के सुंदर शब्दचित्र भी खींचे हैं। उदाहरण—

याही मग ह्वै कें गए, दंडक बन श्रीराम।
तासों पावन देस वह, बिंध्याटवी ललाम॥
बिंध्याटवी ललाम, नीर तरुवर सों छाई।
केतकि, कैरव, कुमुद, कमल सब रहे सुहाई॥
भन 'जगमोहनसिंह', न सोभा जात सराही।
ऐसो बन रमनीक, गए रघुबर मग याही॥

लाला सीताराम, बी० ए०

लालाजी का जन्म-सं० १९१५ (१८५८ ई०) है। आपने कई अंग्रेजी ग्रंथों का और महाकवि कालिदास के तीनों काव्यों के सफल अनुवाद किए। रघुवंश के अनुवाद का कुछ अंश यहाँ दिया जाता है—

प्रिया फेरि अवधेस कृपाला। रच्छा कीन तासु तिहि काला॥
ब्रत में चले गाइ करि आगे। सेवक सेक सकल नृप त्यागे॥
इन केवल निज बीर्ज अपारा। मनु संतति तन रच्छन-हारा॥
कबहुँक मृदु तृन नोंचि खिआवत। हाँकि माछि कहुँ तनहिं खुजावत॥
जो दिस चलत चलत सोई राहा। इहि बिधि तिहिं सेवत नरनाहा॥

श्री राधाचरण जी गोस्वामी

विद्यावागीश गोस्वामी राधाचरण जी भारतेन्दु-मंडल के प्रभापूर्ण नक्षत्रों में थे। आपका जन्म-सं० १९१५ (१८५८ ई०) है। गोस्वामी जी अपने संप्रदाय के आचार्य एवं वृन्दावन के प्रमुख रईस थे। आप आरंभिक हिंदी—लेखकों में अग्रगण्य माने जाते हैं, परंतु गोस्वामी जी ब्रजभाषा के कुशल कवि भी थे। आपकी कविता-पुस्तक 'नव-भक्त-माल' ब्रज-साहित्य-मंडल के हस्तलिखित-ग्रंथों की शोध में प्राप्त हुई है। इसमें गोस्वामी जी ने भारतेन्दु जी की गणना नवीन भक्तों में करते हुए लिखा है—

बनिज बंस अवसंत धैर्ज धीरज बपु-धारी।
चौंसठ कला प्रबीन प्रेम-मारग प्रतिपारी॥
विद्या, विनय, विसिष्ट सिष्ट समुदाइ समाजित।
कविता कल कमनीय कृष्ण-लीला जग प्लावित॥
कई लच्छ बाँनी भगतमाल उत्तरारध करन।
आदि-अन्त सोभित भए, हरीचंद प्रातःस्मरन॥

पं० अम्बिकादत्त 'व्यास'

व्यास जी का जन्म सं० १६१५ (१८५८ ई०) में और मृत्यु सं० १६५७ (१६०० ई०) में हुई । आप आशु कवि थे। काशी की 'ब्रह्मामृत-वर्षिणी' सभा ने इनको 'घटिका शतक' की पदवी प्रदान की थी । आपने बिहारी के दोहों पर 'बिहारी-बिहार' लिखा, जिसमें सतसई के प्रत्येक दोहे पर कुंडलिया लिखी है । हिंदी के साथ ये संस्कृत के भी विद्वान् थे। खड़ी बोली पद्य में भी आपने 'कंस-वध' लिखा था । ब्रजभाषा में इन्होंने अनेक फुटकर कविताएँ लिखी हैं।

बाबू राधाकृष्णदास

आपका जन्म काशी में सं० १६२२ (१८६५ ई०) में हुआ था। आप भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई थे । भारतेन्दु जी के काम को आगे बढ़ाने में इन्होंने बड़ा प्रयत्न किया । रहीम के दोहों पर आपने सरस कुंडलियाँ लिखी हैं । आपकी कविताओं का एक संग्रह 'राधाकृष्ण-ग्रन्थावली' नाम से निकला था, परन्तु अभी आपकी बहुत सी रचनाएं अप्रकाशित हैं। एक सवैया—

मोहन की यह मोहिनी मूरति, जीय सों भूलत नाहिं भुलाए ।
छोरन चाहत नेह कौ नातौ, कोऊ विधि छूटत नाहिं छुटाए ।।
'दासजू' छोरि कै प्यारे हहा, हमें और के रूप पै जाइ लुभाए ।
भूलि सकै अब कौन जिया, इन तौ हँसिकै पहिले ही चुराए ।।

ब्रजचंद्रजी वल्लभीय

वल्लभीय जी के कवित्त-सवैया भारतेन्दु जी की ही टक्कर के होते थे । यहाँ तक कि कुछ छंदों को 'ब्रजचंद' के स्थान पर 'हरिचंद' करके लोगों ने बाद में हरिश्चन्द्र जी के नाम से ही प्रचलित कर दिया । इनका कोई ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला। काशी के भारतेन्दु-कालीन कवियों में ये भी थे ।

नवनीतजी

नवनीतजी आधुनिक ब्रज के प्रतिनिधि कवि के रूप में मान्य

हैं। इनका जन्म मथुरा में सं० १६१५ (१८५८ ई०) में हुआ । ये ब्रजभाषा के अमर पीयूषवर्षी कवि हुए । अपना जीवन नवनीतजी ने ब्रजभाषा की गरिमा बढ़ाने में लगाया । इनके लिखे अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें से मुख्य ये हैं—'स्नेहशतक', 'प्रेम पचीसी', 'गोपी-प्रेम-पीयूष प्रवाह', 'कुब्जा पचीसी', 'रहिमन शतक' तथा 'श्यामांगावयव भूषण'। 'कुब्जा पचीसी' का एक उदाहरण—

तब ते अँखियान निहारत हीं, अब जे अँखियान ते रोयो करो ।
'नवनीतजू' चाह करी न तबै, अब चाह की चाह न जोयो करो ॥
तब तो सुख-सिंधु हिलोरें हुतीं, अब आह की दाह समोयो करो ।
हम प्यारे को अङ्क निसङ्क भरैं, वे कलक के धोमने धोयो करो ॥

पं० श्रीधर पाठक

पाठक जी का जन्म सं० १६१६ (१८५६ ई०) में ब्रज के जोंधरी नामक ग्राम में हुआ था, जो आगरा जिले में स्थित है। ब्रजभाषा पर उनका जन्मजात अधिकार था । इसीलिए खड़ी बोली-काव्य के प्रवर्तकों में होते हुए भी पाठक जी की अधिक मार्मिक कविताएँ ब्रजभाषा में ही हैं। पाठक जी ने नये शब्द, नये वाक्य-विन्यास और नये विषयों पर लेखनी उठाकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया और गोल्डस्मिथ के 'डेजर्टेड विलेज' का ब्रजभाषा में 'ऊजड़गाँव' नाम से सुन्दर अनुवाद किया। पाठकजी प्रकृति-वर्णन में सिद्धहस्त थे। हिमालय प्रदेश की रमणीय शोभा को शब्दों में अंकित करने में उनकी प्रवृत्तियाँ खूब रमीं। सरकारी कार्य से पेंशन लेकर पाठक जी अपने अंतिम समय में प्रयाग रहते थे, जहाँ सं० १६८५ (१६२८ ई०) में आपकी मृत्यु हो गई। आपके 'ऋतु-संहार' से वर्षा-वर्णन का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

वारि फुहार भरे बदरा, सोई सोहत कुंजर-से मतवारे ।
बीजुरी जोति धुजा फहरै, घन गरजन शब्द सोई हैं नगारे ॥
रोर के घोर कौ ओर न छोर, नरेसन की-सी छटा छवि धारे ।
कामिन के मन को प्रिय पावस, आयौ प्रिये नव मोहिनी डारे ॥

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

हरिऔध जी उन अमर महाकवियों में से हैं जिन्होंने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों का भण्डार भरा है। उनके ग्रन्थ 'प्रिय-प्रवास' और 'रस-कलश' यदि किसी अपरिचित के सामने एक साथ रख दिए जाएँ तो सहसा यह विश्वास नहीं होगा कि एक ही व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न धाराओं में इतने अधिकार के साथ मार्गदर्शन कर गया है। हरिऔधजी का जन्म निजामाबाद, जि० आजमगढ में बैशाख कृ० ३ सं० १६२२ (१८६६ ई०) को हुआ। घर पर उन्होंने सिक्ख-सम्प्रदाय के महंत बाबा सुमेरसिंह की काव्यगोष्ठी से कविता का अभ्यास प्रारम्भ किया। तब से अपनी मृत्यु के अंतिम समय तक आप साहित्य-साधना में तल्लीन रहे। 'रस-कलश' में आपने विविध नायिकाओं को सामयिकता का पुट देकर उन्हें कुछ नये रूप में चित्रित किया है। उपाध्याय जी सं० २००३ (१६४६ ई०) में इस संसार का त्याग कर गए। उनका एक छंद यहां उद्धृत किया जाता है—

बसि घरबार में बिसारै घरबारिन कों
घरी-घरी बीच घेर-घारन के घेरे ते।
तम में उजारौ किएँ उर कौ उजेरौ लहि,
देखि जग-जीवन के जीवन कों नेरे ते॥
'हरिऔध' कहै भेद खुलत अभेद कौ है,
सारे फेर-फारन ते, मानस कों फेरे ते।
कानन के कानन की बातन कों कान करि,
आँखिन की आँखिन कों आंखि मांहि हेरे ते॥

महापात्र लालजी

महापात्र लालजी का जन्म सं० १६१४ (१८५७ ई०) में सनी, जिला फतेहपुर में हुआ था। ये ब्रजेश जी के चाचा हैं

और अच्छे कवि हैं। ये अवध के ताल्लुकेदारों में विशेष आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं और इनका अच्छा सम्मान है। इन्होंने 'अस्विनी-चरित्र', 'षट ऋतु विनोद' आदि कई ग्रन्थ लिखे हैं।

बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

आपका जन्म संवत् १९२३ (१८६६ ई०) में काशी में हुआ था। आपने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की और कई रजवाडों में उच्च पदों पर कार्य किया। ये पहले आवागढ राज्य में सेक्रेटरी थे और बाद में अयोध्या-नरेश के निजी सेक्रेटरी रहे। 'रत्नाकर' जी हिंदी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग, नागरी; प्रचारिणी सभा, काशी; रसिक-मंडल तथा अन्य अनेक साहित्यिक संस्थाओं से संबद्ध थे। ब्रजभाषा की आपने बड़ी संलग्नता से सेवा की। इन्होंने ब्रज-भाषा में 'उद्धवशतक', 'गंगावतरण' आदि अनेक ग्रंथों की रचना तो की ही, साथ ही सूरदास और नंददास के ग्रंथों का संपादन करने की भी उनकी तीव्र इच्छा थी। सूरसागर के संपादन का कार्य बड़ योग्यता से आरंभ किया, किंतु आपका अवसान संवत् १९८९ में हरिद्वार में हो गया और यह कार्य अधूरा ही रह गया। आपकी काव्य-रचना के दो उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

नंद-जसुदा औ गाय-गोप-गोपिका की कछू,बात वृषभान-भौनहू की जनि कीजियौ।
कहै 'रतनाकर' कहति सब हा-हा खाइ, ह्यां के परपचन सों रंच ना पसीजियौ॥
आंसू भरि ऐहैं औ उदास मुख ह्वैहै हाइ,ब्रज-दुख-त्रास की न तातैं सांस लीजियौ।
नाम कौ बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस,स्याम सों हमारी रामराम कहि दीजियौ॥

छहरावति छवि कबहुँ काहु सित सघन घटा पर।
फवति फैलि जिमि जोन्ह-छटा हिम प्रचुर पटा पर॥
तिहि घन पर लहराति, लुरति, चपला घन चमकै।
जल प्रतिबिंबित दीप-दाम - दीपति सी दमकै॥

लाला भगवानदीन

लालाजी का जन्म फतेहपुर जिले के बरबटा गांव में सं० १९२३ (१८६६ ई०) में हुआ था। ये कुशल साहित्यकार

और सफल अध्यापक थे। आपने छतरपुर, सेंट्रल-हिंदू कालेज, काशी तथा बाद में काशी विश्व-विद्यालय में अध्यापन कार्य किया। 'दीन जी' की प्रतिभा बहुमुखी थी। आप कवि के अतिरिक्त एक कुशल लेखक, समालोचक और सम्पादक भी थे। 'हिंदी-शब्द-सागर' के सम्पादन में सहयोग देने के अतिरिक्त आपने गया की 'लक्ष्मी' पत्रिका का भी संपादन किया था। लाला जी खड़ी बोली और ब्रज दोनों में ही सुन्दर रचना करते थे तथा उर्दू में भी 'रोशन' नाम से लिखते थे। समस्या-पूर्ति में भी लाला जी बड़े सिद्धहस्त थे। आपकी मृत्यु सं० १९८७ (१९३० ई०) में हुई। इनकी प्रसिद्ध कविता 'श्री रामगिर्याश्रम' की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करते हैं—

रितु बसन्त तृन, तरु, बल्लरि सब नव दल फूलन छावें।
ज्यों सुकृती जन राम कृपा ते सुख-संपति जस पावैं॥
अरुन सुचिक्कन कोमल-दल-जुत बिटप बल्लरी सोहैं।
दिनकर किरन परस चिलकें अति जग-जन-दीठिन मोहैं॥
कूँजत पिक, गूँजत अलि-माला, कलरव जन-मन मोहैं।
ज्यों उदार जन-द्वार सदा हीं, जय-जय धुनि-जुत सोहैं॥
बनवासी खग मृग उमङ्ग जुत दंपति-भाव जनावैं।
जननी जनक होन की इच्छा, सब मन बसै बतावैं॥

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

'पूर्ण' जी का जन्म संवत् १९२५ (१८६८ ई०) में कानपुर में हुआ था। ये वहाँ की सभी साहित्यिक, सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों के केंद्र थे और वहाँ के प्रमुख वकीलों में भी आपकी गणना थी। 'पूर्ण' जी ने रसिक-समाज को नवजीवन देकर उसे जमा दिया। आपने सरस-शृङ्गार के अतिरिक्त वेदांत व ऋतुओं पर भी लिखा है। प्रकृति की सहज शोभा को हृदयंगम करने और कराने में पूर्ण जी ने बड़ी सफलता प्राप्त की है। आप प्रकृति-वर्णन की पाश्चात्य प्रणाली से भी पूर्णतः परिचित थे। इनकी भाषा सरस,

मुहावरेदार तथा व्याकरण-सम्मत होती थी। आपका निधन संवत् १९७२ (१९१५ ई०) में हुआ। संसार की विविधता का वर्णन आपने एक छंद में निम्न प्रकार किया है—

कोऊ पाठ ही के नीके अम्बर जरी के सजे,
कोऊ दुःख-मगन नगन दीन काया है।
कोऊ स्वाद-पूरें खात बिजन सुधा सों रूरे,
काहू पै बिधाता की न साग हू की दाया है।।
कहूँ सोक छायौ, कहूँ आनँद कौ पायौ रंग,
कोऊ अति छुद्र, कोऊ आसमान पाया है।
'पूरन' बिचित्र हैं चरित्र भूमि-मंडल के,
रामजी की माया कहूँ धूप, कहूँ छाया है।।

ब्रजेश जी

ब्रजेश जी का जन्म नरहरिवंशीय ब्रह्मभट्ट परिवार में सं० १९२८ (१८७१ ई०) में हुआ था। आपके पूर्वज महापात्र 'नरहरि' जी सम्राट् अकबर के दरबारी कवि थे। 'महापात्र' इनकी परंपरागत उपाधि है और इनका वंश रीवाँ-नरेशों-द्वारा बहुत समय से संमानित है। आपने 'रसांग-निर्णय' नाम से एक रीति-ग्रंथ तथा 'रमेश-रत्नाकर' और 'विश्वनाथ-भूषण' दो अलंकार-ग्रंथ लिखे हैं। अन्य ग्रन्थों में 'विरह-वाटिका', 'शांत-शतक', 'सोरठ-शतक', 'रामायण' आदि हैं। कविवर ब्रजेश जी पद्माकरी शैली के पुराने ठाठ के कवि हैं। नायिका-वर्णन का एक उदाहरण—

सौरभित सारी सेत, सोहत सुमन-हार,
सारदा ते सुषमा सवाई उछरति है।
कहत 'ब्रजेस' बैठी आदरस आठो करि,
रंभा कौ, रमा कौ रंग-रूप निदरति है।।
आरसी सों आंगुरी में चन्दन लगाइ चारु,
चित्र चारु गोलन कपोलन करति है।

आरसी सु छबि स्यामा, आरसी करन स्यामै,
आरसी में मानौं जंत्र आरसी भरति है ॥

सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार

पोद्दार जी का जन्म संवत् १९२८ (१८७१ ई०) में हुआ था। सेठ जी ब्रज की ऐसी विभूति हैं जिसने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में ही समान रूप से काव्य-रचना की है। कालाकाँकर से प्रकाशित होने वाले 'हिंदुस्थान' में आपकी भी कविताएँ आचार्य द्विवेदी जी के साथ छपती थीं। आपके 'भर्तृहरि-शतक' का अनुवाद भी 'हिंदुस्थान' में ही क्रमशः छपा था, जो ब्रजभाषा का एक सुंदर काव्य है। 'सरस्वती' में इनकी खड़ी बोली की अधिकांश रचनाएँ छपी हैं। आपके 'काव्य-कल्पद्रुम' ग्रन्थमें सेठजी के आचार्यत्व और कवित्व-शक्ति का यथार्थ रूप प्रकट हुआ है। सेठजी ने इस ग्रन्थ में काव्य-सिद्धांतों का पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है और उन सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए अन्य कवियों के साथ ही अपनी स्फुट मार्मिक रचनाओं को भी उदाहरण के रूप में रखा है। वसंत के प्रति कवि की एक उक्ति देखिए—

अलिपुंजन की मद गुंजन सों, बन कुंजन मंजु बनाइ रह्यौ।
लगि अङ्ग अनङ्ग तरङ्गन सों, रति-रङ्ग-उमङ्ग बढ़ाइ रह्यौ॥
बिकसे सर कंजन कंपित कै, रज-रंजन लै छिरकाइ रह्यौ।
मलयानिल मंद दसों दिस में, मकरंद अमंद बहाइ रह्यौ॥

आप द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवियों में माने जाते हैं। महाकवि कालिदास के मेघदूत का समश्लोकी अनुवाद खड़ी बोली में बहुत सुन्दर किया है। उसका गद्यानुवाद भी हिंदी भाषा में किया है, जिसमें ऐतिहासिक स्थानों का वृहद् विवेचन है। कालिदास की सूक्तियों के अनुकरण पर संस्कृत के अन्य कवियों द्वारा की गई रचना की तुलनात्मक आलोचना भी की है और संस्कृत

साहित्य का इतिहास दो खंडों में लिखा है, जो पांडित्यपूर्ण है। पोद्दारजी का गोलोकवास मथुरा में सं०२०१३(१९५६ई०)में हुआ।

मिश्रबंधु

'मिश्रबंधु-विनोद', 'हिंदी नवरत्न' आदि अनेक ग्रन्थों के यशस्वी प्रणेता, लखनऊ के स्व० मिश्रबंधुओं का नाम हिंदी साहित्य के इतिहास में अमर रहेगा। श्री श्यामविहारी मिश्र तथा श्री शुकदेव विहारी मिश्र ने ब्रजभाषा में कुछ कविताएँ भी लिखी हैं। आपका युद्ध-वर्णन-संबंधी एक उदाहरण यहाँ दे रहे हैं—

जब दगें बर बदूक गाजत मेघ सी तिहिं ठौर।
तब निकसि पावक-ज्वाल तिनसों चलै अरि की ओर।।
मनु धारि रूप कराल दारुन बीर-गन कौ कोप।
रिपु ओर धावत तेज तिन्हकौ, गुनत करिबे लोप।।

राजा रामसिंहजी, सीतामऊनरेश

राजा रामसिंह जी उन अध्ययनशील व्यक्तियों और कुशल कवियों में है जिन्होंने हिंदी और संस्कृत दोनों में ही सरस रचना की है। आपकी कविताओं को देखकर प्राचीन रीतिकालीन कवियों का स्मरण हो आता है। विज्ञान और ज्योतिष में भी राजा साहब को बड़ी रुचि है और इन विषयों पर आपने लिखा है। राजा रामसिंह जी का जन्म संवत् १९३६ (१८७९ ई०) में हुआ था। आपकी कविताओं का संग्रह 'मोहन-विनोद' नाम से छपा है। इनके दोहे उच्च कोटि के हैं। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

नैन बिहीनो नेह है, यहै जथारथ बात।
ना तौ क्यों न चकोर को, बिधु कौ अङ्क लखात।।
जानत हरि की बांसुरी, उर छेदन की पीर।
फिर तू मो उर छेदिबे, हा क्यों होत अधीर।।

तव मूरति की लटक नित, अटकि रही इन नैन।
जिहि ढूँढ़न भटकति फिरौं, पटकि सीस दिन-रैन ॥

वचनेशजी

वचनेश जी का जन्म फर्रुखाबाद में सं० १९३२ (१८७५ ई०) में हुआ था। आप ब्रजभाषा के प्रसिद्ध और पुराने कवि हैं। पहले आपकी कविताएँ 'सुकवि' में प्रकाशित होती थीं। कालाकाँकर-नरेश महाराज रमेशसिंह जी के यहाँ आप बहुत रहे, जो स्वयं ब्रजभाषा के एक मर्मज्ञ कवि थे। शृङ्गार व सामयिक विषयों के अतिरिक्त वचनेश जो ने 'शवरी' नाम का एक खंड-काव्य भी लिखा है। उदाहरण—

हाइ हाइ आइ कै पराइ गयौ प्यारौ कहाँ,
भागी तजि गेह नहिं देह की सुरति है।
खोजै-खोजै खिरक घरीक कल धारै नहीं,
कुंज--बन--कूलन--कछारन भ्रमति है ॥
बूझै तरु-बेलिन, अरूझै मृग-वृंदन सों,
जितको डुलत पात, तित ही कों गति है।
टेरति मुरारी चौंकि हेरति खरक सुनि,
छांह सों सुमति करि रोवति-हँसति है ॥

लाला किशनलालजी (कृष्ण कवि)

किशनलाल मथुरा के प्रसिद्ध कवि तो थे ही, शतरंज के भारत-विख्यात खिलाड़ो भी थे। शतरंज खेलने के लिए आपको दूर दूर से बुलावे आते थे और आपने बहुत से अंग्रेजों और अन्य विदेशियों को भी शतरंज में हराया था। आपका जन्म संभवत: संवत् १९३१ (१८७४ ई०) में और मृत्यु १९९० (१९३७ई०) के आस-पास हुई। आपने कई ग्रन्थ लिखे जो अब नहीं मिलते। आपके दो छोटे ग्रन्थ 'गजेंद्र-मोक्ष' तथा 'कृष्ण-कवितावली' छप

चुके हैं। आपकी खंडिता नायिका का एक उदाहरण देखिए—

> आए भोर उठिकै बिताई प्रिय रैन कहाँ,
> आलस उनींदे दृग लाजन सौं छूटी है।
> अंजन अधर छबि देत मनों नीलम की,
> जावक लिलार प्रभा मानिक सी तूटी है॥
> 'कृष्ण कवि' कहैं माल बिन-गुन मुकतन की,
> ठौर-ठौर अंजन में राजत सुटूटी है।
> सांच कहि दीजै हा-हा नेंक ना दुराव कीजै,
> कौन से नवीन जौहरी की हाट लूटी है॥

वल्लभ सखा

आपका जन्म मथुरा में सन् १८६० ई० में और मृत्यु सन् १९३५ ई० में हुई। वल्लभ जो जाति के मैथिल ब्राह्मण थे और आपके पूर्वज सद्गुरघुरिया सरसब (जिला दरभंगा) के निवासी थे। वल्लभ जी अच्छे चित्रकार, गायक और कवि थे। श्री वियोगी हरिजी ने आपको 'ब्रज के धूल-भरे हीरे' बहुत ही ठीक कहा था। आपकी 'प्रेम-प्रीति-माला' नामक दोहों की एक भक्ति-रसपूर्ण पुस्तिका प्रकाशित हुई थी, किंतु शेष रचना अभी तक अप्रकाशित ही हैं। आपने शकुंतला, कादंबरी, रघुवंश, कृष्ण-जन्म, अभिमन्यु, रुक्मिणी-मङ्गल आदि नाटक भी लिखे थे, जिनमें से अधिकांश अब अप्राप्त हैं। आपके रचित एक दोहे का उदाहरण—

> श्री राधा राधा रटैं, अलिन अगार-अगार।
> तैं देखी मेरी कहूँ, प्यारी प्रानाधार॥

कविरत्न सत्यनारायण

ब्रजभाषा के आधुनिक काल के कवियों में 'कविरत्न' सत्य-नारायण का स्थान बहुत ऊँचा है। आगरा जिले के एक छोटे गाँव में सत्यनाराणजी का जन्म २४ फरवरी, १८८० ई० को हुआ था।

१६ अप्रैल, १६१८ को उनका देहावसान हुआ। केवल ३८ वर्ष की अल्प आयु में इस रससिद्ध कवि ने जो कुछ लिखा वह ब्रजभाषा के लिए गौरव की वस्तु है।

अपने जीवन-काल में सत्यनारायण जी को घोर शारीरिक और आर्थिक कष्ट सहने पड़े। बीमारी का प्रकोप उन पर अंत तक रहा। गृहस्थ जीवन की कितनी ही भयंकर विषमताएँ उन्हें सहनी पड़ीं। परंतु इन सबके कारण कविरत्न जी के स्वभाव की सरलता और सरसता नष्ट नहीं हुई।

अपने केवल १५ वर्ष के साहित्यिक जीवन में कविरत्न सत्यनारायण ने सैकड़ों मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त कई ग्रंथ भी लिखे। सस्कृत के प्रसिद्ध नाट्यकार भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' तथा 'मालती-माधव' नाटकों का जो सुंदर अनुवाद उन्होंने किया है वह हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। महाकवि कालिदास के रघुवंश के कई सर्गों का भी रूपांतर कविरत्न द्वारा किया गया। अंग्रेजी साहित्य की कुछ रचनाओं का अत्यंत सुंदर अनुवाद उन्होंने किया है। इनमें टेनिसन की कविताओं का तथा 'होरेशस' का अनुवाद उल्लेखनीय है। ब्रजभाषा पर कविरत्न जी का असाधारण अधिकार था। उनकी रचनाओं में ब्रजभाषा का उत्कृष्ट साहित्यिक रूप तो मिलता ही है, साथ ही ग्रामीण शब्दों तथा लोकवार्ता के अनेक मनोरंजक रूपों की छटा मिलती है। सत्यनारायण जी का प्रकृति-वर्णन बड़ा मार्मिक है। ब्रज के एक गांव का कितना सजीव रेखा-चित्र कविरत्न जी ने उपस्थित किया है—

सुखद सुरीलौ गांमन में, ललना-गन-गामन।
भरि उछाह घर सो तिन आमन, झूलन जावन।
पवन उड़त खसि ए पट को, झटपटहिं सभारन।
मंजुल लोल-कलोलनि, बोलनि-विविध-मल्हारन॥

एक-एक कों पकरि बुलावन, कर-गहि लावन ।
जोरावरी चलावन, झूला झमकि झुलावन ॥

अपने जीवन के अंत तक कविरत्न जी ब्रजवल्लभ श्रीकृष्ण तथा ब्रजभूमि के गुन गाते रहे । उनके जैसे सहृदय और भावुक कवि बहुत दुर्लभ हैं । भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उनका उपालम्भ कितना मार्मिक है, सुनिए—

माधव ! तुमहुँ भए बे-साख ।
वुही ढाक के तीन पात हौ, कहै क्यों न कोऊ लाख ॥
भक्त- अभक्त एक-से निरखत, कहा होत गुन-गाए ।
जैसेई खीर खवाए तुमकों, वैसेई सींग दिखाए ॥
सबै धान बाईस पसेरी, नित तोलन सों काम ।
बलिहारी, नहिं नेंक विदित तुम्हें, ऊँच-नीच कौ नाम ॥

आचार्य रामचंद्र शुक्ल

हिंदी-साहित्य के अग्रगण्य आलोचक पं० रामचंद्र शुक्ल से हिंदी-जगत् भलीभाँति परिचित है । आपका जन्म आश्विन पूर्णिमा, १९४१ (१८८४ ई०) को अगोना (जि० बस्ती) में हुआ । आचार्य जी का अध्ययन गहन था और साहित्य-शास्त्र के विभिन्न अङ्गों का विश्लेषण करने की शक्ति अनुपम थी । ब्रज-भाषा और खड़ी बोली में उन्होंने उच्च कोटि की काव्य-रचना भी की । उनका प्रसिद्ध काव्य 'बुद्ध-चरित' ब्रजभाषा में है। सं०१९९७ में हिंदी के इस महान् साहित्यसेवी का देहावसान हुआ । उस समय शुक्लजी हिंदू विश्व-विद्यालय काशी में हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे ।

यहाँ 'बुद्ध-चरित' काव्य से चैत्र-पूर्णिमा की रात्रि में

कपिलवस्तु के राज-प्रसाद की एक झाँकी उपस्थित की जाती है—

छिटकी बिमल बिस्राम बन पै, जामिनी मृदुता-भरी।
बासित सुगंध प्रसून परिमल सों, नछत्रन सों जरी॥
ऊँचे उठे हिमवान की हिम-रासि सो मन-भावनी।
संचरित सैल सुबायु सीतल, मंद-मंद सुहावनी॥
चमकाय सृङ्गन चंद चढ़ि अब अमल अंबर पथ गह्यौ।
झलकाय निद्रित भूमि, रोहिनि के हिलोरन को रह्यौ॥
रस-धाम के बाँके मुँडेरन पै रही द्युति छाय है।
जहँ हलत-डोलत नाहि कोऊ कतहुँ परत लखाय है॥

श्यामसेवक

आपका जन्म संवत् १९४८ (१८९१ ई०) में हुआ था। आप मऊगंज—रीवाँ के निवासी तथा जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। आपने 'प्रेम-फौजदारी', 'ज्ञान-मंजरी' 'कीर्ति-मुक्तावली', 'गृहस्थोपदेश', प्रेम-प्रवाह' आदि कई ग्रन्थ लिखे। 'प्रेम-फौजदारी' का एक छंद यहाँ उद्धृत है—

हुतीं गरे गुंजन की माला, चहुँ दिसि प्रभा-पसारे।
मोर-पखन कौ मुकुट मनोहर, हुते सीस पर धारे॥
पटका पीत हुतौ कटि में, सुचि नटवर भेष बनाए।
अनियारे नैनन कौ काजर, सुन्दर साज़ पिन्हाए॥
देखत ही राधाप्यारी कों, दौर परे वे नैना।
बदल पैतरा तिरछौंहे व्है, हन्यौ राधिका सैना॥

रामाधीनजी

/आपका जन्म रीवाँ में संवत् १९४१ (१८८४ ई०) में एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार में हुआ था। इनके पिता मुन्शी रामचरनलाल मैहर राज्य के एकाउन्टेंट थे। सत्रह वर्ष की अवस्था

में ही रामाधीनजी ने 'सुंदरकांड' की कथा, कवित्त, घनाक्षरी आदि छंदों में लिखी थी। आजकल आप रीवाँ के सम्मानित कवि हैं। ओरछा नरेश ने आपको 'अन्योक्त्याचार्य' की उपाधि प्रदान की है। रामाधीन जी के आठ ग्रंथ अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। कृष्ण के श्याम होने का कारण आपने यों लिखा है—

मचौ है बिवाद ठाँव-ठाँवन में मेरी बीर,
पुर प्रति गाँवन में सखि-सखियाँन में।
कहत बतात सबै लोग कृष्ण कारे भए,
धारे सीस सघन मयूर-पखियाँन में॥
'रामाधीन' मेरी जान जब ते भए हैं स्याम,
प्रेम-प्रन-पालिबे की रुचि रखियाँन में
जब ते बसायौ राधिका ने गरबीली निज,
कुटिल--कटीली-कजरारी आंखियाँन में।

पुरुषोत्तमदास 'सैयाँ'

सैयाँजी मथुरा के अग्रवाल वैश्य हैं। इनका जन्म संवत् १९४२ (१८८५ ई०) में हुआ था। ब्रजभाषा-साहित्य के ये मर्मज्ञ माने जाते हैं। आपने समय-समय पर बहुत से स्फुट छंद लिखे हैं। कविता में आपका उपनाम 'उत्तम' है। श्री नवनीत चतुर्वेदी से आपने पिंगल पढ़ा था और श्री भोलाराम भंडारी की प्रेरणा से उसमें प्रवीणता प्राप्त की थी। आपकी प्रसिद्ध 'साहित्यिक दुकान' आज भी साहित्य-सेवियों का केंन्द्र बनी रहती है। यहाँ आपका एक छंद उद्धृत करते हैं, जिसमें राजा विराट के नगर में बृहन्नला के वेश में छिपे हुए अर्जुन का विराट-कुमार के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करने का वर्णन है—

कंकन करन कटि, किंकिनी बिराज रही,
धीरता बिराज रही मन की उमंग में।

'उत्तम' निहार बेनी, सेनी मृग-नैनी रहीं,
जम की नसेनी बान सोहत निखंग में ॥
बीरी, पान, हार, जापै बांधि राखी तरवार,
रथ के अगारी बैठ्यो केसरी उमंग में ।
हीजरा के ढङ्ग में सुबीरता के रंग-रँग्यौ,
उत्तर के संग जाइ पारथ यों जंग में ॥

नाथूराम माहौर

माहौर जी का जन्म झाँसी में सं० १९४२ (१८८५ ई०) में हुआ। ब्रजभाषा में ये सुंदर काव्यरचना करते हैं। इनकी 'वीर-वधू', 'वीर-बाला', 'अश्रु-माल' आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आपके अप्रकाशित ग्रंथों में 'रस-प्रवाह', 'षट्-ऋतु-दर्शन' 'छत्र-साल-गुणावली', 'सूर-सुधा', द्रौपदी-दुकूल' आदि तथा बहुत से स्फुट पद हैं। माहौरजी ब्रजभाषा के उत्साही सेवकों में हैं। आपकी ब्रजभाषा के प्रति अनन्य निष्ठा निम्न छंदों से प्रगट है—

ब्रजनागरी-वन्दना

मधुभावनी हैं मधु-रासि दुहूँ, कवि को बरनें गुन माधुरी के।
दुहूँ कोमल कांति पदावली हैं, लख पङ्कज लाजें बिभावरी के ॥
मनमोहक हैं सुषमा में दुहूँ, निरखे उपमान बराबरी के ।
ब्रज-नागर के मन माहि रमैं, पद बंदौं दुहूँ ब्रज-नागरी के ॥

तुलसी भए भाग सुहाग के बिंदु, सु देव दृगंजन आगरी के।
कवि केसव अङ्ग के राग भए, मुख-राग भे सूर उजागरी के ॥
भए 'माहुर' पङ्कज पांइन के, मेंहदी कवि ग्वाल प्रभागरी के।
मतिराम, रहीम, बिहारी घनानँद, भूषन मे ब्रज-नागरी के ॥

नवीबख्श 'फलक'

मुंशी नवीबख्श 'फलक' का जन्म दतिया में सं० १९५०

(१८६३ ई०) में हुआ था। आप ब्रज, ब्रजचंद और ब्रजेश्वरी के अनन्य उपासक रहे। आपका काव्य भक्ति-रस से ओत-प्रोत है। आपने आज भी उस परंपरा को जीवित बनाए रखा है, जिसके लिए भारतेन्दु जी ने कहा था कि 'इन मुसलमान हरि-जनन पै कोटिक हिंदू बारिए।' आपके द्वारा रसखान जी की-सी वाणी आज भी प्रतिध्वनित हो रही है। फलक जी ने ब्रजभाषा में ७०० दोहों में 'फलक-सतसई' नामक ग्रंथ तैयार किया है। यह काव्य अभी अप्रकाशित है। खेद है कि हाल में ही फलक जी दिवंगत होगए। रचना का उदाहरण—

राधा रानी के चरन, गहौ बेगि ही जाइ।
बिगरे काज बनाइ लैं, 'फलक' न देर लगाइ॥

राज के भरोसे कोऊ, काज के भरोसे कोऊ,
साज के भरोसे कोऊ, कोऊ बरबानी के।
देह के भरोसे कोऊ, गेह के भरोसे कोऊ,
नेह के भरोसे कोऊ, कोऊ गुरु ग्यानी के॥
नाम के भरोसे कोऊ, ग्राम के भरोसे कोऊ,
दाम के भरोसे कोऊ, कीरत कहानी के।
ब्रज है भरोसे सदा स्याम-ब्रजराज के तौ,
'फलक' भरोसे एक राधा-ब्रजरानी के॥

रामप्रसाद त्रिपाठी

डा० त्रिपाठी जी की वेशभूषा और रहन-सहन से यह तनिक भी भासित नहीं होता कि उनके हृदय में ब्रज-साहित्य के प्रति अनुराग का एक प्रबल सागर तरंगित है। त्रिपाठी जी स्वांत:सुखाय ब्रजभाषा का शृङ्गार करते रहते हैं। आपका जन्म सवत् १९४६ (१८८९ ई०) में मुजफ्फरनगर में हुआ था। प्रयाग विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफेसर रहने के बाद वे सागर-विश्वविद्यालय के

उपकुलपति रहे। आप कई भाषाओं के पंडित हैं। अ० भा० ब्रज-साहित्य मंडल ने अपने तृतीय शिकोहाबाद संमेलन में आपको अपना सभापति निर्वाचित किया था। इनकी ब्रजभाषा कविता का एक उदाहरण—

नैन बुझाइ बुझाइ थके, अनुराग की आग बरोई करै।
कोटि निरास-कुठार चलें, तऊ प्रेम की बेलि फराई करै॥
नैनन नीर बह्यौ करै पै, उर अन्तर नेह भरोई करै।
मौन रहै हिय हारि तऊ, रसना तव नाम ररोई करै॥

ब्रजनंदन 'कविरत्न'

श्री ब्रजनंदन जी का जन्म संवत् १९४९ (१८९२ ई०) में जिला रायबरेली के भनवामऊ ग्राम में हुआ था। आपके पिता रामधीन ने कोई संतान न होने के कारण ब्रज आकर श्रीगिरिराज जी की परिक्रमा की। इसके कुछ ही दिन उपरांत ब्रजनंदन जी का जन्म हुआ। आप ब्रजभाषा के बड़े अनुरागी और अत्यंत सरल व्यक्ति हैं। इन्होंने कई ग्रन्थ और फुटकर छंद लिखे हैं।

ब्रजनंदन जी ने सवत् १९६९ (१९१२ ई०) से काव्य-रचना आरंभ की थी। आपका एक छंद यह है—

मनमोहन मोहि कै कूबरि पै, निज प्रेमिन सों मुख मोरिए ना।
जेहि प्रेम पियूष पियाएहु ताहि, बियोग के बारिधि बोरिए ना॥
नित नेह कौ नातौ बढ़ाइ कियौ तरु, सो तिनका इव तोरिए ना।
ब्रज-जीवन फेरि बसौ ब्रज में, बिसबास में यों बिस घोरिए ना॥

आप बरवै लिखने में भी सिद्धहस्त हैं। 'वृन्दावन-विरहिनी-बरवै' के कुछ नमूने यहाँ दिए जा रहे हैं—

श्री वृंदावन दल-फल, थल-जल जोहि।
आवत सुधि सु स्याम-छल, पल-पल मोहि॥

बरवै करि बारत हैं, बिरह दवांर ।
बर वै बारिद बरसौ, विनिमय बारि ॥
यदि बेला हिय बेला, हार पहार ।
हार-हार हरि होत, ह्वै रही हार ॥
बैजंती जो आवें, ब्रज ब्रजराइ ।
तौ मैं बिजै जयंती, रमेहु सनाइ ॥

वियोगी हरि

वियोगी हरिजी का जन्म सं० १९५३ (१८९६ ई०) में हुआ। आप 'ब्रजमाधुरी' के अनन्य उपासक भावुक जीव हैं। आज-कल आप हरिजन-सेवा का कार्य कर रहे हैं और 'हरिजन-सेवक' के संपादक हैं। बीच में आपने साहित्य-क्षेत्र से संन्यास ले लिया था, परंतु अब फिर से अपने पुराने कार्यक्षेत्र में लौट आए हैं। ब्रज-साहित्य-मंडल की मुखपत्रिका 'ब्रजभारती' के सम्पादक भी रहे हैं। आपकी 'वीर-सतसई', 'प्रेम-शतक', 'प्रेम-पथिक' और 'प्रेमांजलि' उत्कृष्ट और हृदय-स्पर्शिनी रचनाएँ हैं। 'वीर-सतसई' पर आपको 'मङ्गलाप्रसाद-पारितोषिक' प्राप्त हो चुका है। आपके शूरवीर वर्णन के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

खण्ड खण्ड ह्वै जायँ बरु, देत न पाछें पेंड़ ।
लरत सूरमाँ खेत की, मरत न छाँड़त मेंड़ ॥
सहज सूर रन-चूर उर, चहिए चातक-चाह ।
चहिए हारिल-हठ वहै, चहिए सती-उमाह ॥
खल खण्डन, मडन सुजन, सरल सुहृद सबिवेक।
गुन-गँभीर, रन सूरमां, मिलत लाख महँ एक ॥

हरदयालु सिंह

आप ब्रजभाषा के आधुनिक श्रेष्ठ कवियों में हैं। आप संस्कृत के भावों को ब्रजभाषा-छंदों में इस प्रकार ढालते हैं

कि छंदों में अनुवाद की शिथिलता कहीं प्रतीत नहीं होती। आपका 'दैत्य-वश' एक मौलिक ब्रजभाषा-काव्य है। इस पर 'देव-पुरस्कार' प्राप्त हो चुका है। 'दैत्य-वंश' में लक्ष्मी के स्वयंवर-मडप में आते समय का एक दृश्य देखें—

ठाढ़ी लजात तहां कमला, न स्वयंबर-मौन सकी पगु धारी।
भूषन औ सुषमा-छबि भारन, जाति है मानों दबी सुकुमारी॥
मानस कौ घन हंस कुमारिकौ, लै चले तैसे चलीं सखी सारी।
लोचन देवन के उरझे मग, कैसे धरै पग सिंधु-दुलारी॥

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

खड़ी बोली के वर्तमान प्रमुख कवियों में 'नवीन'जी प्रसिद्ध हैं। ब्रजभाषा में भी उन्होंने कुछ सुंदर रचनाएँ की हैं। उर्मिला के वियोग-वर्णन में उन्होंने सात सौ दोहे लिखे हैं, जो नवीन काव्यात्मक अनुभूति के सूचक हैं। उदाहरण—

सिलाखण्ड में बैठि हम, निज हिय-लोचन चीर।
देखि रहे जगमग चलत, इन पंथिन की भीर॥
बेदरदी दर-दर फिरे, तुव कारन हम दीन।
खोजत तुमकौं है गये, हम नवीन प्राचीन॥

रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'

रसाल जी का जन्म मऊ (जिला बांदा) में सं० १९५५ (१८९८ ई०) में हुआ था। आजकल आप सागर-विश्वविद्यालय में अध्यापक हैं। रसाल जी योग्य लेखक और कुशल कवि हैं। आपके 'भ्रमरगीत' का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

यह अवसर स्याम-कथा कौ मिलौ, सो गयौ रसना की रलारली में।
कहिबे-सुनिबे की रही सो रही, इन बातन ही की बलाबली में॥

मन-मीन मलीन मरे से परे, यह ग्यान की कोरी दलादली में ।
मन भावती ह्व कहि जाते कछू, अब ऊधव ऐसी चलाचली में ।।

अमृतलाल चतुर्वेदी

आगरा के पं० अमृतलाल जी चतुर्वेदी आजकल ब्रजभाषा के सरस कवियों में अग्रगण्य हैं । आपके कमनीय कंठ से ब्रजभाषा-काव्य की निर्झरिणी जब प्रवाहित होती है तब श्रोता मंत्रमुग्ध-सा रह जाता है । आपकी एक पुस्तक 'श्याम-सँदेसौ' प्रकाशित हो चुकी है ।

पं० रामदयाल (लोहवन-निवासी)

आप मथुरा जिले के वयोवृद्ध कवियों में हैं । इस समय आपकी अवस्था ७० वर्ष के लगभग है, किंतु कवि-सम्मेलनों में आप आज भी युवकोचित उत्साह से भाग लेते हैं । वीर और हास्य-रस के आप सिद्ध कवि हैं और ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों में लिखते हैं ।

उमरावसिंह पांडे

ये मैनपुरी के जमींदार पं० चिंतामणिजी के पुत्र हैं । खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा दोनों में ही रचना करते हैं । इनका जन्म-काल सं० १९५९ (१९०२ ई०) है । मैनपुरी के माथुर चतुर्वेदी पुस्तकालय की स्थापना में आपका मुख्य हाथ रहा है । इनका एक छंद देखिए—

मोर-पखा राजत, बिराजै उत चंद्रकला,
बेसरि सुहाई उत बांसुरी बनाई है ।
बानिक बनायौ इतै कृष्ण जदुनन्द आज,
उतै चंद्र-चंद्रिका सुनैनी चारु छाई है ।।

पीत पट अङ्ग फहरात झहरात उत,
चूनरी सुचारु चारु चित्रित जुन्हाई है ।
गात की गुराई 'उमराव' कवि गाई,
उतै मुख-मधुराई इत ललित लुनाई है ॥

अंबिकेश

पं० अंबिकाप्रसाद भट्ट 'अंबिकेश' का जन्म संवत् १९६० (१९०३ ई०) में रीवाँ में हुआ था। अम्बिकेशजी रीवाँ-नरेश के पुश्तैनी राजकवि हैं। आपको ओरछा-नरेश और सरगुजा-नरेश ने भी अपना राजकवि बनाया। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, ग्वालियर, अखंड-भारतीय कवि-सम्मेलन, कानपुर तथा रीवाँ-नरेश ने आपको 'कवि-मार्तंड' की उपाधि प्रदान की है। 'ज्योति' नाम से आपका एक कविता-संग्रह सं० १९४१ में छपा है। आपका वीर-रस का एक छंद इस प्रकार है—

जाकी ओर ताकत, न ताकत रहत तामें,
ताकत कहा है मुरि एक बार हेरे हैं ।
पीठ ही दिखात ना दिखात फिर दीठि कबौं,
भगे ऊँच-नीच भूमि भान ना निबेरे हैं ॥
झूमत मतग-से दिखात जुग क्रोध भरे,
लीलि जैहैं बिस्व लेत तीछन तरेरे हैं ।
दुबन दरेरें दाबि कोल्हू सम पेरें घोर,
प्रलै घन घेरें जब बीर दृग फेरे हैं ॥

पं० रूपनारायण पांडेय

'माधुरी' के यशस्वी संपादक पं० रूपनारायण पांडेय ने अनुवाद के क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण कार्य किया है वह सर्वविदित है। पांडेयजी ब्रजभाषा के सुकवि भी हैं। 'शिव-शतक' और 'श्रीकृष्ण-महिमा' के अतिरिक्त आपने 'गीत-गोविंद' की टीका भी की है।

पांडेय जी का जन्म सं० १९६० (१९०३ ई०) में हुआ था। आपको कविता का एक नमूना यहाँ दिया जाता है—

बुद्धि बिवेक की जोति बुझी, ममता-मद-मोह घटा घनी घेरी।
है न सहारौ, अनेकन हैं ठग, पाप के पन्नग की रहै फेरी॥
त्यों अभिमान कौ कूप इतै, उतै कामना-रूप-सिवान को ढेरी।
तू चल मूढ़ सँभारि अरे मन, राह न जानी है रैनि अँधेरी॥

जगनसिंह सेंगर

ठा० जगनसिंह सेंगर अलीगढ़ जिले के प्रमुख साहित्य-सेवी हैं। आपका जन्म-स्थान सिकंदराराऊ तहसील के गाँव राजनगर में संवत् १९६० (१९०३ ई०) में हुआ था। 'मुरली', 'झाँकी' और अभी हाल में 'किसान-सतसई' नाम की आपकी तीन रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। आप अच्छे लेखक और पत्रकार भी हैं। विद्वत्सम्मेलन ने अपने वार्षिक अधिवेशनमें आपको 'साहित्यालंकार' व 'साहित्य-रत्न' की उपाधि प्रदान की है। आपकी 'किसान-सतसई' से कुछ उद्धरण यहाँ दिए जाते हैं—

नीचे स्यामल निरबला, ऊपर नभ नीलाभ।
पर दुख कातर, तप निरत, जयतु हली अमिताभ॥
पटवारी, पतरौल अरु, पुलिस, पटैल प्रधान।
पंच प्रकार प्रपंच परि, पनप न सकत किसान॥
सुर-तरु, सुर-मुनि, सुर-सुरभि, जानहु सकल असार।
मेरे मते किसान ही, अभिमत फल दातार॥
बिस्वंभरा, बसुंधरा, रसा, उरबरा, भूमि।
बनति बिनीत किसान के, बार-बार पद चूमि॥

रामलला

रामललाजी का जन्म मथुरा में संवत् १९६४ (१९०७ई०)

में हुआ था। ब्रज को उन गिनी-चुनो विभूतियों में रामललाजी का स्थान है जिनके आकार-प्रकार, वेश-भूषा, बोल-चाल और काव्य-रचना सभी से ब्रज-संस्कृति का स्वरूप नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। श्री रामलला मथुरा के सतीबुर्ज पर प्राय: विजया और साहित्य की साधना में तल्लोन देखे जाते है।

आप सनाढ्य ब्राह्मण हैं। आपने 'द्रौपदी-दुकूल', 'वीर विक्रमाजीत' तथा 'मीरा-द्वादशी' नामक तीन ग्रंथ तथा सैकड़ों स्फुट छद लिखे हैं। प्राचीन कवियों के इन्हें हजारों छंद याद हैं। रचना के उदाहरण—

जब तौ तिहारे नेंन देखत दुरे हे दौर,
अब तौ तिहारे नेंन सेनँन सजाए हैं।
'लला कवि' जब तौ तिहारे नेंन ख्याली रहे,
अब तौ तिहारे प्रेम-पगँन पगाए हैं ॥
जब तौ तिहारे नेंन कंज हे, निरंजन हे,
अब तौ तिहारे नेंन खंजन खिस्याए हैं।
जब तौ तिहारे नेंन लाजँन लजाए अरी,
अब तौ तिहारे नेंन नेंन-नेंन छाए हैं ॥

कविवर बिहारी के प्रति

जिन रूप-कलीन कौ जान्यौ भलो, रसमस्त अलीन सुधारी भये।
पुनि काव्यकला-निधि बूड़े तरे, अनबूड़े तरे जे बिकारी भये ॥
नवनेह-निकुंज के नायक की, सुचि केलि-कलान प्रचारी भये।
ब्रजमाधुरी-सी ब्रजमाधुरी पै, बलिहारी भये सो बिहारी भये ॥

विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल'

ब्रजभाषा के गीति-काव्यकारों में स्व० व्याकुल जी का नाम उल्लेखनीय है। वे एक ख्यातिप्राप्त नाटककार थे। नाटकों के बीच-

बीच उन्होंने ब्रजभाषा की ललित पदावली की रचना की है। उनकी एक होली यहाँ दी जाती है—

> अँखियन मेरी गुलाल, ए जी नन्दलाल, डारौ ना।
> नैन बचाऊँ तो अँखिया तकत हौ,
> जानत हूँ तेरी चाल । एजो अँखियन० ॥
> एक तौ रङ्ग में बोर दई ऐसो,
> चिपकन लागौ मेरौ गात ।
> दूजे बरजोरी मेरी बहियां मरोरी,
> 'व्याकुल' कीनी निडार । एजो अँखियन० ॥

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

कानपुर के सरस-हृदय कवि सनेहीजी की पुरानी और नई दोनों ढङ्ग की कविताएँ काव्य-रसिकों में प्रसिद्ध है। पुरानी शैली की ब्रजभाषा-कविताएँ 'रसिकमित्र', 'काव्यसुधानिधि', 'साहित्य सरोवर', 'सुकवि' आदि पत्रों में बराबर निकलती रहीं। 'सुकवि' द्वारा सनेही जी कितनी ही ज्ञात-अज्ञात ब्रजभाषा-रचनाओं को प्रकाश में लाए। इन्होंने बहुत सी अपनी कविताएँ 'त्रिशूल' नाम से लिखी हैं। इनकी कई पुस्तकें-'प्रेमपचीसी', 'कुसुमांजलि', 'कृषक-क्रंदन' आदि-प्रकाशित हो चुकी हैं।

उजियारेलाल 'ललितेश'

इटावा जिले के भर्थना गाँव में ब्रजभाषा काव्य के वयोवृद्ध साधक ललितेश जी ब्रजभाषा में नए विषयों पर रचना करके उसका भंडार भर रहे हैं। गांधीजी पर आपकी एक काव्य-श्रद्धांजलि छप चुकी है। उनका दूसरा खण्डकाव्य 'दशानन दिग्विजय' है। इसमें रावण के पराक्रम का वर्णन करते हुए ललितेशजी लिखते हैं—

जनमत जाके धर्मराज की धुज भई नीची।
कालदण्ड हू दण्ड एक मूर्च्छित दृग मीची ॥
सुर-किन्नर-गंधर्व गान अपसरा भुलानी।
भये ताल बेताल काल गति काल न जानी ॥

ललितेशजी ने ब्रजभाषा में अनेक ग्रंथ और सैकड़ों सुंदर स्फुट छंद लिखे हैं ।

धनीराम शर्मा 'प्रेम'

प्रेमजी आगरा जिले के रिठौरी नामक ग्राम के निवासी, कुशल कवि और स्वर्गीय सत्यनारायण जी 'कविरत्न' के सहपाठियों में से हैं। घर पर ही आप स्वान्त:सुखाय साहित्य-साधना करते हैं। वे प्रचार से सदा दूर रहे हैं । यही कारण है कि साहित्य-जगत् प्राय: आपसे अपरिचित है। रीतिकालीन परंपरा के 'प्रेम'जी एक अवशेष हैं। ७५ वर्ष के इस वयोवृद्ध कवि ने नायिका के केशों का कैसा आकर्षक वर्णन किया है—

बार सिवार हुते सुकुमारी, सुगंध सने सुचि सीस सम्हारे।
काजर ते कजरारे महा, अरु सांपिन-सावक ते सटकारे ॥
चीकने चारु चिरोंजी हुते, कवि'प्रेम' मुनी-मन बाँधनहारे।
खोलत हैं तिनके भवफंद, खुले कबहूँ जिन जाय निहारे ॥

ठा० उलफतसिंह 'निर्भय'

वर्तमान युग के जीवन को साहित्य में मुखरित करने वाले ब्रजभाषा कवियों में आगरा के निर्भय जी का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि निर्भय जी की अवस्था इस समय ६० वर्ष की है और राजनीति में वे आकंठ लिप्त हैं, फिर भी मन की मौज में वे काव्य-रचना के लिए समय पा लेते हैं। प्रसादगुण इनके काव्य में प्रचुर-मात्रा में उपलब्ध है। आपने 'किसान सतसई', 'पुकार', 'किसानों की पुकार', 'किसानों का बिगुल' तथा 'चुनाव-चालीसा' आदि पुस्तकें

लिखी हैं। 'किसान सतसई' से हल-महिमा पर लिखे कुछ दोहे यहाँ दिए जाते हैं—

हर ही दुख हर जगत कौ, हर ही जीवन मूरि।
सब कर हर तर जानिए, हर सौं हरि नहिं दूरि॥
वह हर जगदाधार कै, यह हर जगदाधार।
वहै अलख यह नित लखौ, जग कौ पालनहार॥

प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

उपाध्याय जी हिन्दी जगत् में एक समीक्षक के रूप में प्रसिद्ध हैं। परन्तु वे एक बहुमुखी प्रतिभासंपन्न सफल ब्रजभाषा कवि हैं, जिनसे हमें भविष्य में बड़ी आशा है। भावों को भाषा की लड में कुशलता से सँजोने में उपाध्याय जी सफल हुए हैं। भगवान् बुद्ध पर उपाध्याय जी की एक उक्ति यहाँ उद्धृत है—

सीस हिमाचल चारु उतंग है, गंग सो सिंधु कौ चीवर डारौ।
मानसरोवर है किधौं पात्र, लिए कर में भरौ नेह सौं सारौ॥
हाथ उठ्यौ वरदाता बड़ौ, गिरि विंध्य-सो विश्व को देत सहारो।
कैधौं है बुद्ध सरूप किधौं, यह भारत देस कौ रूप है प्यारौ॥

अनूप शर्मा

इनके पिता श्री बदरीप्रसाद त्रिपाठी ब्रजभाषा के कवि थे। अनूपजी का जन्म सीतापुर में सं० १९५७(१९००ई०)में हुआ था। अनूपजी सनेहीजी के शिष्य और वीर एवं शृङ्गार के नामांकित ब्रजभाषा कवि हैं। इनकी 'फेरि-मिलिबो' पुस्तक पर 'देव पुरस्कार' प्राप्त हो चुका है। अन्य ग्रंथों में 'कुणाल' और 'सिद्धार्थ-चरित' उल्लेखनीय हैं। रचना का एक उदाहरण—

नाम रतनाकर जथारथ पर्यौ है यातें,
चौदहौ रतन धारे सोहतै रहत हैं।
तरल तरंगनि उमंगनि के सगनि सौं,
बिस्व-मोहिनी कौ मन मोहतै रहत हैं॥

निखिल नदी-नद कौ निपुन निधाँन एकै,
बोहित के बृंदनि बिमोहतै रहत हैं।
एहो कुंभजात, एतौ बारिधि बढ़्यौ तौ कहा,
रावरो कृपा की कोर जोहतै रहत हैं ।।

दुलारेलाल भार्गव

श्री दुलारेलाल लखनऊ के निवासी और हिंदी पुस्तकों के प्रमुख व्यवसायी हैं। आपका जन्म स० १९५२ (१८९५ ई०) में हुआ था। 'माधुरी' और 'सुधा' के सम्पादक के रूप में आपकी विशेष ख्याति रही। महाकवि बिहारी के अनुकरण पर आपने 'दुलारे-दोहावली' नामक पुस्तक की रचना की, जिस पर उन्हें 'देव-पुरस्कार' मिला। 'दुलारे-दोहावली' के कुछ दोहे—

पट, मुरली, माला, मुकुट, धरि कटि कर, उर माल।
मद-मद हँसि बसि हिए, नन्द-दुलारे-लाल ।।
बिन बिवेक यों मन भयौ, ज्यों बिन लंगर पोत।
भ्रमत-भ्रमत भव-सिंधु में, छिन न कहूँ थिर होत ।।
होइ सयान अयाँन हू, जुरि गुनवान समीप।
जगमग एक प्रदीप सों, जगत अनेक प्रदीप ।।

श्री रामलाल श्रीवास्तव 'लाल'

आप जिला गोरखपुर के निवासी हैं और वहां के सुकवि-मंडल के प्रमुख कवियों में हैं। ब्रजभाषा में आपकी 'राधारमन-विनोद' पुस्तक प्रकाशित हुई है। कविता का उदाहरण—

तरनि-तनूजा-तीर हेरि हरि रावरे कों,
पारावार पावरे पै पावँ परिबौ कहा।
कोमल कलित कमला की केलि-कला पेखि,
चंचला चला पै चित-चोर धरिबौ कहा ।।
बिरह तपाए पाइ सुलभ सनेहिन कौ,
पागल-पपीहै पै बिचार करिबौ कहा।

एक घनस्याम देह-गेह-नेह नातौ छाए,
दूजौ घनस्याम-मेह-मांहि तरिबौ कहा ॥

जगदंबाप्रसाद 'हितैषी'

'सनेही' जी की तरह कानपुर के 'हितैषी' जी भी ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों के उन्नायक रहे हैं। इन्होंने ब्रजभाषा की लचक और कमनीयता को खड़ी बोली में भी लाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। इनकी अन्योक्तियाँ बहुत चुटीली हैं। 'हितैषी' जी की अनेक रचनाओं के सग्रह 'कल्लोलिनी', 'नवोदिता' आदि प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी बहुत सी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपी हैं। दुर्भाग्य से 'हितैषी' जी का इसी वर्ष (सवत् २०१४ में) देहावसान होगया।

सरजूशरण शर्मा

शर्माजी का जन्म कानपुर में सं० १९६१ (१९०४ ई०) में हुआ था। उनके पिता पं० गणेशप्रसादजी एक अच्छे कवि थे। सरजूशरण जी ने ब्रजभाषा में 'पीयपायँ' तथा 'रूमाल-शतक' इन दो कृतियों की रचना की है। पहला ग्रंथ घनाक्षरी-सवैयों में और दूसरा दोहों में है। इन्होंने काव्य में उपनाम 'सरजूजन' दिया है। २४ वर्ष की अल्प आयु में ही यह होनहार कवि दिवंगत होगए। 'पीयपायँ' का एक छंद—

खेलन फाग चहौ जु दया करि, भावतो भाग उदय भयो मेरो।
पै बिनती है इती 'सरजूजन', ना इतै आपु सखीगन टेरो ॥
रंग-गुलाल धरो अलगाय कै, मोहिं लगाय हिये हँसि हेरो।
रावरे रंग रँगौ सिगरो अङ्ग, दूसरो रङ्ग न मो पर गेरो ॥

'रूमाल-शतक' का एक दोहा—

चितवति चंद रूमाल लै, सुमुखि सामुहे तानि।
विधुमुखि वधू पियति मनहुँ, यहि विधि विधु-छवि छानि ॥

का उत्तर भी शास्त्री जी ब्रजभाषा-काव्य में देते हैं, जो पुराने कवियों की याद दिलाते हैं। ब्रजभाषा के प्रति शास्त्री जी की एक रचना का अंश हम यहां उद्धृत करते हैं—

सहज सुहावनि सरस सरल स्रुति मधुर मनोहर।
जो नँदनंदन-भगति-सलिलमय बनी सरोवर॥
जामें ज्ञान–विराग कुंद–अरविंद सुहाए।
बनि मिलिंद कविवृंद बिहँसि गुन गुन-गुन गाए॥
सुर–भूसुर–मुनि--जोगिजन, जासु उतारें आरती।
ते धनि-धनि जग जनम धरि, जे सेवत ब्रज-भारती॥

उत्तमराम शुक्ल, नागर

शुक्लजी का परिवार तुलसी चबूतरा, मथुरा में बहुत पुराना है। आपके पिता श्री दुर्लभराम जी शुक्ल यहाँ के सम्मानित वैद्य थे। उत्तमरामजी का जन्म स० १६६७ (१६१० ई०) में हुआ। आप संस्कृत के प्रकांड पंडित हैं। संस्कृत, ब्रजभाषा और गुजराती में आपने कितनी ही रचनाएं की हैं। आयुर्वेद ज्योतिष, तंत्रशास्त्र, रत्नशास्त्र आदि विविध विषयों के ज्ञाता होने के साथ शुक्लजी मल्लविद्या में भी निपुण हैं। इस पर आप एक ग्रन्थ लिख रहे हैं। ब्रजभाषा में आपने संपूर्ण भारतीय संगीत-शास्त्र लिखा है, जो इस विषय का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह ग्रंथ विविध छंदों में है। उदाहरण—

द्रुतविलंबित छंद

पुरुष-संज्ञक रागन अङ्ग में, बसत रागिनि सुंदरि संग में।
इमि पुरातन पंडित कल्पना, उचित ही अति सुंदर जल्पना॥

विनय-संबंधी पद

दीन जन रच्छक हौ भगवान।
मोह-लोभ-मद-कोह-काम ये माने मित्र महान॥

इन सों घिर्‌यो रह्‌यो मै अब लौं भटकत फिर्‌यो अजान।
जन्म अनेकन के कुसग की टेव न छूटत कान।
पद-पकज कौ प्रेम देहु अब जासों बगदें प्रान।
योग-यज्ञ-तप-दान तनिक हू करि न सक्यौ मैं जान।
मित्र बने अरि मोहिं घसीटत ग्राह महा बलवान।
माया बारिधि तव गज डूबत बेगि बचावहु आन।
असरन-सरन तुम्हीं 'उत्तम' के फंद छुड़ावहु टान॥

बालमुकुद चतुर्वेदी 'मुकुंद'

मथुरा के श्री बालमुकुंद जी चतुर्वेदी ब्रज-भारतो के एकांत साधक हैं। इन्होंने 'श्रीकृष्ण-कौस्तुभ' नामक एक बड़ा ग्रंथ लिखा है, जिसमें भागवत की कथा ब्रजभाषा-काव्य में विस्तार से वर्णित है। यह ग्रंथ अपने ढग का अनूठा है और मुकुदजी की प्रतिभा एवं मौलिक कल्पना-शक्ति का द्योतक है। मुकुंदजी ने स्फुट छंद भी बहुत लिखे हैं। 'रसखान की आँखें' शीर्षक एक छंद देखिए—

चुगि-चुगि चिनगी चकोर लौं चरित्रनु की,
नित चित चोर मुखचंद हरसातीं वे।
पी-पी बूँद स्वाति लौं सुजान रसनागर की,
चारु चित-चोप मुकताहल भरातीं वे॥
मुदित 'मुकुन्द' वे अनोखी अँखियाँ रसाल,
चचल मराल लों दृगचल समातीं वे।
प्यारे रसखान की रसिक रस-खान आँखैं,
पाँखैं यदि होतीं तौ जरूर उड़ि जातीं वे॥

रामनाथ ज्योतिषी

अयोध्या के जाने-माने ज्योतिषी जी ब्रजभाषा के एक कुशल कवि हैं। 'रामचन्द्रोदय' काव्य पर आपको 'देव-पुरस्कार' प्राप्त हो चुका है। एक उदाहरण देखिए—

कैधों अस्रु-जाल-माल मिथिला नगर की है,
कैधों मिथिलेस के मनोरथ की माला है।
कैधों राम-रूप मांहि सागर सुमेर जुत,
कैधों चाप-खंडन कौ सुजस निराला है।।
कैंधों मंद-भूपन के मानस-कमल-ऐंचि,
गूंथ हिय डार्यौ हार 'जोतिसी' बिसाला है।
ताला प्रेम भौन कौ, बिचित्र मन-माल किधों,
बीरन-बिजै की कैधों कट जयमाला है।।

रामचंद्र शुक्ल 'सरस'

आप डाक्टर रसाल जी के छोटे भाई हैं। आपका जन्म संवत् १९६० (१९०३ ई०) में हुआ था। 'सरस' जी ने ब्रजभाषा में 'अभिमन्यु वध' नामक एक खंड-काव्य लिखा है। उसका एक छंद देखिए—

सुभट सुभद्रा-सुत बीरन की भीरन में,
चारों ओर केसरी-किसोरन लों गाजै है।
'सरस' बखानै. देखि भीर रिपु-बानन की
आनन पै ओप लै सचोप कोप छाजै है।।
रंग बदरंग त्यों बिपच्छिनि कौ ढंग देखि,
रंग निज लेखि मंद हास मुख राजै है।
रौद्र रस राज्यौ, त्यों भयानक सों भाज्यौ मनों,
बीर-रस हास के बिलास में बिराजै है।।

लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश'

स्व० ईशजी काशी के निवासी थे। आपने अपने माता-पिता और गुरु के नाम क्रमशः 'पार्वती', 'शिवमङ्गल' और 'रसमय-सिद्ध' ग्रंथ लिखे। उनका 'लंका-दहन' नामक एक अन्य सुंदर काव्य काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है। इस काव्य

में अवधी-मिश्रित ब्रजभाषा का प्रयोग है। 'ईश' जी की प्रायः सभी रचनाएं उच्चकोटि की हैं। खेद है कि ऐसे कवि का असमय में ही अवसान होगया। हनुमानजी और मेघनाथ के युद्ध का वर्णन 'ईश' जी ने इस प्रकार किया है—

ऐंचि-ऐंचि पेचन पै पेच बांधि बांधि दोऊ,
दावँन पै दावँ कै कुदावँ मैं समाने जात।
छुटि-छुटि, जुटि-जुटि, दपटि-दपेट-दुति,
लपटि-लपेटि कै चपेटि सँमुहाने जात॥
झपटि-झपटि कै झुकाइ झट झोंकन सों,
झार दै-दै अरुझि, सुरझि बिरुझाने जात।
जाने जात बिलग न चक्कर करत दोऊ,
चक्कर समान एक-एक में अँमाने जात॥

राजेशदयालु

आप लखनऊ के निवासी हैं और श्री गणेशदयालु श्रीवास्तव के सुपुत्र हैं। राजेशजी ने ब्रजभाषा में भक्ति-रस से ओत-प्रोत काव्य-रचना की है। 'श्याम रसमयी' 'राजेश-सतसई' 'गौरांग-चरित्र', 'राजेश-दोहावली' आदि आपकी अनेक सुंदर रचनाएँ हैं। राजेशजी कम लिखते हैं, परतु जो लिखते हैं वह उत्कृष्ट कोटि का। साहित्यकार के कर्तव्य का कैसा सुष्ठु कथन राजेशजी ने अपने सीधे-सादे शब्दों में किया है—

कह बुध बैनु ललामु, गुन चाहिय, परिमानु नहिं।
गुनहिं करौं परनामु, गुन परमानौ चाहिए॥
जो पै कलमु चलाइए, कबि जू कहौं निहोरि।
कि तौ डारिए तोरि ही, कि तौ डारिए तोरि॥
सँभरि चलौ साहित्य-मग, है काई कलि-काल।
ए सब छन के जानिए, बिनु मरजाद बिहाल॥

जातें भलौ कहूँ न सो, जाके भाउ न कोइ।
ताहू भाखैं कबि रतनु, पहिलौ मूरख सोइ ॥

सेवकेंद्र त्रिपाठी

आधुनिक ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि श्री रामसेवक त्रिपाठी 'सेवकेंद्र' का जन्म कार्तिक शुक्ला ६, सं० १९६६ (१९०९ई०) को झांसी में हुआ। इनके पिता पं० रामचरण जी तिवारी हैं। सेवकेंद्र जी ने अँग्रेजी एवं मराठी कविताओं का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद किया है। आपके 'मीरा-मानस', 'ताजमहल', 'सूरदास', 'छत्रसाल' आदि खडकाव्य अप्रकाशित हैं। बुन्देलखड और मध्यभारत के राजदरबारों में सेवकेंद्र जी का अच्छा सम्मान रहा है। यहाँ 'रास-पूर्णिमा' का एक छंद उद्धृत करते हैं—

उत सुधासर सुधा धरि बिलसत मजु, इत सुधाधर बर सुर कौ बिलासु है।
उत मद चंद तारिकाँन झिलमिल जोति, इत दृग-तारिकांन अमित उजासु है॥
'सेवकेंद्र' सोरह कला कौ उत प्रानदान, सोरह सहस्र कला कौ इत बिकासु है।
उत नील अंबर जुन्हैया कौ प्रकासु होत, इत पीत-अंबर कन्हैया कौ प्रकासु है॥

गोविंद चतुर्वेदी

ये मथुरा के कविवर नवनीत जी के पुत्र हैं। इनका जन्म सं० १९६९ (१९१२ ई०) में हुआ। इन्होंने अपने पिताजी से काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया। आठ वर्ष की अवस्था में ही सुंदर कविता करने लगे। सामवेद और काव्य-शास्त्र का आपने विधिवत् अध्ययन किया है। इनकी कविता ओजपूर्ण है। 'ब्रजवानी' नामक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। आजकल आप संस्कृत 'ध्वन्यालोक' का ब्रजभाषा में अनुवाद कर रहे हैं। उसी का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

मूल प्राकृत— अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्ति अंधअ सेज्जाए महणिमज्जहिसि ॥

अनुवाद—सोवत सास वहां अरु हौं यहाँ, है दिन देखिलै पंथ अँनारी।
'गोबिंद' द्वैक घरीक के जात, झुकेगी निसा घँनघोर अँध्यारी ॥
चूक भएँ झुकिहैं गुरु-लोग, सुझावत हौं यह बात विचारी।
एरे बटोही रतौंधिया तू, परियो जनि आइकें सेज हमारी ॥

बलरामप्रसाद मिश्र 'द्विजेश'

बस्ती जिला के प्रसिद्ध कवि 'द्विजेश' जी (जन्म संवत् १९२९=१८७२ ई०) प्रचार से सदा दूर रह कर ब्रजभाषा की सेवा एक दीर्घकाल से करते आए है। भक्ति, शृङ्गार और नीति विषयों पर आपने बहुत सी रचनाएँ की है। इनके काव्य में चमत्कार-भंगिमा की छटा प्रायः देखने को मिलती है। पुरानी शैली के काव्य के अतिरिक्त 'द्विजेश' जी ने नए विषयों पर भी कुछ रचनाएँ लिखी हैं। वर्तमान स्वराज्य पर उनका एक छद इस प्रकार है—

यारो, या सुराज पाइवे ते फल पैहो कहा,
यामें है जरूर कछु रावरे बिचारो की।
ब्राह्मन अरु छत्री, सूद्र, खत्री ह्वै एकत्री सबै,
कीन्हो सहभोज देखि पत्री लेक्चरारो की ॥
देखौ या सुराज के प्रतच्छ फल येई चार,
जाते हिंदराज में अकाज हैं हजारो की।
नित की निजा है, किते जीवों की कजा है,
कास्तकारों की मजा है, औ सजा है जमींदारों की ॥

किशोरीशरण 'अलि'

'अलि' जी का जन्म सं० १९७२ (१९१६ ई०) में हुआ। आप वृन्दावन के वर्तमान इने-गिने ब्रजभाषा-कवियों में हैं। जो

वृन्दावन एक दीर्घ समय तक ब्रजभाषा-काव्य-रचना का प्रमुख केंद्र रहा, वहाँ अब इस ओर उपेक्षा शोचनीय है। 'अलि' जी ने 'नागरी-नखशिख-शतक', 'अष्टयाम' तथा 'हितहरिवंश-यश' नामक काव्य-ग्रंथ लिखे हैं। उनकी स्फुट रचनाओं का संग्रह 'अलिउराभरण है, जिसका एक छंद यहाँ दिया जा रहा है—

> और काहू भाँतिन सों ऐन मम प्राण लेहु,
> पै न निज बिरहा की आँच दहिबौ करौ।
> काहू इकौसें ठौर दूर दुरि परिजन ते,
> हँसि-हँसि रस के मृदु बैन कहिबौ करौ।
> मैन के मसोसन तें अधिक अचैन 'अलि',
> भरि कै निसक अङ्क चैन लहिबौ करौ॥
> जैसें रहो हो मम नैन में कमल-नैन,
> ऐसें मम ऐन दिन-रैन रहिबौ करौ॥

जगदीश गुप्त

प्रयाग विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक डा० जगदीश गुप्त ब्रज और खड़ी बोली दोनों के कवि हैं। ब्रजभाषा को इन्होंने नए युग के अनुरूप नए भाव देने की चेष्टा की है। इनकी कुछ रचनाएँ रीतिकालीन उत्कृष्ट रचनाओं से टक्कर लेती हैं। नेत्रों का एक वर्णन देखिए—

> कीन्हें हजारन हू बरुनीन के, जारन में न कबौं लहि जायँगी।
> पाइ जौ नीर गभीर गईं, कहूँ हीरि न ए मछुरी गहि जायँगी॥
> देखत-देखत बूड़िहैं तारक, सूनी दुऔ पलकैं रहि जायँगी।
> रोउ नहीं अरी रोउ नहीं, न तौ आँसुन में अँखियां बहि जायँगी॥

छबीलेवल्लभ गोस्वामी

आपका जन्म वृन्दावन में सं० १९७६ (१९२० ई०) में हुआ। ये स्वामी हरिदासजी के वंशज गो० व्रजवल्लभ जी के पुत्र

हैं। अब तक आपने विविध छंदों में 'कुंजबिहारी अष्टक', 'राधिका-स्तवराज', 'ब्रजभाषा भारती', 'गांधी गरिमा', 'उद्धवसंदेश' तथा 'रसतरंग' नामक काव्य एवं दो नाटक 'हरिदासावतरण' तथा 'महारास' लिखे हैं। 'केलिमाल' एवं 'स्वा० हरिदास अभिनंदन-ग्रन्थ' का सम्पादन किया है। प्रसिद्ध संगीतज्ञ ग्वारिया बाबा तथा वंशी अलिजी के जीवन-चरित्र भी लिपिबद्ध किए है। रचना का उदाहरण—

> नँदनंद-नंदनि बदनी, दुःखद्वन्द-फंद निकंदिनी।
> छविचंद मंद अमंद सुख, रससिंधु भव अभिनंदिनी॥
> निर्गुण-सगुण की संधि सुचि, कल कामना निसकाम की।
> हे राधिके! अब करि कृपा, हरि कालिमा हृद-धाम की॥

उपर्युक्त ब्रजभाषा-कवियों के अतिरिक्त आधुनिक काल में अन्य कितने ही ज्ञात-अज्ञात कवि हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं से हिंदी साहित्य-भण्डार को भरा। अब से ३०-३५ वर्ष पहले तक ब्रज में और ब्रज के बाहर कवि-सम्मेलनों की धूम रहती थी, जिनमें ब्रजभाषा की कविताओं को प्रमुखता रहती थी। काशी का कवि-समाज बहुत समय तक पूर्व और पश्चिम के ब्रजभाषा-कवियों के सम्मिलन का प्रमुख केंद्र रहा। उसमे 'रत्नाकर'जी, बचऊ चौबे, बा० रामकृष्ण, अम्बिकादत्त 'व्यास', नवनीत चतुर्वेदी आदि सुकवि भाग लेते थे। काशी के म० म० अयोध्यानाथ जी 'अवधेश', डा० बैजनाथसिंह 'किंकर' तथा काशीपति त्रिपाठी के नाम भी अविस्मरणीय हैं। देवीप्रसाद जी 'पूर्ण', सनेहीजी, हितैषीजी, सत्यनारायण जी पांडे, प्रणयेश आदि के कारण कानपुर में ब्रजभाषा-साहित्य की धारा बहुत समय तक प्रवाहित होती रही। बुंदेलखंड में यह कार्य सर्वश्री अम्बिकेश, ब्रजेश, लाल, सेवकेंद्र आदि ने किया है।

मथुरा तो 'पढ़ंत-दंगलों' के लिए विख्यात रहा है श्री नवनीत जी, भोलाराम भंडारी और पुरुषोत्तमदास 'सैयां' के प्रयत्न इस दिशा में सराहनीय रहे है। इन दंगलों में भाग लेने और काव्य-रसास्वादन के लिए दूर-दूर से कवि और साहित्य-प्रेमी आते रहते थे। मथुरा के कई पुराने साहित्यिक अखाड़ियों के नाम भी यहां लिए जा सकते हैं। उस्ताद बिरजीसिह, उनके शिष्य नत्थीलाल जड़िया; गुरु मनियां भट्ट, उनके शिष्य नारायनदास; उस्ताद हरसुख किशनलाल पापड़ वाले, बा० श्यामाचरण, व्रजवल्लभजी, मानिक लाल तथा हीरालाल चतुर्वेदी आदि ने संस्कृत के अनुवाद एवं प्राचीन परिपाटी की ब्रजभाषा कविता लिखने के अतिरिक्त अनेक गेयपद, स्वाँग और नाटक लिखे। भगत-नाट्य साहित्य के निर्माण में मथुरा और हाथरस के साहित्यिक कलाकारों का प्रमुख योग रहा है।

सौभाग्य से मथुरा में आज भी ब्रजभाषा के अनेक कवि विद्यमान हैं, जिनकी सुंदर रचनाएँ प्रकाश में आती रहती हैं। 'सैयां' जी, रामलला, गोविद और मुकुद चतुर्वेदी के अतिरिक्त सर्वश्री रामगोपाल वर्मा, चुन्नीलाल 'शेष', गोपालदत्त, चच्चनजी, गोपालप्रसाद 'व्यास', दीनानाथ 'सुमनेश', शर्मनलाल अग्रवाल, कैलाशचन्द्र 'कृष्ण', भगवान'दत्त' चौबे, बरसानेलाल चतुर्वेदी, रामनारायण अग्रवाल आदि ब्रजभाषा का काव्य-भण्डार भर रहे हैं।

वृन्दावन में दिवंगत महानुभावों—सर्व श्री राधाचरण गोस्वामी, लाल बलवीर, हरदेव आदि—ने आधुनिक काल में ब्रजभाषा के बहुमुखी प्रचार-प्रसार में स्तुत्य योग दिया। गत ई० शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शती के प्रारंभ में वृन्दावन में कई अच्छे कवि हुए। निंबार्क संप्रदाय के बाबा नरहरि 'अलि', हरिदासीय संप्रदाय के गो० नवनागरीदास जी, गौड़ीय ललितलड़ैती जी, वल्लभ संप्रदाय में लाल जी की

परंपरा के गो० बलदेव जी, कुंजलालजी, सुंदरलाल जी, जीवन-लालजी और दयालुचंद्र जी; राधावल्लभीय संप्रदाय के राधा-लालजी, प्रीतमलाल जी, प्रियादास जी (पटना), शङ्करदत्त जी प्रीतमदास जी, गोपालप्रसाद जी, मनोहरवल्लभ जी, भोलानाथ जी, युगवल्लभ जी, गोवर्धनलाल जी आदि अनेक महानुभाव हुए। इनमें से कई ने काव्य के अतिरिक्त इतिहास, नाटक, टीकादि का भी प्रणयन किया। कुंवर गजराजसिंह, नंदनंदन, रोशनलाल जी 'वेदपाठी' भी अच्छे कवि थे। वृन्दावन के श्री किशोरीलाल जी गोस्वामी (१८६५-१९३२ ई०) का नाम नहीं भुलाया जा सकता, जिन्हें हिंदी का प्रथम उपन्यासकार होने का गौरव प्राप्त है। उन्होंने प्राचीन शैली की अनेक सुंदर कविताएँ भी लिखीं। ब्रजभाषा के एकनिष्ठ सेवी, मुखराई के कविवर प्रेमीजी का नाम भी उल्लेखनीय है।

वृन्दावन के वर्तमान ब्रजभाषा-कवियों में गो० मदनमोहन जी ('राष्ट्र सतसई' के लेखक) किशोरीशरण जी 'अलि', श्री रामहरि शास्त्री, गो० छबीलेवल्लभ आदि के नाम लिए जा सकते हैं। अन्य साहित्यकार श्री व्रजवल्लभशरण जी, श्री दानबिहारी-लाल शर्मा, ललिताचरण जी गोस्वामी, बा० हितदास, विन्दुजी, श्री रामकृष्णदेव गर्ग, श्री चिंतामणि शुक्ल, प्रेमानन्द परि-व्राजक, श्री ब्रजभूषण मिश्र आदि हैं। खड़ी बोली में काव्य-रचना करने वालों में सर्वश्री अतुलकृष्ण गोस्वामी, हरिकृष्ण ब्रह्मचारी, कृष्णचैतन्य भट्ट तथा शरणबिहारी गोस्वामी की रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं ।

हाथरस के सर्वश्री मुकुंद कवि, शिवलाल, श्यामलाल तथा खूबीराम के अतिरिक्त बाबा शीतलदास मौनी का नाम अमर रहेगा।

ये हाथरस के वैश्य थे, परंतु इन्होंने वृन्दावन में अपना अधिकांश समय व्यतीत किया। वृन्दावन तथा ब्रज के अन्य कई स्थानो में शीतलजी ने दीवालों पर कई हजार सरस पद लिखे, जिनमें से कुछ तो उत्कृष्ट कोटि के हैं। ये वृंदावन के कवि श्रीशत्रुघ्नदत्त दुबे के पास हैं।

आगरा में नाथूराम जी 'शङ्कर' तथा 'कविरत्न' सत्यनारायण के अतिरिक्त ब्रजभाषा कवियों में मरालजी, पं० मुरलीधर जी, अजयराम लवानियाँ, पन्नालाल 'प्रेमपज', देवीप्रसाद 'दिव्य' तथा श्यामलाल शुक्ल के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समय श्री अमृतलाल चतुर्वेदी तथा श्री हृषीकेश चतुर्वेदी यहां के प्रमुख कवि हैं। हृषीकेशजी की सरस भावपूर्ण रचनाएँ श्रोताओं पर अमिट छाप डालती हैं। नई पीढ़ी के जिन युवक कवियों की ब्रजभाषा में गति और रुचि है उनमें सर्वश्री राजेश दीक्षित, जगदीशचंद्र पाठक, राजेंद्र चतुर्वेदी, थानसिह 'सुभाषी' तथा लक्ष्मणस्वरूप कुलश्रेष्ठ के नाम लिए जा सकते है। आगरा सदा ही विद्वानों व साहित्य-सेवियों का गढ़ रहा है। आज भो यहाँ आचार्य गुलाबराय, पं० हरिशङ्कर शर्मा, पं० श्रीराम शर्मा, श्री कृष्णदत्त पालीवाल, डा० सत्येंद्र, डा० रामविलास शर्मा आदि विद्वान् मौजूद हैं, जिन्होंने ब्रज और ब्रजभाषा-साहित्य के लिए ही नहीं, हिंदी-साहित्य के विविध अगों को समृद्ध बनाने में भी महत्वपूर्ण योग दिया है।

ब्रज के अन्य स्थानों में भी ब्रजभाषा के अनेक गण्यमान्य कवि और साहित्य-सेवी गत सौ वर्षो में हुए हैं। इनमें से कई अब भी विद्यमान हैं। इटावा के स्वनामधन्य साहित्यिक प० द्वारिकाप्रसाद शर्मा चतुर्वेदी का देहावसान हाल में हुआ है। वहाँ के पं० रघुवरदयाल मिश्र अब भी लगन के साथ ब्रजभाषा का शोध-कार्य कर रहे हैं। मैनपुरी जिले के कोशलेंद्रजी, शिवशङ्कर पांडे, उमरावसिंह

और शिवशङ्कर 'भारती' के नाम सुविदित हैं। धौलपुर (राजस्थान) में सर्वश्री गङ्गाप्रसाद पांडे, ईश्वरी बौहरे तथा गगाप्रसाद कमठान के नाम उल्लेखनीय हैं। खेद है कि कमठान जी गत २० जुलाई, १९५७ को हमारे बीच से उठ गए। भरतपुर में रावत चतुर्भुजदास चतुर्वेदी ब्रजभाषा का कार्य कर रहे है। वे कवि भी है। एटा, अलीगढ़ और बुलदशहर में भी ब्रजभाषा के अनेक सेवी वर्तमान है। डिबाई के यज्ञदत्त शर्मा की सुदर कविताएँ कभी-कभी देखने को मिलती हैं।

ब्रज के बाहर इस काल में ब्रजभाषा के अनेक अच्छे कवि हुए, जिनमे से कुछ का संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया जा चुका है। 'प्रतापचरित्र' के लेखक मेवाड के श्री केसरीसिह बारहट और 'कृष्णायन' महाकाव्य के यशस्वी लेखक श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र को हम नही भुला सकते। मिश्रजी ने रामायण की तरह संपूर्ण कृष्ण-चरित का वर्णन 'कृष्णायन' में किया है। प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ राय-कृष्णदास की 'ब्रजरज' और श्री उमाशङ्कर वाजपेयी की 'ब्रजभारती' उच्चकोटि की कृतियां है। झांसी के श्री रामचरण मित्र, फर्रुखाबाद के वचनेशजी, विलेले जी, ललनप्रिया और लल्लू जी के नाम आधुनिक ब्रजभाषा-कवियों मे स्मरणीय रहेगे। अवध के उन्नाव और रायबरेली जिलों में ब्रजभाषा काव्य की बड़ी धूम रही है। वहां के कवि-सम्मेलनों और मेलों में अब भी सैकड़ो पुराने छद कहने वाले मिलेगे। आधुनिक कवियों में बोघापुर (जि० उन्नाव) के पं० भास्करदत्त दीक्षित तथा पं० सिद्धिनाथ शुक्ल और राय-बरेली के पं० द्वारकाप्रसाद शुक्ल 'शंकर', बछरावाँ के पं० शिवरत्न शुक्ल 'सिरस', गेगासों के पं० सूर्यकुमार पांडेय, पहाड़गढ़ के श्री अवधबिहारी तथा रायपुर-मझिगवाँ के पं० दुर्गाप्रसाद त्रिवेदी के नाम उल्लेखनीय हैं। त्रिवेदी जी ने काव्य-रचना के अतिरिक्त

'ब्रज क्या और कहाँ है' नामक पुस्तक भी लिखी। फतेहपुर जिला का असनी गाँव ब्रजभाषा काव्य का प्रमुख केंद्र रहा है। नरहरि वदीजन, बेनी, ठाकुर, लाल, ऋषिनाथ आदि अनेक प्रख्यातनामा कवि यहाँ हुए। आधुनिक कवियों में सेवक, शकर, श्यामसुंदर मिश्र, शिवराखन वाजपेयी, लाल, ब्रजेश और कृष्ण ब्रह्मभट्ट के नाम वर्णनीय हैं। फतेहपुर जिले का दूसरा प्राचीन स्थान एकडला है, जहाँ हँसदास, दत्त कवि, रामदत्त, नाथ, मूनकवि, भवानीदास, बलदेव, चतुरेश आदि कवि हुए थे। वर्तमान काल के कवि गोपाल, रामरतन शुक्ल, मनीराम, प्रागदास, छेचूलाल, सीलचद आदि हैं। कानपुर के 'रसिक समाज' में ललित, रत्नेश, नवीन तथा सेवक कवि थे

वस्तुत: बृजभाषा के कवियों की सख्या इतनी अधिक है कि सभी के नाम यहाँ नही दिए जा सकते। विवेच्यकाल के बृजभाषा काव्य में जहाँ एक ओर पुरानी परिपाटी के दर्शन होते हैं वहाँ नए विषयों और नए भावों के भी। भारतेंदु जी के समय मे ही अनेक नामांकित कवियों ने न केवल बृजभाषा के सौष्ठव का निर्वाह किया अपितु भावपक्ष की सबलता की ओर ध्यान दिया। ऐसे कवियों की रचनाओं में कला-पक्ष की न्यूनता मिलती है, उक्ति-वैचित्र्य और लाक्षणिक प्रयोग कम मिलते हैं; परतु उनमें अनु-भूति की गहराई है, जो सरल-स्वाभाविक भाषा में बड़ी प्रभावो-त्पादक होती है। 'कविरत्न' सत्यनारायण, रत्नाकर, वियोगीहरि, जगनसिंह सेंगर आदि ने बृज के ठेठ शब्दों का यथोचित प्रयोग कर भाषा को सँवारा। चालू चुभते हुए शब्दों के प्रयोग में राजेश दयालु सिद्धहस्त हैं। रत्नाकर जी की सुगठित भाषा काव्य-पाठ में त्वर और मंथर दोनों गतियों का निर्वाह कर सकी। इस काल के कवियों ने कवित्त, दोहा, रोला तथा पद—इन छंदों का विशेष प्रयोग किया। कुछ नए छंद भी सामने आए। मुक्तक रचनाओं के

अतिरिक्त कई कथा-काव्य लिखे गए। 'हरिश्चंद्र', 'गङ्गावतरण' 'उद्धवशतक', 'द्रौपदीदुकूल' आदि उच्चकोटि के कथा-काव्य हैं। सतसई लिखने की पुरानी परम्परा भी बराबर मिलती है। इस काल में 'वीर सतसई' (वियोगी हरि), 'संयमो सतसई' (सयमीजी) 'करुण सतसई' (रामेश्वर करुण), 'फलक सतसई' ('फलक' जी), 'किसान सतसई' (सेगर जी), 'दुलारे दोहावली' (दुलारेलाल) आदि ग्रंथ रचे गए। इन तथा अन्य अनेक आधुनिक रचनाओं में मानवीय मनोभावों तथा प्रकृति का सहज चित्रण मिलता है। कही-कहीं भावुकता की मात्रा अधिक हो गई है।

ब्रजभाषा और साहित्य के विविध अङ्गों की वैज्ञानिक शोध तथा समीक्षात्मक अध्ययन इस काल की विशेषता है। ग्रियर्सन, शिवसिंह, मिश्रबधु, श्यामसुन्दरदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय तथा रामचन्द्र शुक्ल ने इस दिशा मे बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। ग्रियर्सन का 'लिंग्विस्टिक सर्वे', शिवसिंह-कृत 'सरोज', मिश्रबन्धु-रचित 'मिश्रबन्धु-विनोद' तथा 'हिन्दी नवरत्न', श्यामसुन्दरदास कृत 'भाषा विज्ञान' आदि ग्रन्थ तथा उपाध्यायजी एव शुक्लजी के हिंदी साहित्य के इतिहास उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इनसे ब्रजभाषा-साहित्य पर बड़ा प्रकाश पड़ा है। ऐतिहासिक ऊहापोह के साथ साहित्य का समीक्षात्मक विवेचन शुक्ल जी की विशेषता रही है। सूर, तुलसी आदि महाकवियों पर उनके लिखे विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध इसके परिचायक हैं। ब्रजभाषा पर विशेष कार्य करने वाले वर्तमान साहित्यकारों में सर्वश्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, धीरेन्द्र वर्मा, किशोरीदास वाजपेयी, डा० विश्वनाथ प्रसाद, सुकुमार सेन और चन्द्रभान रावत के नाम उल्लेख्य हैं। सौभाग्य से ब्रज-साहित्य पर कार्य करने वाले इस काल के महानुभावों की संख्या बहुत बड़ी है। सर्वश्री पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र, कन्हैयालाल पोद्दार वियोगी हरि, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, राहुल

सांकृत्यायन, गुलाबराय, श्रीनारायण चतुर्वेदी, श्रीरामशर्मा, हरिशंकर शर्मा, गोकुलचन्द शर्मा, गो० व्रजभूषणलाल जी, कंठमणि शास्त्री, जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्रभुदयाल मीतल, मुन्शीराम शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, दीनदयालु गुप्त, रसाल जी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र सत्येन्द्र, नगेन्द्र, हरिहरनाथ टंडन, वासुदेवशरण अग्रवाल, ब्रज-रत्नदास, गुरुप्रसाद टंडन, व्रजेश्वर वर्मा, भवानीशंकर याज्ञिक, अगरचंद नाहटा, हरवशलाल, रामविलास शर्मा, राकेश गुप्त, द्वारका-दास परीख, कुमारमणि शास्त्री, बाबा कृष्णदास, कामताप्रसाद जैन रामदत्त भारद्वाज, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी आदि लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने ब्रजभाषा-साहित्य के विविध अङ्गों पर स्थायी महत्व के विवेचना-त्मक अध्ययन प्रस्तुत किए हैं। वर्तमान नवयुवक साहित्यकारों में सर्वश्री विजयेंद्र स्नातक. चुन्नीलाल 'शेष', शभुप्रसाद बहुगुणा, किशोरीलाल गुप्त, उमाशकर शुक्ल, शिवनाथ, गोपालदत्त, जगदीश गुप्त, ज्योतिप्रसाद जैन, राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, अंबाप्रसाद श्रीवास्तव, वेदप्रकाश गर्ग, कपिलदेवसिह, कृष्णाचार्य आदि हैं। ब्रजभाषा-साहित्य पर विविध ग्रंथ प्रकाशित होने के अतिरिक्त विवेच्य काल में अनेक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हुआ, जिनमें विद्वानों के खोजपूर्ण लेख प्रकाशित होते रहे। पुरानी पत्रिकाओं में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'मर्यादा', 'लक्ष्मी', 'सर-स्वती', 'माधुरी', 'सुधा', 'गङ्गा', 'वीणा', 'विशाल भारत', 'सम्मे-लन पत्रिका' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से कई पत्रिकाएं अब भी प्रकाशित हो रही हैं। वृंदावन के उपयोगी पत्र 'सुदर्शन', 'श्रेय', 'भक्त भारत', (संपा० श्री रामदास शास्त्री), 'नाम माहा-त्म्य' (संपा० श्री दानबिहारीलाल) हाल ही में बंद हुए हैं। इस समय वहाँ से 'श्री सर्वेश्वर' (संपा० व्रजवल्लभ शरणजी), 'प्रेम-सदेश' (स० विदुजी गोस्वामी), 'ऋषि जीवन', 'धर्म ज्योति', (सं० गो० रत्नलाल) तथा 'जाटकेसरी' (सं० श्रीनरेंद्रसिह वर्मा)

प्रकाशित होते हैं। राजा महेन्द्रप्रताप जी द्वारा संचालित पत्र 'प्रेम' और 'संसार-संघ' है। मथुरा से ब्रज साहित्य मडल को मुख-पत्रिका 'ब्रजभारती', (सं० कृष्णदत्त वाजपेयी) गत पन्द्रह वर्षो से प्रकाशित हो रही है। इसमें ब्रज एव ब्रजभाषा-साहित्य विषयक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित होते है। 'वल्लभीय सुधा' (सं० द्वारकादास परीख) का प्रकाशन गत सात वर्षों से हो रहा है। मथुरा से 'अखंड ज्योति' (सं० श्रीराम शर्मा), 'साधन' तथा 'भागवत पत्रिका' नामक मासिक धार्मिक पत्र प्रकाशित होते है। ज्यो० राधेश्याम द्विवेदी द्वारा प्रकाशित 'जनार्दन', 'देशबंधु' पत्र हाल में ही बंद हुए हैं। अन्य पुराने साप्ताहिक और पाक्षिक पत्रों में कुछ चल रहे है, शेष बद हो गए है। आगरा का 'साहित्य सदेश' वहा का प्रमुख साहित्यिक पत्र रहा है। इसके सपादक सर्वश्री गुलाबराय और सत्येद्र तथा सचालक महेद्र हैं। गत वर्ष मे डा० विश्वनाथ प्रसाद के सपादकत्व मे हिंदी विद्यापीठ, आगरा का त्रैमासिक शोध-पत्र 'भारतीय-साहित्य' प्रकाशित हो रहा है। हिंदी विद्यापीठ द्वारा हस्तलिखित ग्रंथो के प्रकाशन का महत्वपूर्ण कार्य भी प्रारभ कर दिया गया है। आगरा से हास्यरस का प्रसिद्ध मासिक 'नोंक-झोंक' (सं० केदारनाथ भट्ट) प्रकाशित होता है। इस नगरसे 'सैनिक' (सं०श्री कृष्णदत्त पालीवाल) 'अमर उजाला', 'उजाला' आदि कई दैनिक हिंदी पत्र भी निकलते है। अलीगढ़ से निकलने वाले पत्रों में 'शिक्षक-बधु' (सं० जगनसिंह सेंगर) पुराना मासिक है। हाथरस से 'संगीत' (स० प्रभुलाल गर्ग) मासिक पत्र प्रकाशित होता है, जो संगीत-प्रेमियों के लिए उपयोगी है। मैनपुरी की 'श्री भारती' (सं० शिवशंकर) इस समय बद है। ब्रज के अन्य स्थानों से भी अनेक पत्र प्रकाशित होते हैं।

ब्रजभाषा-साहित्य की उन्नति के लिए इस समय कई संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। इनमें अ० भा० ब्रज साहित्य मंडल प्रमुख है। इसका प्रधान कार्यालय मथुरा में है। 'मंडल' द्वारा खोज और

प्रकाशन के अतिरिक्त प्राचीन साहित्यकारों के स्मारकों का पुनरुद्धार-कार्य तथा ब्रज के सांस्कृतिक स्थलों की रक्षा का काम भी हाथ में लिया गया है। विद्याविभाग, कांकरौली ने ग्रंथ-संरक्षण और प्रकाशन का बड़ा उपयोगी कार्य किया है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग आदि संस्थाओं द्वारा इस दिशा मे निष्पन्न विविध कार्य भुलाए नही जा सकते। ब्रजभाषा-साहित्यिकों को प्रोत्साहन देने के लिए देव-पुरस्कार-रत्नाकर, पुरस्कार, नवलकिशोर-पुरस्कार आदि कई पुरस्कार भी चालू हैं।

ब्रज में आज जो साहित्यिक पुनरुत्थान हो रहा है उसमें प्राचीनता के सरक्षण के साथ नवीनता के ग्रहण की भावना भी है। खड़ी बोली हिंदी आज हमारी सर्वमान्य भाषा है। उसमें विविध विषयों पर लिखने वाले उपर्युक्त अनेक मूर्धन्य विद्वानों के अतिरिक्त बनवीरसिह 'रङ्ग', 'शिशु', 'नीरज', श्यामसुदर दीक्षित, 'कमलेश', राजेश दीक्षित, कुलदीप आदि अनेक होनहार कवि ब्रज मे विद्यमान है। खड़ी बोली के प्रति हमारी निष्ठा अनुदिन बढ़ती रहेगी। उसके और ब्रजभाषा के बीच गत सौ वर्षों में जो विवाद उत्पन्न हुए थे वे समाप्त हो गए हैं। सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के कारण खड़ी बोली हिंदी को राजभाषा का जो गौरवपूर्ण स्थान आज प्राप्त हुआ है वह भविष्य में और भी गौरवान्वित होगा। उसकी धात्री ब्रजभाषा के लिए इससे अधिक सतोष का और क्या विषय हो सकता है?

———

अध्याय ६

ब्रज का लोक-जीवन और लोक-साहित्य

ब्रज के लोक-जीवन में अनेक तत्वों का समावेश है। प्रत्येक तत्व का अपना इतिहास है। 'मध्यदेश' में स्थित होने के कारण ब्रज में अनेक सूत्र आकर यहाँ के लोक-जीवन को प्रभावित करते रहे। ब्रज के सूत्रों ने बिखर कर समस्त भारतीय जीवन को भी व्यक्त-अव्यक्त रूप से प्रभावित किया। ब्रज के लोक-जीवन में अनेक तत्वों के समन्वय की छाया है। कुछ तत्व तो स्पष्टत: अपने स्रोत तथा परिवार की ओर इंगित करते हैं। कुछ इतने घुल-मिल गए हैं कि उनका अलग करके देखना ही दुष्कर होगया है। ब्रज के लोक-जीवन की गहराई मे बड़े विचित्र और मनोरंजक तत्व छिपे पड़े है।

ब्रज का जातिगत सङ्गठन

ब्रज-जनपद में अनेक जातियाँ है। इन जातियों के साथ अनेक सांस्कृतिक तथा धार्मिक तत्व गुथे हैं, जिनका अध्ययन उन जातियों की उत्पत्ति और विस्तार का इतिहास खड़ा कर सकता हैं। ब्रज के लोक-जीवन का जातिगत अध्ययन अभी आरम्भ भी नहीं हुआ है। कुछ यूरोपीय विद्वानों ने भारत की जातियों का अध्ययन किया था। ग्राउज महोदय ने ब्रज को अपने अन्वेषण का विषय बनाया। उनके अध्ययन ने नवीन मार्ग खोला। किंतु इन विद्वानों का, जातियों का अध्ययन ऐतिहासिक शैली पर हुआ। जिस प्रदेश में जो जाति आज बसी है वह वहां कहां से आई होगी, उसका भारतेतर स्रोत कौनसा रहा होगा, आदि प्रश्नों पर विचार

हुआ है। कुछेक विद्वानों ने भिन्न जातियों की बोलियों के आधार पर व्याख्या की थी। वस्तुतः ध्वनियों का विवेचन ही जातियों के सच्चे इतिहास के विषय में परिचय दे सकता है। किसी जाति-विशेष की विचित्र ध्वनियों का विश्लेषण ही इस क्षेत्र में सहायक हो सकता है। इस प्रकार की ध्वनियों का विश्लेषण बोम्स, हॉर्नले आदि कई विद्वानों ने किया है। किंतु इनके अध्ययन का सम्बन्ध जातियों के अध्ययन से नहीं जोड़ा गया। इन विद्वानों ने आर्य-अनार्य ध्वनियों का वर्गीकरण किया है। कितु यहाँ भी एक दोष रह गया है। कुछ विद्वान् तो अधिकांश तत्वों को अनार्य मानते रहे। कुछ आर्य तत्वों के सिद्ध करने में लगे रहे। इस एंचा-तानी में निष्पक्ष अध्ययन संभव नहीं हो सका। इस अध्याय में ब्रज की प्रत्येक जाति का विषद् विश्लेषण सम्भव नही, उनका साधारण परिचय तथा उनकी ब्रज-लोकजीवन को देन का सक्षिप्त विवेचन ही यहाँ दिया जा सकेगा।

ब्रज में जो जातियां है उनको कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। सबसे पहिले जातियों के दो वर्ग दीखते है—१. घूमने-फिरने वाली जातियां तथा २. स्थायी जातियां। घूमने-फिरने वाली जातियों को तीन वर्गो में विभाजित किया जा सकता है—१. अपराधी जातियां, २ निश्चित पेशे वालो जातियां तथा ३. भिक्षाटन करने वाली जातियां। अपराधो जातियों में कंजरा, हाबूड़ा, वहेलियां आदि आती हैं। आजकल ये जातियां प्रायः पुलिस के थानों के आस-पास बसी रहती हैं। कंजरा जाति की बोली में अनेक विचित्र ध्वनियां हैं। सबसे विचित्र ध्वनियां हाबूड़ा जाति की हैं। इन ध्वनियों में आर्य-ध्वनियों का नितान्त अभाव-सा दीखता है। इस जाति के रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास, मूढ़ग्राह सभी

विचित्र हैं। हाबूड़ा घास खोदकर बेचने का कार्य करने लगे हैं। कुछ हाबूड़ा अपाहिज बनकर भीख माँगने का भी कार्य करते हैं। कंजारा शहद के छत्तों को तोड़ने, जंगली जानवरों को मारने तथा उनके चमड़े आदि को बेचने का कार्य करते हैं। ये अपने को हाबूड़ों से ऊँचा मानते हैं। इन दोनों की बोली में अन्तर है।

निश्चित पेशेवाली जातियों के वर्ग में भूभरिया, नट, सँपेरे, चरख वाले आदि मुख्य है। भूभरिया अपने को महाराणा प्रताप का वंशज मानते हैं। ये लोग सिर पर तीन चोटी रखते हैं। बोली पर राजस्थानी प्रभाव है। कुए से पानी नहीं खींचते (उनका कहना है कि उनको कुए पर चढ़ने की भी आन है), शराब पीते हैं और गोश्त खाते हैं। इनकी स्त्रियाँ कभी-कभी बड़े जोर से नाचती है। पर्दा इनमें बिलकुल नही है। अधिकांश मुर्दों को जलाते नहीं हैं। पुर्नविवाह की प्रथा तथा बलि की प्रथा इनमें प्रचलित है। नटों का पेशा कलाबाज़ी है। इनकी स्त्रियां गाने-बजाने में बहुत पटु होती हैं। इस जाति के नाम में एक पुरानी परम्परा परिलक्षित होती है, किंतु इन सभी घूमने-फिरने वाली जातियों का लोक-साहित्य तथा जीवन साधारण लोक-साहित्य को प्रभावित नही कर सका है। हाँ, साधारण लोक-जीवन इन जातियां के रहन-सहन और साहित्य को अवश्य प्रभावित कर सका। ब्रज के शोधकों ने अभी तक उक्त जातियों के साहित्य के संकलन का विशेष प्रयत्न नही किया। स्थायी रूप से बसी हुई जातियों के साहित्य और जीवन का ही अध्ययन किया गया है।

स्थायी रूप से बसी हुई जातियों में विशेष रूप से उल्लेखनीय जातियाँ इस प्रकार है—अग्रवाल, अहीर, अहेरिया, अमेठिया, बाछल, बाग्री, बरेशिरी, बिलूच, बेलदार, भाल (राजपूत), भांड़, भाट, भदौरिया, भंगी, भड़भूंजा, भटनागर, बड़गूजर, बघेल, बंजारा,

चोबे, चौहान, चमार, चदेल, धाहिमा, धाकरा, डोम, गहलोत, घोसो, गोला, गूजर, गौड़ ब्राह्मण, गौरतगा, गड़रिया, गहरवार, जादों, जाईस, जाट, जोशी, काछी, कनौजिया, लोधे, अहार, खटीक, धूमस, सुनार, दर्जी, तगा, शेख, पठान, भिश्ती, फकीर, मेवाती, मनिहार, मुगल, सनाढ्य, गौतम, मैथुल, बढ़ई आदि। इनके अतिरिक्त कुछ और भो जातियां है। जैसे—कुरमी, कछवाहे, तोमर, कोरी, बैरागो, गोसाईं, जोगी, धोबी, बाबाजी, नाई, कहार, माली, दूसर, अहिवासी आदि। इस प्रकार अनेक प्रकार की जातियाँ ब्रज में मिलती है। इन जातियों के साथ अनेक तत्व जुड़े हैं। इनमें से कुछ जातियों का विस्तार भी बहुत अधिक है। इन अत्यन्त विस्तृत जातियों का लोक-जीवन विशेष महत्व का है। ब्रज की प्रत्येक छोटो जाति अपना संबंध किसी उच्च जाति मे जोड़ती है। कुछ जातियाँ अपना सबध ब्राह्मणों मे बताती है और कुछ क्षत्रियों से। कोली अपने को तन्तवाइ-वैश्य घोषित करते है। तेली, राठौर ठाकुर बनते है। यदि इन सब जातियों के इन कथनों को ध्यान में रखा जाए तो सभी जातियाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की ही शाखाएँ ठहरती हैं। वस्तुत: ये सभी जातिया जातिगत मिश्रण का ही परिणाम है। पौराणिक साहित्य में इनकी मिश्रित उत्पत्ति ही बताई गई है। अहीरों को वायु पुराण में 'म्लेच्छ' कहा गया है। पतजलि ने उनका सबध शूद्रों से जोड़ा है। मनु ने अहीर को ब्राह्मण पिता तथा अम्बष्ठ स्त्री से उत्पन्न माना है। ब्रह्मपुराण में अहीर को क्षत्रिय पिता तथा वैश्य स्त्री से उत्पन्न माना गया है। अहेरियों की उत्पत्ति पद्मपुराण के अनुसार चमार पुरुष तथा चाँडाल स्त्री से हुई। भाँड़ों की उत्पत्ति मल्लाह पिता तथा 'गङ्गापुत्र' विधवा से मानी गई है। इस प्रकार प्राय: सभी छोटी-मोटी जातियों की उत्पत्ति मिश्रण के परिणाम स्वरूप हुई।

स्थायी रूप से बसी हुई इन जातियों को निम्नलिखित मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१–वे जातिया जो ब्रज में बाहर से आई हैं।

२–वे जातियां जो भारत के विभिन्न भागों में बसी हुई हैं पर अपना मूल स्थान ब्रज को बताती हैं।

३–वे जातियां जो किसी विशेष देवता से संबन्धित हैं तथा उस देवता की पूजा का अधिकार रखती हैं।

४–वे जातिया जो शुद्ध हिन्दू नही है; जिनकी उत्पत्ति मुसलमानों से सम्बन्ध रखती है।

ब्रज में बाहर से आने वाली अनेक जातियां हैं। पर इनमें सबसे प्रमुख जाति 'जाट' है। यह जाति जाट, जिट, जाट, आदि कई नामों से जानी जाती है। मध्य बलोचिस्तान में इस नाम की एक जाति है। पंजाब में 'जिट' शब्द प्रचलित है और अधिकांश सिक्खों मे इसी जाति का रक्त प्रवाहित है। सिन्ध तो 'जटों' का मुख्य स्थान है। यही से छन कर यह जाति राजपूताना में आई तथा वहां से ब्रज की ओर फैली। समस्त राजस्थान में जाट तथा राजपूत अधिक संख्या में बसे हैं। ब्रज में मैनपुरी तक जाट बसे हुए है। जाटों में से कुछ तो अपनी उत्पत्ति राजपूतों से जोड़ते हैं और कुछ जैर गंथवार अपनी मूलभूमि गजनी या गढ़ गजनी को मानते हैं[1]। कुछ विद्वान् इस जाति का संबन्ध 'यू-शी' जाति से मानते हैं। लैसन इस सिद्धांत का निराकरण करता है और 'जाट' की उत्पत्ति 'जेटे' (Getae) तथा 'गॉथ' (Goth) से मानता है[2]।

---

१. ईलियट, रेसेज आफ दि नार्थ वेस्ट प्राविंसेज आफ इंडिया, जिल्द १, पृष्ठ १३३।

२. लैसन, रिसर्चेज इंटू दि फिजिकल हिस्ट्री आफ मैनकांइड, जिल्द ४ पृष्ठ १३२।

इस वाद-विवाद में अधिक न पड़कर इतना कहा जा सकता है कि जाटों के साथ एक बहुत बड़ी परम्परा जुड़ी हुई है। यह जाति कठोर तथा मोटे रहन-सहन की है। इस जाति के संबन्ध में एक कहावत है—'लाख जाट पिंगल पढै एक भुच्च लागो रहै।' इसका तात्पर्य ही यह है कि प्राचीन परम्परा को यह जाति अभी पूर्णरूपेण छोड़ नही पाई है और न सरलता से छोड़ने को तैयार ही है। इस जाति के साहित्य और जीवन के अनेक तत्व ब्रज के लोक-जीवन में घुले-मिले है। अत. भाषा, साहित्य तथा जीवन की दृष्टि से ब्रज की इस जाति का अध्ययन बहुत आवश्यक है।

ब्रज की दूसरी महत्वपूर्ण जाति अहीर है। रामायण और महाभारत मे इस जाति का उल्लेख है। पहले यह भारत के पश्चिम भाग मे बसी थी। पुराणों के आधार पर ताप्ती नदी से देवगढ तक के पश्चिमी किनारे को 'आभीर' नाम दिया गया है, जिसका अर्थ है 'ग्वालों का देश'। आठवीं शती में 'कट्टी' जाति ने गुजरात को अपना घर बनाया। इस जाति ने गुजरात के अधिकांश प्रदेश को अहीरों के अधिकार में पाया[१]। किसी समय अहीर नेपाल के भी राजा थे। नवीं शती से ग्यारहवी शती तक के बङ्गाल के पाल राजा भी अहीरों से संबधित माने जाते है। इस सब से ऐसा अनुमान किया गया है कि अहीर किसी समय समस्त भारत के राजा थे[२]। ब्रज के लिए इस जाति की महत्ता इसमें है कि भारत के प्रत्येक भाग में बसे हुए अहीर अपना मूल स्थान मथुरा को बताते है। अतः मथुरा तथा ब्रज की संस्कृति को भारत में प्रसारित करने का बहुत-कुछ श्रेय इस जाति को दिया जा सकता है। किन्तु यह जाति भारत में बाहर से ही आई, यह अनेक विद्वान् मानते है।

---

१. ईलियट, वही, पृ० २।

२. एशियाटिक रिसर्चेज, जिल्द ६, पृ० ४३८।

इसके आगमन का समय अत्यन्त प्राचीन है। डा० रामकृष्ण भंडारकर के मत से इसका आगमन ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ[1]। श्री रामप्रसाद चंदा के मत से ईसा के जन्म से बहुत दिन पहले यह जाति भारत आई[2]। इस मत का आधार महाभाष्य में 'घोष' शब्द का प्रयोग है[3]। उनके अनुसार 'घोष' का अर्थ है 'अहीरों की बस्ती'। इतना निश्चित है कि अहीर भारत की एक अत्यन्त प्राचीन जाति है। अनेक लोगों का मत है कि कृष्ण के साथ जुड़ी हुई अनेक लीलाओं का स्रोत यही जाति है।

ब्रज में कुछ विशेष देवताओं से संबंधित जातियाँ भी है। इस प्रकार की सबसे प्रमुख जाति 'जोगी' या 'नाथ' है। यह जाति निश्चित रूप से नाथ सम्प्रदाय से संबंधित है। गुरु गोरखनाथ को इस जाति के लोग आदि गुरु मानते हैं। शिवजी इस जाति के प्रमुख देवता हैं। डमरू, सिंगी तथा सारंगी पर इस जाति के लोग अपने साम्प्रदायिक गीतों का गायन करते है। जाहरपीर या गुरु गुग्गा की 'जाति' ये ही लोग जगाते है। गुरु गोरखनाथ के प्रभाव को स्पष्ट करने वाले दो खंडकाव्य इस जाति के मुखियों को कंठस्थ हैं— १. गोपीचन्द-लीला तथा २. भरथरी-लीला। इस जाति पर शाक्त मत का भी प्रभाव है। किन्तु देवी की पूजा का पूर्ण अधिकार 'कोली' जाति को है। यह जाति ही जनता से देवी को पूजा कराती है, देवी पर मदिराकीधारा चढ़ाती है और कहीं-कही बलि भी कराती है इस प्रकार कोली जाति का संबंध शाक्त मत से स्पष्ट दीखता है। 'भरारों' का संबंध 'बहरों' से है। इस प्रकार की जातियों का ब्रज के लोक-जीवन से बहुत घनिष्ट संबंध है। लोकजीवन के धार्मिक, आनुष्ठानिक तथा कर्मकाण्ड वाले पहलू को प्रभावित करने वाली ये जातियाँ हैं।

१. भंडारकर, वैष्णविज्म......पृष्ठ ३७।

२. रामप्रसाद चन्दा, दि इन्डोआर्यन रेसेज़, पृ० ८४-८५।

३. महाभाष्य २, ४, १०।

इन्हीं जातियों के द्वारा जनता का जंत्र-मंत्र में विश्वास दृढ़ किया जाता है।

ब्रज के लोक-जीवन में धर्म

ब्रज के लोक-जीवन में धर्म के कई स्तर हैं। निम्नतम स्तर के धर्म की रूप-रेखा में आदि तत्त्वों का समावेश है। मानव के आदि रूप, विश्वास तथा मूढ़ग्राहों के कुछ धूमिल चिह्न इस स्तर पर दृष्टिगत होते है। धर्म के इस स्तर के दर्शन अपढ़ ग्रामीण स्त्री-समाज में होते हैं। जहाँ उच्च स्तर में राम-कृष्ण आदि पूज्य है वहा निम्न स्तर में देवी, भैरों, जखैया, कुआवाला, प्रेत, पीपल, छोंकरा आदि देवता पूज्य है। 'घूरे' की पूजा का भी विधान है। धर्म के उच्च स्तर का जहां तक प्रश्न है, वहां शास्त्रीय आदर्श मान्य है तथा उच्च आदर्शों वाले देवता पूज्य है। निम्न स्तर के कर्मकांड में बलि का भी विधान है। पूजा सामग्री साधारण, पर निश्चित है। इस पूजा का विधान रूढ तथा प्राचीन है। इस विधान को चलाने वाले व्यक्ति लोक के अविकसित हृदय पर पूर्ण नियंत्रण रखते है, उनके बताए विधान को बिना प्रश्न किए मान लिया जाता है तथा उसी के अनुसार समस्त विधान होता है। धार्मिक विश्वासों में लोक तर्क को स्वीकार नही करता। धार्मिक अनुष्ठानों का लक्ष्य भौतिक समृद्धि तथा कष्ट-निवारण है। अधिकांश धार्मिक अनुष्ठान बालकों की रक्षा, पशुओं की रक्षा, रोग-निवारण तथा भौतिक समृद्धि के लिए सम्पन्न किए जाते है। तत्र, जत्र तथा मंत्रों में भी जनता का विश्वास है। 'जंत्र' तावीजो में मढ़कर बच्चों के गले में बांधे जाते हैं। 'तन्त्र' से युक्त गंडे भी बालकों के बांधे जाते हैं। 'मंत्र' सांप, बिच्छू आदि के झाड़ने के लिए प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार ब्रज के लोक-धर्म का विस्तार बहुत व्यापक है। उसके मुख्य-मुख्य अङ्गों का परिचय नीचे संक्षेप में दिया जारहा है।

मंत्रोपचार

ब्रज में अनेक साधुओं की जमातें, अघोरियों और जोगियों की मडलियां एवं विविध पंथों की प्रतिनिधि-टोलियाँ घूमा करती है। हाथ में त्रिशूल लिए, जटाजूट बढ़ाए, गांजे-भांग के नशे में चूर लाल आँखों वाले, लाल वस्त्र धारण किए लोग ब्रज के ग्राम-निवासियों के संपर्क में आते रहते है। उनके इस अद्भुत रूप-विन्यास से स्त्रियां विशेष प्रभावित हो जाती है। वे अपने बच्चों को उनके पैरों में डाल देती है, वे सधुक्कड़ी भाषा में आशीर्वाद देते है, जत्र देते है, भभूत लगाते है और आनुष्ठानिक आचार का आदेश करते है। स्त्री-समाज उनकी पूजा करता है, अन्ध-विश्वास और अज्ञान के प्रभाव से उन्हें सर्वज्ञ मान लेता है। यही हाल शैव, उदासी आदि साधुओ के अन्य पन्थो का है।

यह प्रचारक-मडली अपनी करामातों और चमत्कारों से पुरुष-समाज को भी मुग्ध कर लेती है। वे उनको गुरुदक्षिणा देकर गुरु बनाते है, मत्र-अभिचार की क्रियाएं उनसे सीखते है। यही लोग गावो मे 'स्याने' या 'ओझा' कहलाते है। इस प्रकार का जाल सारे भारत मे फैला हुआ है, ब्रज में अधिक है। समार का कौन सा देश बचा है इस जाल से ?

इस क्षेत्र के देवता भी चमत्कारपूर्ण हैं। नाथ पथ के योग ने पीछे चमत्कार और जादू का रूप ले लिया था। अधिकांश मंत्रों में गुरु गोरखनाथ की दुहाई है। नाथ-पंथ में ही ब्रज में पाए जाने वाले मंत्रों का मूल दीखता है। लगभग प्रत्येक मंत्र के पीछे ये शब्द आते है—

'सत गुरु', 'नाम आदेस', 'सबद सांचा', 'पिड काचा', 'फरो मंत्र ईसुरो वाचा'।

यह 'सबद' निश्चय ही योगियों का 'सबद अनाहत' है।'सत', 'पिड', आदेस आदि शब्द भी योगियों के चिरपरिचित शब्द हैं देखिए-

गोरखनाथ–"स्वामी कौण सि मिथ्या कौण सि सांच।
कौण सि परा कौण सि कांच ॥"
दत्तात्रेय–"अवधू माया मिथ्या ब्रह्म सु साचा।
सबद सो परा प्यंड सो काचा ॥"[1]

यहां पर भी शब्द और भाव उक्त मत्र के शब्द और भाव से मिलते है। गोरखनाथ का दुहाई का उदाहरण भी देखिए—

"काली काली महाकाली।
....

मेरी चलाई चलि, मेरे गुरु उस्ताद की चलाई चलि। मेरी चलाई न चलैगी तौ गुरु गोरखनाथ के रौरे में असनान करैगी ॥"

गोरखनाथ की मत्रों पर छाप है। गुरु के प्रति जैसी श्रद्धा और भावना नाथ-पथियों की होती थी वैसी ही आज भी मत्र सिखाने वाले गुरु के प्रति होतो है। मन्त्रों की भाषा भी गोरखनाथ-जैसी कूट और असयत है।

गोरखनाथ के बाद रामदल के देवता आते हैं। इन देवताओं मे सबमे अधिक हाथ 'हनुमानजी' का है। गोरखनाथ से किसी भाति इनका नीचा स्थान नही है। इनसे भी सबधित कुछ पक्तिया देख लीजिए। बीछू भाडने के मन्त्र के अतिम शब्द—

"लका सौ कोट समुद्र सी खाई
उतरि उतरि रे बीछू
तोकू हनमंत वीर की दुहाई।"

रामदल के दूसरे देवता जो मंत्रों में आए हैं 'लछिमनजो' हैं। इनके साथ 'बाबा' और 'जती' भी जुड़े हुए हैं—

---

१. गोरख बानी, सं० डा. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० २३०।

"ई' बाबा लछिमन जती
जाते की पीठि न देखी
सती सीता कौ पहरौ, राजा रामचंद कौ भाई।"
. ...

"बधन करि बंधन करि बाबा लछिमन जती
ग्रावते का मुष न देपि
हाजिर न करै तौ राजा रामचद की अज्ञा भग करै।"

राम का उल्लेख भी है, किंतु लक्ष्मण से कम है। और कृष्ण का उल्लेख तो न के बराबर है। देवताओं में काली, भैरों, नरसिह आदि है। इन्ही की दुहाई से रोग आदि का निवारण करने की प्रवृत्ति मत्रकार मे मिलती है।

हिंदू देवताओं के अतिरिक्त कुछ मुसलमान देवताओं की दुहाई भी मिलती है। किसी मुहम्मद पीर का उल्लेख बीछू झाड़ने के मत्र मे है—

१-"उतरि उतरि रे बिस
तोड़ मुहमदा पीर की आन।"
२-"जौ अलना मीआं बकसीस करैं
तौ पाचो भसमत।"

ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत्र-जत्र के युग में फकीरों को जमाते भी अपना चमत्कार दिखाने लगी थी और उन्होने इस प्रकार के मंत्र गढे। पर साथ ही उसी मत्र में हिंदू देवताओ के नाम भी आते हैं। हो सकता है कि नाथ-पथियों ने ही उन्हें गढ़ा हो, पर मुहम्मद का आदर्श वह रखा हो जो गोरखनाथ जी ने बताया था—

"महमद महंमद न करि काजी महंमद का विषम विचार।
महमद हाथि करद जे होती लोहै गढ़ी न सारं॥
सबदै मारी सबद जिलाई ऐसा महंमद पीरं।
वाकै भरमि न भूलौ काजी सो बल नहीं सरीरं॥"[1]

---

१. गोरख बानी, पृ० ४।

इसमें मुहम्मद को लोहे को करद (छुरी) चलाने वाला नहीं, शब्द की छुरी चलाने वाला कहा है। नाम भी 'महमद पीर' ही है, जैसा कि मत्र में है।

मत्र विशेषत: चार प्रकार के है—१. रोग-निवारणार्थ (भाग देना, भभूत लगाना, पढकर पानी पिलाना, गडा बांधना आदि), २. साँप-बीछू के विष को चढाने और उतारने के लिए, ३. देवता को किसी के सिर लाने अथवा किसी पर घात चलाने के लिए और ४. अपना चमत्कार दिखाने को (उसरा बांधने का मत्र, बन बाधने का मत्र, ततैया लगाने का मंत्र आदि)।

मत्रों के गढने में छदों पर विशेष दृष्टि नहीं रखी गई। कहा-कही टूटा-फटा दोहे का रूप तो बन गया है और तुक भी मिल जाती है। एक दृष्टि अवश्य है कि मत्र पढ़ने वाला इसे एक श्वास में कह जाता है, इसमें एक तीव्र गति अवश्य रखी गई है।

व्रज में सँपेरे खानाबदोशों की भाति घूमा करते हैं। वे बिलकुल अपढ और असभ्य होते हैं। उनका पूज्य देवता गुरु गोरख-नाथ है। उनके पहनावे में कुछ चिह्न सिक्खों के भी हैं, जैसे कंघी, कडा और बाल न बनवाना। गांवों में जब वे जाते हैं तो किसी ग्रामीण मत्र जानने वाले से उनकी मुठभेड़ लोग बहुधा बताया करते हैं। एक चोट सँपेरा अपने बैन में मंत्र पढकर करता है, वह बचाने की कोशिश करता है। फिर ग्रामीण मत्र वाला करता है। वह सरसों आदि पढ़कर मारता है। कभी उसका बैन बांध देता है, कभी ततैया लगाता है। घंटों चोटे होती है।

अनुष्ठान आदि

ब्रज के लोक-जीवन का आनुष्ठानिक अङ्ग दो तत्वों से बना है, 'व्रत' और 'जागरण'। उच्चस्तर के शास्त्रोक्त व्रतों की चर्चा करना यहाँ अनुपयुक्त ही होगा स्त्री-समाज के कुछ व्रत अपना संबंध

शास्त्रों से रखते हैं। पर अधिकांश व्रतों का कोई संबंध नहीं। जिन व्रतों का संबंध शास्त्रों मे नहीं है उनमें दो मुख्य हैं—करवा चौथ तथा अहोई अष्टमी। इन दोनों अवसरों पर चन्द्रमा के दर्शन करके भोजन किया जाता है। दोनों व्रतों के संबंध में एक-एक कहानी कही जाती है। इन कहानियों के आशय को चित्रबद्ध भी किया जाता है। उस चित्रबद्ध कथा-प्रतीक के सम्मुख बैठकर उन सम्बद्ध कहानियों को सुना जाता है। अनेक अनुष्ठानों पर भोज की सामग्री भी निश्चित रहती है। अखतीज या अमावस्या के दिन सत्तू खाया जाता है। गोवर्द्धन के दिन अन्नकूट होता है। 'संकट' के दिन पूओं का विधान है। देवी की पूजा 'गुलगुलों' के बिना नही होती। हनुमानजी का 'रोट' बिना 'चूरमा' के सम्पन्न नही होता। 'बूढ़ा-बाबू' कढ़ी-बाजरे से प्रसन्न होता है। इस प्रकार पूजा के विधान में भोजनीय सामग्री भी किसी-किसी अवसर पर निश्चित होती है।

'परिक्रमा' का ब्रज में बहुत प्रचार मिलता है। अपने-अपने गांवों की परिक्रमा स्त्री-पुरुष विशेष अवसरों पर करते हैं। 'अक्षय-नवमी' को मथुरा की परिक्रमा की जाती है। 'मुड़िया पूर्णिमा' पर 'गिर्राजजी' की परिक्रमा लगती है। 'अधिक' महीने में गिर्राज जी की परिक्रमा विशेष रूप से की जाती है। मथुरा, वृन्दावन, गरुड़ गोविंद इन तीनों वनों की परिक्रमा देवठान पर होती है।

'जागरण' मुख्यतया सैयद तथा जाहरपीर के होते हैं। इनमें रात भर जगकर उक्त देवताओं के गुणों का गायन किया जाता है। 'जागरण' किसी विशेष मनोकामना-पूर्ति अथवा किसी अकल्याण के निवारणार्थ किए जाते हैं। ये विशेषतः निम्न वर्ग में प्रचलित हैं।

बलि की प्रथा भी ब्रज के निम्न वर्गों में कहीं-कहीं मिलती है। महावन में 'जखैया' देवता को सूअर की बलि दी जाती है।

देवी पर बकरे की बलि चढ़ाई जाती है। विविध स्थलों पर स्नान करना भी पुण्यकार्य समझा जाता है। 'भाडीरबन' के कुए पर स्नान करने से संतानोत्पत्ति होती है, ऐसा विश्वास है। राधाकुंड में वर-वधू ग्रंथि-बन्धन करके ग्रहोई-ग्रष्टमी पर स्नान करते है। इसका फल संतान-प्राप्ति बताया जाता है। तरौली मे 'स्वामी' के ताल पर नहाने से 'फूले' नामक रोग का निवारण हो जाता है, ऐसा विश्वास प्रचलित है। इस प्रकार प्रत्येक ग्रनुष्ठान का केन्द्र या तो मनोकामना की पूर्ति है ग्रथवा ग्रकल्याण-निवारण।

ब्रज के ग्राम-देवता

'मंत्रोपचार' के प्रसंग में कुछ देवताग्रों का उल्लेख होगया है। ब्रज के ग्रन्य ग्रनेक देवता है। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ देना प्रासंगिक रहेगा। ब्रज के देवताग्रों के दो स्तर है—उच्च तथा निम्न। उच्च स्तर के देवताग्रों मे राधाकृष्ण तथा सीताराम मुख्य है। निम्न स्तर पर युग-युग के जीर्ण विश्वासों की छाया ही देवता बन गई है। ग्राश्चर्य की बात है कि कृष्ण के सर्वतोमुखी व्यक्तित्व को छोडकर जनता ग्रन्य देवों में भी विश्वास करे—ग्रौर ब्रज मे ! ब्रज मे देवता दो प्रकार के है—एक तो स्थायी रूप से पूज्य होते है; दूसरे देव कुछ समय के लिए किसी व्यक्ति में प्रविष्ट होजाते हैं ग्रौर इस मनुष्य के व्यक्तित्व को पीछे फेंककर ग्रपनी इच्छाग्रों की पूर्ति कराते है। देवो के ये दो प्रकार ब्रज में ही नही, संसार में प्रायः सर्वत्र मिलते है।

ग्रस्थायी देवता भविष्यवाणी द्वारा ग्रथवा किसी गुह्य भाव के प्रकाशन द्वारा ग्रपने को प्रकट करता है। ब्रज में विशेषतः कोई विगत ग्रात्मा ग्रपने प्रिय के शरीर में प्रविष्ट हो जाती है, उसकी जो इच्छाएँ ग्रपूर्ण रह गई होती है उनके पूर्ण कराने के लिए वह उससे कहलवाती है। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है

कि कोई गड़ी-दबी संपत्ति रह जाती है, जिसे वह मरते समय नहीं बता सका था। अब वह अपने प्रिय के सिर आकर उसे बता देता है, अथवा कोई भविष्यवाणी करता है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो यह सारा खेल अपूर्ण कुंठित इच्छाओं का है। अस्थायी रूप से किसी के शरीर में प्रविष्ट होने वाले देवताओं का उल्लेख जन्ति के एक गीत 'सतगठा' में हुआ है—

"औत[1] पितर से दीमान खड़े न्यों काए की सख्या।
कार्स बारे[2] महावन बारे[3] से दीमान खड़े न्याँ काए की सख्या।
बारे-जरूले[4] सबई खड़े न्याँ काए की संख्या[5]।"

ये देवता किसी के सिर आकर समय-समय पर अपनी भेंट माँगा करते हैं। कभी वैदिक-काल में देवता लोग हव्य पाने के लिए परस्पर प्रतिद्वंद्वी हो उठते थे। आज ये लौकिक देवता अपनी भेंट के लिए लड़ते-झगड़ते हैं। इसके अतिरिक्त तंत्र-वादियों, शाक्तों और शैवों की कल्पित शक्तियां भी सिर आ जाती हैं। हिंदू शक्तियों के अतिरिक्त कभी-कभी मुसलमानों की शक्तियां भी सिर आ जाती हैं।

---

१. जो बालक पांच-छह वर्ष की अवस्था में ही मर जाते हैं वे 'औत' अथवा 'अऊत' बन जाते हैं, ऐसा विश्वास है। ये देवों में गिने जाते हैं।

२. 'कार्स' मथुरा जिले का एक गांव है। कहा जाता है वहां एक स्त्री का सात महीने का गर्भ गिर गया था। वही देवता बन गया। आज भी वहाँ जात लगती है। बच्चों की रक्षा के लिए घर-घर उसकी पूजा होती है।

३. महावन वाला देवता 'जखैया' है। उसकी भी जात लगती है। उस पर सूअर के बच्चे की बलि चढ़ाई जाती है।

४. 'जरूले' वे हैं जो बिना मुंडन हुए ही मर जाते हैं। ये भी देवताओं की भांति पूजे जाते हैं।

५. 'शङ्का' इसका शुद्ध रूप है।

'पितर' अपने घरवालों के ही सिर आया करते हैं। जिनकी मृत्यु यौवन में होती है, वे ही बहुधा पितर बन जाते हैं और जवान स्त्री-पुरुषों के सिर आते है।

अब स्थायी रूप से पुजने वाले देवता आते हैं। ब्रज के उच्च वर्ग में ही नहीं, निम्न वर्गों में भी कुछ वैदिक देवता आज भी पूजे जाते हैं। उनका नाम तो लगभग वही है, पर उनका रूप बिलकुल लोक के साँचे में ढल चुका है। वैदिक देवताओं में वरुण, सूर्य और ब्रह्मा ब्रज के गांवों में विशेष रूप से पूज्य है। ब्रह्मा आज 'बूढ़ा बाबू' बन गए है। इनका प्रतीक कुम्हार को माना गया है। ब्रज में बूढ़े बाबू की पूजा के सामान का अधिकारी कुम्हार ही होता है। उसकी पूजा के विधान में कुम्हार के चाक की भी पूजा सम्मिलित है।

ऋग्वेद में वरुण की मान्यता विशेष है। गांवों की स्त्रियाँ कार्तिक में नित्यप्रति ब्रह्म-मुहूर्त में स्नान करती हैं। इस कार्यक्रम में नित्यप्रति एक कहानी कही जाती है। इन कहानियों में दो कहानियां होती हैं—एक बरन विन्दाक की कहानी तथा दूसरी चटक विन्दाक की कहानी। 'बरन' निश्चित रूप से वैदिक वरुण है और 'चटक' 'मित्र' है[१]। ब्रह्माजी का एक मन्दिर छाता के पास नरौली गांव में है। उन्हें वहां 'स्वामी' कहा जाता है। उनकी करामात से अनेक रोग ठीक हो जाते हैं, ऐसा विश्वास है। यदि 'स्वामी' किसी पर क्रुद्ध हो जाते हैं तो उसके चेहरे पर सफेद दाग (फले) कर देते है। ब्रह्माजी के कुण्ड में नहाने पर ये दाग अच्छे हो जाते हैं।

देवी तथा जाहरपीर इसी प्रकार के स्थायी रूप से पूजे जाने वाले देवता हैं। दोनों का 'जागिन्न' (जागरण) होता है।

---

१. विशेष व्याख्या के लिए द्रष्टव्य—चंद्रभान रावत 'ब्रज के ग्रामदेवता और उनका साहित्य', 'ब्रजभारती', वर्ष ५, अंक ३, पृ० १२–१३।

जागरण में रात भर दोनों के सम्बन्ध में गीत गाए जाते हैं। 'जाहर-पीर' एक लोक-महाकाव्य बन गया है। इस महाकाव्य में विशेष रूप से गोरखनाथ जी के महत्व और चमत्कार का उल्लेख है। जाहरपीर के सम्बन्ध मे 'मारवाड़ के ग्रामगीत' (श्री जगदीशसिंह गहलौत द्वारा संपादित) नामक पुस्तक में यह पाद-टिप्पणी दी हुई है—

"ये जिला हरियाना के गाँव मेहरी के राजपूत चौहान थे। सं० १३५३ में दिल्ली के बादशाह फीरोजशाह द्वितीय के सेनापति अबूबक्र से युद्ध कर ये वीर गति को प्राप्त हुए। हिन्दू इन्हें देवता-तुल्य मानकर भादों बदी ६ को इनकी जयन्ती मनाते हैं। मुसलमान इन्हें जाहरपीर उपनाम से पूजते है।"

मुसलमानों के भी कई देवता हिन्दुओं द्वारा पूजे जाते हैं, जैसे सैयद मीआं। सैयद का भी जागरण होता है। उस रात को 'मीरा साहब' की लड़ाई गाई जाती है। इनके अतिरिक्त अनेक पीर-पैगम्बरों को हिन्दू पूजते है। कई मन्त्रों में मुहम्मद साहब की दुहाई दी गई है। कुछ अन्य देवता है, जसे कनुआ (कोलियों का देवता), नगरसेन (जाति का धोबी), कार्स वाला देवता, जखैया आदि। यह मुख्य-मुख्य देवताओं का संक्षिप्त परिचय है। लोकजीवन में और भी देवता है, जिन सबका परिचय दे सकना यहाँ सम्भव नही। इस प्रकार लोक-मस्तिष्क हिन्दू-मुसलमान आदि भेदों के चक्कर में नही पड़ता; विश्वास के आधार पर दोनों धर्मों के देवताओं को ही पूजता है।

ब्रज में अन्धविश्वास

ब्रज के मुख्य अन्धविश्वासों का सङ्कलन 'बुढ़िया पुराण' में मिलता है। यह पुराण कोई लिखित पुराण नहीं है, यह मौखिक

परम्परा में ही जीवित है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इस पुराण को जीवित रखने का श्रेय बुढ़ियों को ही है। इन अन्धविश्वासों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—नकारात्मक तथा स्वीकारात्मक, 'करना चाहिए', और 'नहीं करना चाहिए'।

इन अन्धविश्वासों की वैज्ञानिक व्याख्या 'टैबू' और 'टोटेमिज्म' के सिद्धांतों से सम्भव है। पर यहाँ उस व्याख्या का अवसर नहीं है। अनेक अन्धविश्वासों का प्रदर्शन लड़के के जन्म के समय होता है। उस समय मुख्यतः गर्भवती स्त्रियों की परछाँए' से रक्षा की जाती है। 'परछाँया' तथा 'पल्ला' दो मुख्य अन्धविश्वास हैं। जिस घर में जच्चा रहती है उसके द्वार पर परदा लगाया जाता है। उसमें 'देई-देवताओं' के फँस जाने की भावना निहित है। बीमारी को गाँव से बाहर रखने के लिए एक हांडी को सफेद रँग कर लाल और काली टिकुलियों से चीतकर गांव से बाहर टाँग दिया जाता है। जब नया भवन-निर्माण होता है और चौखट जमाई जाती है तब एक काले कपड़े की पट्टी में भुसो, नमक की एक काँकरी तथा सिर के बाल बाँधकर लटका दिए जाते है। इसमें 'नजर' के फट जाने और उसके बिखर जाने की बात मानी जाती है। जच्चा जब अपने नवजात पुत्र को लेकर सोती है तब पाटी में एक हँसिया अड़ा कर रक्खा जाता है। विवाह के समय 'अलाइ-बलाइ' को बाँध कर रक्खा जाता है। इस प्रकार अधिकांश मूढ़-ग्राह तो अकल्याण के निवारणार्थ ही चलते रहते हैं। अकल्याण, प्रायः छोटे बच्चों के, इनके द्वारा निवारण किए जाते हैं। झाड़ने से रोग चला जाता है, इस प्रकार का विश्वास है। फटे कपड़ों को किसी कटीले वृक्ष पर टांग कर एक मां अपने बच्चे की सुरक्षा को निश्चित समझती है। पशुओंकी बीमारी को गाँव से भगाने के लिए 'खप्पर' निकाला जाता है और उस खप्पर को किसी दूसरे गाँव की सीमा में गाड़ दिया जाता है। इस प्रकार के असंख्य अंधविश्वास लोक-

जीवन से चिपके हुए हैं। स्त्री-वर्ग की अशिक्षा और असंस्कार ही इनके लिए उत्तरदायी हैं।

ब्रज के पारस्परिक सम्बन्ध

ब्रज में स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक सम्बंधो को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—एक तो ऐसे सम्बंध जिनमें पारस्परिक हास-परिहास (मजाक), जो यौन जीवन को भी स्पर्श करते हैं, वैध हैं; दूसरे ऐसे सम्बन्ध जिनमें इस प्रकार का हास-परिहास लोक-रीति में अवैध माना जाता है। दूसरे प्रकार के सम्बन्ध प्रायः सभी स्थलों पर समान है। उन सम्बन्धों का जीवन आदर्शों और लोक-मर्यादाओं से बल ग्रहण करता है। किन्तु हास-परिहास वाले सम्बन्ध ब्रज की एक विशेषता और विचित्रता की ओर सकेत करते है।

हास-परिहास वाले सम्बंधों में मुख्य देवर-भावी का सम्बंध, भाई-भावज का सम्बंध, जीजा-साली का सम्बन्ध, सरहज-नन्देऊ का सम्बन्ध आदि हैं। स्त्री-पुरुषों के इस प्रकार के सम्बंधों के अतिरिक्त कुछ पुरुष-सम्बध भी हास-परिहास युक्त होते है, जैसे साले-जीजा का सम्बध। इनमे आपस में गाली-गुप्ता भी होती रहती है। ब्रज के लोक-जीवन मे कुछ कटु सम्बध भी है। इस प्रकार के सम्बंधों में सास-बहू का तथा ननँद-भाभी का सम्बध है। इनमें से कुछ की संक्षिप्त चर्चा यहां कर देना अनुपयुक्त न होगा।

ब्रज के कौटुम्बिक जीवन में देवर-भाभी का सम्बंध जितना सरस है उतना सरस शायद कोई नहीं। ब्रज के सामान्य कुटुम्ब में जब नव वधू का आगमन होता है तो वह खेल का एक उपकरण-सा होती है। गौने (द्विरागमन) के पश्चात् उसे मिलता है सामंती विचारों वाली सास का निर्दय शासन। उस शासन के

गुप्तचर विभाग की अध्यक्षा 'ननँद' होती है। शास्त्रों के अनुसार पति पूजा के योग्य एक देवता है और यदि व्यवहार की दृष्टि से देखा जाए तो अपनी माँ के शासन की कार्यपालिका शक्ति भी पति है। वधू के दण्ड का विधान सास देती है और दण्ड पति। इस प्रकार के कुंठा-युक्त, सहानुभूति-शून्य वातावरण में उसे एक सहारा दीखता है देवर। लोकाचार मे देवर-भाभी के सम्बध की अनेक प्रथाएँ हैं। देवर के विवाह में भाभी ही उस पर तेल चढाती है, देवर के काजल लगाती है। मेंहदी रचाने का नेग भी भाभी ही करती है। होली के रङ्गीन समारोह का नेता है देवर और नायिका है भाभी। होली के उत्सव में पति को कोई स्थान प्राप्त नही है। यह ब्रज के लोक-जीवन का सबसे मधुर सम्बन्ध है।

ब्रज में 'साढू' का सम्बन्ध भी मनोरंजक है। साढू साली पति को कहते हैं। इस सम्बन्ध की मान्यता आजकल बहुत बढ़ गई ब्रज में एक कहावत भी है कि 'गड़ुआ खेत और सढ़ुआ नातौ' पर काम देता है। इस सम्बन्ध की सजीवता का मुख्य केन्द्र। उसकी बहन का पति सम्मानित हो, यह स्वाभाविक है। ली-जीजा के सम्बन्ध की मधुरता इस सम्बन्ध को सराबोर ा है।

आजकल ब्रज से भी सम्मिलित कुटुम्ब की भावना का लोप हो रहा है। इसका मुख्य कारण समाज में आर्थिक जीवन की क्रांति तो है ही, साथ ही एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है। ब्रज में एक विश्वास यह प्रचलित है कि कुटुम्ब को विभाजित करने का सारा दोष स्त्रियों पर है। स्त्रियों के विद्रोह का मुख्य कारण उनके व्यक्तित्व की उपेक्षा है। सामन्ती प्रणाली पर व्यवस्थित कुटुम्ब में जब स्त्री का व्यक्तित्व कुण्ठित होता है तब वह अपने स्वतन्त्र विकास के लिए क्षेत्र खोजने लगता है और 'अलगोझा' के बीज

सीता रहता है। उसके बदले में उसे भी अनाज दिया जाता है। गाँव का पंडित भी किसान से अनाज झपट लेता है। कोली किसान को कपड़ा बुन कर देता है। 'कढ़ेरा' उसकी रुई धुनता है। महाजन किसान से व्याज वसूल करता है। इस प्रकार गावों की प्रत्येक जाति का धन्धा किसान के चारों ओर चलता है। गावों के यही मुख्य व्यवसाय हैं।

ब्रज में कई घूमने-फिरने वाली जातियाँ भी हैं। इनमें से 'सिकलीगर' ताली-ताले बनाने का कार्य करता है। 'भूमरिया' किसान को गृहस्थी के लिए आवश्यक लोहे के बर्तन, कड़ाही, तवा, कर्छुनी, चिमटा आदि देता है। यह जाति अब पशुओं के क्रय-विक्रय का भी कार्य करने लगी है। 'नट' किसान का मनोरंजन करने वाली जाति है। उसे भी किसान पैसा देता है। 'हाबूड़ा' जाति घास खोद कर उसे बेचने का ही व्यवसाय करती है। कंजरा तथा बहेलिया जङ्गलों से शहद लाकर बेचते है, साँड़े, लोमड़ी आदि जङ्गली जानवरों का आखेट करते हैं। बंजारे तथा मुसलमान 'व्यौपारी' किसानों को बैल आदि बेचते है। इस प्रकार इन घूमने–फिरने वाली जातियो के व्यवसायों का सम्बन्ध भी कृषक के जीवन से घनिष्ट है।

गृह-उद्योग

सबसे मुख्य कुटीर उद्योग कोली जाति का है। यह जाति तीन प्रकार का सूत काम में लाती है—नई रुई का हाथ से कता हुआ सूत, 'नामे' (पुरानी सौर, रजाई, गद्दे आदि से निकाली हुई रुई) का हाथ का कता हुआ सूत तथा मिल का सूत। इन सभी सूतों से कोली अपने हाथ के करघे पर कपड़ा बुनता है। उसके द्वारा बुनी हुई धोतियों का भी उपयोग होता है। चमार 'देसी' चमड़े से देसी जूते, जूतियाँ तथा चरस आदि बनाता है। कुम्हार अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तन बनाता है। मिट्टी के बर्तनों का कार्य मथुरा, दाऊजी, और गोवर्द्धन में विशेष है। यहाँ के मिट्टी के बर्तन

अधिक प्रसिद्ध भी हैं। भङ्गी जाति अरहर तथा बन की लकड़ियों से टोकरा बनाने का कार्य करती है। यह गृह-उद्योग भी ब्रज में मुख्य है। सलङ्गी तथा कजरों का मुख्य गृह-उद्योग मोढ़े बनाना, सिरको, जोड़े तथा चिक बनाना है। मथुरा जिले के दरबै गाँव में अँगूठियाँ बनाने के कारखाने है। यहाँ से ससार के अनेक बाजारों में अँगूठियाँ जाती हैं। अलीगढ़ और उसके आसपास के गावो में ताले बनाए जाते हैं। यह गृह-उद्योग आज प्रतिदिन उन्नति कर रहा है। यहाँ के बने हुए ताले भारत के प्रत्येक भाग में बेचे जाते है। ब्रज की दरियाँ भी प्रसिद्ध है। मथुरा जिले तथा वामदन की दरियों की माँग बाहर बहुत रहती है।

ब्रज के लोक-जीवन में कला

लोकजीवन की कला जीवन का अङ्ग भी होती है और शृङ्गार भी। लोक की कार्यव्यस्त जिदगी के क्षण ही कभी-कभी कला का अग बनने को मचल उठते है। कार्यकाल की एक निश्चित सीमा के पश्चात् विश्राम का सिद्धान्त लोकजीवन में मान्य नहीं; वहां श्रम से बोझिल प्रति पल कला की रंगीन रेखाओं से वेष्ठित रहता है। इस प्रकार श्रम और कला के ताने-वाने मे लोकजीवन बुना हुआ है। युरोप के उद्योग-जीवी देशो मे अवकाश का उपयोग कलाकृतियों की रचना करने में हुआ है। उन कलाकृतियों को भी कभी-कभी लोक-कला में ही गिना जाता है। पर कार्य के साथ-साथ चलने वाली सामूहिक अथवा व्यक्तिगत कार्येतर चेष्टाएँ निश्चित रूप से लोक-कला की तीलियाँ हैं।

इस प्रकार की कलाकृतियों में स्वाभाविकता तथा सजीवता व्याप्त रहती है। श्रम के साथ चलती-बनती कला का एक उदाहरण दिया जा सकता है। ब्रज में कहीं पैरचल रही है। जल से पूर्ण चरस 'पारछे' में आया। चरस लेने वाला एक हाथ से चरस को

पारछे में खींच रहा है। मुँह से शब्द निकल रहे हैं—'हर आइ गए अन्तर्जामी।' इसको सुन कर बैलों को रोक दिया जाता है। इतने में चरस खाली हुआ, खाली करके पारछे वाले ने चरस को कूए में फिर फांस दिया। मुँह से शब्द निकले—'हर छोडि चले निरमोही।' फिर दूसरा चरस भर कर आया। चरस लेने वाले ने एक हाथ से उसे पारछे में खींचा और मुँह से शब्द निकले—'बगदे मेरी देखि गरी ब्याई।' इस प्रकार लयात्मक तीन कड़ियां परस्पर विच्छिन्न बन गई—'हर आइ गए अन्तर्जामी', 'हर छोडि चले निरमोही' तथा 'बगदे मेरी देखि गरी ब्याई।' इन वाक्यों मे 'कला की पालिस' को उतार कर देखा जाए तो ढांचा इस प्रकार बच रहता है—'कुए में से चरस आगया, अब फिर जा रहा है तथा फिर आगया।' इन वाक्यों का उपयोग तो कीली लगाने वाले को सावधान करना है। इनकी लयात्मकता कार्यक्रम में एक लहर उत्पन्न कर देती है। भगवान् को विस्मरण न करने का एक हलका-सा भाव चल रहा है। अपनी निर्धनता का विचार भी किसान नहीं भूला पा रहा है। भगवान् की दीनबन्धुता भी स्पष्ट है। इस प्रकार लय, लोकोत्तरता एवं यथार्थ तथा आशा का मिश्रण इन वाक्यों की पृष्ठभूमि बना रहा है। किन्तु इन स्फुट रसात्मक वाक्यों को 'कृति' में परिवर्तित करने को लोक-मानस ललक उठा। उक्त कलात्मक तत्व स्फीत होकर खिल उठे। भाव स्फुरित होकर कल्पना के आश्रय से एक कृति के रूप में ढले। कहानी बनी—

"एक दिन शिव-पार्वती घूमने जा रहे थे। वहीं पास में पैर चल रही थी। कुए में से पुर बाहर आया। किसान ने कहा—'हर आइ गए अन्तर्जामी।' सुन कर पार्वती जी ने शिवजी से कहा—"महाराज, आपको इस किसान ने पहचान लिया है, इसके पास चला जाए।" शिवजी ने उत्तर दिया—"यह तो ऐसे ही कहता रहता है। चलो हमें इससे क्या, अपना रास्ता खोटा क्यों करें?' यह कहकर शिवजी पार्वती के साथ चल दिए। इतने में पुर वाले ने पुर को

खाली करके कुए में फांसा। मुँह से शब्द निकले 'हर छोड़ि चले निरमोही।' सुन पार्वती ने फिर कहा—"देखलो महाराज, अब तो आप मानेंगे कि इसने आपको पहचान लिया। अब तो इसके पास चलना चाहिए।" इस प्रकार शिव और पार्वती किसान की ओर लौटे। इधर किसान का चरस कुए में से निकला। उसके मुँह से शब्द निकले—'बगदे मेरी देखि गरीब्याई।' यह सुन कर शिव-पार्वती को पूर्ण विश्वास होगया। किसान के पास आकर उन्होंने कहा—"वरदान माग।" किसान ने कहा—"महाराज मेरी खेती में दिन दूना रात चौगुना नाज पैदा हो।" वरदान देकर शिवजी चले गए। इस प्रकार श्रम के साथ उत्पन्न कला-तत्वों को कहानी में बदल दिया गया। ऐसे ही अनेक कहानियों का जन्म ब्रज में हुआ है तथा होता रहता है।

कुछ कहानियाँ नाटकीय ढङ्ग पर भी बनती हैं। इस प्रकार की कहानियों में 'भादौ-फागुन' कहानी सबसे प्रसिद्ध है। यह बड़ी सजीव शैली में लिखी हुई भादौं का फागुन से श्रेष्ठतर सिद्ध करने वाली कहानी है। कहानी-कला तथा काव्य-कला पर ब्रज के लोक-साहित्य वाले अंश में विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ ब्रज की अन्य कलाओं पर सक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। ब्रज के गृहस्थ-जीवन से सबद्ध मुख्य रूप से ये कलाएँ हैं—सङ्गीत-कला, नृत्यकला, अभिनयकला, चित्रकला, मूर्तिकला, तथा शरीर-प्रसाधन को कला।

सङ्गीत

ब्रज में गीत-वाद्य के कई रूप मिलते हैं। अबोध बालकों का गायन सरल, सजीव तथा साधारण अर्थ वाला होता है। उसमें स्वर और लय अविकसित रूप में होते हैं। इस सङ्गीत के उदाहरण 'टेसू' तथा 'झाँझी के गीत हैं। इन गीतों के साथ किसी भी

लोक-वाद्य का मेल नहीं है। पुरुषों के गायन के साथ कुछ वाद्यों का भी मेल होता है। पुरुषों के संगीत को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—आनुष्ठानिक, व्यक्तिपरक तथा सामूहिक। आनुष्ठानिक संगीत में देवी के गीत तथा 'जागरण' के गायन सम्मिलित हैं। जागरण के गायन बहुत लम्बे होते हैं। 'जाहरपीर' के जागरण मे 'जाहरपीर महाकाव्य' का गायन होता है। इसके साथ डमरू तथा मँजीरों का योग रहता है। एक आगे बोलता है, कुछ पीछे दुहराते है। इस गायन का संबध 'जोगी' जाति से है। दूसरा 'जागरण' देवी का होता है। इसमें 'कोली' लोग देवी (दुर्गा) के युद्ध, पराक्रम तथा शत्रुनाश के गीत गाते हैं। कथात्मक गीतों के अतिरिक्त कुछ फुटकर गीत भी गाए जाते हैं। इस जागरण के संगीत की धरोहर जोगी, धोबी, कुम्हार तथा चमारों के पास है। अनुष्ठानों के गीतों के अतिरिक्त पुरुषों का ललित व्यक्तिपरक सङ्गीत भी महत्वपूर्ण है। इस व्यक्तिपरक सङ्गीत के दो भाग हैं। पहले इतिवृत्तात्मक गीत, जिनमें ढोला, आल्हा, साके, पमारे, व्याहुले आदि है दूसरे स्फुट, जिनमें धोबी-कुम्हारों की रागिनी, भजन तथा रसिया हैं। पुरुषों के सामूहिक सङ्गीत के दर्शन होली आदि उत्सवों तथा मेलों आदि के अवसरों पर होते है। इस सङ्गीत में अधिकांश स्फुट गीत तथा रागिनियाँ होती हैं। कुछ गीत ऐसे भी होते हैं जिनको व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों प्रकार से गाया जा सकता है। ब्रज के गीतों के साथ मृदङ्ग, मँजीरा, चिकाड़ा, ढोलक, किन्नरी तथा खटताल आदि लोकवाद्यों का योग रहता हैं। यह ब्रज के लोक-सङ्गीत की संक्षिप्त रूपरेखा है।

लोकनृत्य

लोकनृत्य विशेष रूप से स्त्रियों के तथा साधारण रूप से पुरुषों के भी मिलते हैं। केवल निम्न वर्गों के पुरुष नृत्य में रुचि

लेते हैं, जैसे—धोबी, कुम्हार, चमार आदि। कुछ पुरुष स्त्री का वेश धारण करके नृत्य करते हैं। चमत्कारपूर्ण नृत्य भी प्रचलित हैं। नगौड़ा गाँव का हीरासिंह बीसियों मिट्टी के बर्तन अपने सिर पर रख कर नाचता है। मनों भारी तखत को अपने सिर पर नाचते-नाचते रखकर घुमाने का कौशल भी वह दिखाता है। इन सभी नृत्यों में रोचक तथा अश्लील हाव-भाव प्रदर्शित करना एक विशेष बात है। कमर के मटकाने के कौशल की प्रशंसा दर्शकों द्वारा विशेष की जाती है। स्त्रियाँ मांगलिक अवसरों पर नृत्य करती हैं। लड़का होने की प्रसन्नता कुटुम्ब को सराबोर कर देती है। इस अवसर पर कुए की पूजा के पश्चात्, छटी के दिन तथा तगा के दिन स्त्रियाँ विशेष उत्साह के साथ नृत्य करती हैं। विवाह के अवसर के नृत्यों में विशेष यौवनोल्लास के दर्शन होते हैं। कुआ वाले, जखैया तथा देवी की 'जात' के अवसर पर जो नृत्य होते है उनमें अश्लील हाव-भावों का प्रायः अभाव रहता है। देवता के सम्मुख नाचने की प्रथा स्त्रियों में है। इन नृत्यों मे आत्मनिवेदन का पुट विशेष रहता है। नृत्यों के साथ गायन अविच्छिन्न रूप से संलग्न है। अनेक स्त्रियाँ मिलकर गाती हैं। उन गीतों में ताल विशेष रहती है। एक स्त्री उस गीत की तालों के अनुसार नृत्य करती है। ढोलक साथ-साथ बजती रहती है। देवता के सम्मुख होने वाले नृत्य वाद्य पर ही होते हैं; गीत के साथ नहीं। पुरुषों के नृत्य के साथ ढोलक, मृदङ्ग तथा मँजीरे बजते हैं। विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ वर को गोद में लेकर भी नाचती हैं। यह सम्मिलित नृत्य का रूप दीखता है।

अभिनय

पुरुषों द्वारा इस कला का उपयोग होली आदि के अवसरों पर होता। है होली के अवसर पर पुरुष विविध 'स्वांग' बनाकर निकालते

हैं। खुले रङ्गमंच के संगीतात्मक अभिनयों में 'भगत' या 'स्वाँग' प्रमुख हैं। इनके मुख्य गीत चौबोला, लावनी तथा बहरतबील हैं। रासलीला भी लोक-अभिनय का एक प्रकार है। इसका भी मुख्य माध्यम सङ्गीत है। ब्रज में रासलीला मे गीत, वार्ता, नृत्य तथा वाद्य सभी का संयोग रहता है। इस अभिनय में शास्त्रीयता का पुट उसे लोक-भूमि से कुछ ऊँचा उठा देता है। रामलीला भी ब्रज में बहुत अधिक लोकप्रिय है। 'मानस' की चौपाइयाँ एक पण्डित के द्वारा पढ़ी जाती हैं, उनका अर्थ संवाद के रूप में पात्रों द्वारा किया जाता है। स्त्रियों में अभिनय-कला मांगलिक कृत्यों का एक भाग है। स्त्रियों मे यह अभिनय 'खोइया' के नाम से होता है। विवाह के अवसर पर जब लड़के वाले के यहाँ मे बरात चलो जाती है तब वहाँ की औरतें रात में 'खोइया' करती हैं, जिसका एक अनिवार्य रूप तो यह है कि विवाह का अभिनय हो, साथ में अन्य स्वाँग अथवा लीलाएँ भी यथोचित रूप बनाकर की जाती हैं। इस खोइया में एक स्त्री पठान भी बनती है। यह अभिनय एक निश्चित स्थान पर नहीं होता। वह गाँव की गली-गली में घूमता रहता है। अश्लीलता से वातावरण सम्पन्न रहता है। इसमें सुरुचि और सौन्दर्य के विकास की आवश्यकता है।

चित्रकला

ब्रज में चित्रकला कुछ धार्मिक कृत्यों के रूप में अवशिष्ट रह गई है। मांगलिक अवसरों पर चित्रकला के दर्शन होते है। इस कला को लोकजीवन मे जीवित रखने का श्रेय केवल स्त्रियों को है। ब्रज में इस चित्रकला के प्रदर्शन के कई अवसर आते है। जन्म के समय की मुख्य चित्रकारी 'साँतिया' है। यह साँतिया स्वस्तिक चिह्न का बिगड़ा हुआ रूप है। जन्म के समय साँतिए गोबर की रेखाओं से बनते हैं। इस अवसर का दूसरा चित्र 'चौक'

है, जो आँगन में सूखे आटे से बनाया जाता है। जच्चा के पीहर से कुछ खाद्य-सामग्री एक घड़े में आती है। उस घड़े को हल्दी से रँगकर उस पर लाल रेखाओं से अनेक चित्र बनाए जाते हैं। विवाह के अवसर पर चित्र उरेहना अनिवार्य है। सबसे पहले दरवाजे को सजाया जाता है। दरवाजे के चारों ओर एक बेल बनाना आवश्यक होता है। यह बेल गेरू की रेखाओं से चित्रित होती है। दरवाजे के दोनों ओर घोड़े और हाथियों के सवार सहित चित्र बनाए जाते है। ये चित्र अधिकांश काली रेखाओं से आलेखित होते हैं। कभी-कभी दरवाजों पर द्वारपालों के चित्र बनाए जाते है। विभिन्न प्रकार के चौक भी पूरे जाते है।

सलूना, दशहरा, दिवाली, देवठान, करवा चौथ, अहोई अष्टमी आदि कुछ ऐसे अवसर हैं जिनपर चित्रकारी अनिवार्य है। इन दिनों आनुष्ठानिक चित्र न बनाना अशुभ और अकल्याणकारी माना जाता है। श्रावणी के दिन 'सोना' रखे जाते है। यह श्रवणकुमार का चित्र है। दशहरे पर गोबर की उभरी हुई रेखाओं से एक घुड़सवार का चित्र बनाया जाता है। देवी का भी चित्र बनता है। इन चित्र-प्रतीकों की पूजा का भी विधान है। दिवाली पर दीवार पर सफेदी करके नारियल के खोपड़े को जलाकर काला रंग बना, पानी में घोल उससे दिवाली 'धरी जाती' है। कभी रोली की रेखाओं से भी लक्ष्मी का चित्र बनाया जाता है। देवठान चित्रकारी की दृष्टि से एक मुख्य त्योहार है। समस्त आँगन को गोबर से लीप दिया जाता है फिर गेरू, सफेदी तथा अन्य रंगों से समस्त आँगन को चीता जाता है। टिकुली रखी जाती हैं, पद-चिह्न और देवता चित्रित होते हैं, गायों के खुर बनाए जाते और तीर-कमान अङ्कित किए जाते हैं टिकुलियों के मोर चित्रित किए जाते हैं। विविध प्रकार के चौकों की रचना इस त्यौहार की एक विशेषता है। दीवार-पूजा के लिए देवता का एक विशेष चित्र निर्मित किया जाता है। नागपंचमी

पर नागों के चित्र बनाए जाते हैं। लड़कियाँ गोबर की उभरी हुई रेखाओं से 'नौरता' के दिनों में कोट और सांजी के चित्र बनाती हैं। करवा चौथ और अहोई अष्टमी के चित्र बहुत विशद होते हैं। इनमें पूरी कहानी ही चित्रित की जाती है। इन दोनों व्रतों का सम्बन्ध स्त्रियों से है। दोनों व्रतों की कहानियाँ हैं। उन कहानियों को चावल से बने सफेद रंग से, गेरू से पुती दीवार पर अङ्कित किया जाता है। इन चित्रों के पास बैठकर कहानियाँ सुनी जाती हैं। होली पर 'घरघुली' बनाई जाती है। नित्यप्रति इसे सूखे आटे से सजाया जाता है। अन्तिम दिन इसकी सजावट में अनेक सूखे रंगों का उपयोग होता है। इस प्रकार ब्रज के लोक-जीवन में विविध प्रकार के चित्र अपनी सत्ता रूढ़ रूप में बनाए हुए हैं।

मूर्तिकला

मूर्तिकला को भी स्त्री-वर्ग जीवित रखे हुए है। कई अवसरों पर मूर्तियों का निर्माण किया जाता है। मूर्तियों के निर्माण की सामग्री गीली मिट्टी और मड़ा हुआ आटा है। पोता मिट्टी की 'गौरनी' बनाई जाती है। विवाह के अवसर पर वर-बधू स्नानानन्तर इन प्रतीकों की पूजा करते हैं। जब वर-बधू विवाह के पश्चात् अपने घर आते हैं तब स्त्रियाँ आटे की मछलियाँ बनाकर पानी से भरी हुई कड़ाही में छोड़ देती हैं और वर-बधू में उनको पकड़ने की प्रतियोगिता कराई जाती है। सकट चौथ पर आटे की प्रतीक-मूर्तियाँ बनाई जाती है और उनकी पूजा होती है। अखतीज पर आटे की 'धै' बनाई जाती हैं, उनकी भी पूजा होती है। न्यौरता क्वारी लड़कियों का अनुष्ठान है। इस अवसर पर एक-दो फुट के लगभग लम्बी स्त्री की एक मूर्ति गोबर या मिट्टी से बनाई जाती है। उसके नीचे एक पुरुष की मूर्ति बनाई जाती है। करवा चौथ पर मिट्टी की दो मूर्तियाँ बनती हैं,। इनको एक पट्टे पर बिठाया

जाता है, । इनके सामने करुए बदले जाते हैं। गोवर्द्धन की पूजा लोक-जीवन का एक महत्वपूर्ण उत्सव है। इस अवसर पर गोबर की कितनी ही मूर्तियाँ बनाए जाती हैं। गोवर्द्धन पुरुष के आकार का बनाया जाता है। वहीं गाएँ, बछड़े, बरौसी, दुहनी, कुत्ता, ग्वारिया आदि भी गोबर के बनाई जाते हैं। इस प्रकार मूर्तिकला के भी चिह्न ब्रज के लोकजीवन में मिलते हैं। गुड़िया तथा गुड्डे कपड़े की बनी हुई मूर्तियाँ ही हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रज का लोक-जीवन अनेक विचित्रताओं से परिपूर्ण है। इस प्रकार के विचित्र तत्व मिलते हैं जिनके रहस्यों का उद्घाटन नृ-विज्ञान, समाज-विज्ञान तथा मनो-विज्ञान से ही सम्भव है। इनसे मिश्रित लोक-संस्कृति अध्येता को प्रेरित करती है कि वह आसपास के जनपदों की विभिन्न संस्कृतियों का तुलनात्मक विश्लेषण और अध्ययन करे। जनपदीय अध्ययन का जो आन्दोलन आज चल पड़ा है उसमें विभाजन की वृत्ति कार्य कर रही है। आवश्यकता इस बात की है कि जनपदों की स्थानीय विशेषताओं के साथ-साथ उन अन्तर्धाराओं का भी गंभीर अध्ययन हो जो विभिन्न जनपदों को ही नहीं, मनुष्य की मूल प्रकृति के धरातल पर समस्त मानव-जाति को एक-सूत्रता प्रदान कर सकती हैं। यदि अध्ययन में मूल ऐक्य को दृष्टि में नहीं रखा गया तो लोक-संस्कृति के अध्ययन का लक्ष्य प्राप्त नही हो सकेगा।

ब्रज का लोक-साहित्य

भारत के प्रायः सभी प्रमुख धार्मिक आन्दोलनों तथा सामा-जिक उद्बोधनों से ब्रज का संबंध रहा है। भारत की संस्कृति का ब्रज केन्द्र रहा है, इसलिए ब्रज की संस्कृति का अध्ययन व्यापक

रूप मे करना आवश्यक है। इस सांस्कृतिक अध्ययन का कार्य लोक-साहित्य द्वारा ही हो सकता है।

लोक-साहित्य का अध्ययन बहुधा तीन प्रकार से किया जाता है—पहले प्रकार का अध्ययन परम्परा-सम्बन्धी है। परम्परा के सूत्र को पकड़ कर दूरस्थ भूत तक पहुँचना इसका कार्य होता है। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर शोधक सामाजिक जीवन के आरम्भिक रूपों और जीवन की प्रथम मान्यताओं तक पहुँच जाता है। इस प्रकार मानव के सामाजिक और मानसिक विकास का पथ स्पष्ट हो जाता है। इससे जातीय जीवन की प्रगति-विधि और विभिन्न स्थितियों के चित्र प्रकट होते हैं। लोक-साहित्य के अध्ययन का दूसरा प्रकार मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। यह वर्तमान से विशेष सम्बन्धित रहता है। अथवा उस समय से सम्बन्धित रहता है जिस समय किसी विश्वास-विशेष, प्रथा अथवा कहानी आदि का जन्म हुआ हो। उस विश्वास आदि को जन्म देने के लिए मानव की कौन सी मूल प्रवृत्ति सचेष्ट है।' सामाजिक-मनोविज्ञान की कौन सी लहर है जो उस मूल बीज का पोषण करती है, उसके पनपने में वातावरण की प्रेरक और प्रभावक शक्तियों का कहां तक हाथ है—इन सब बातों का विचार हम लोक-साहित्य के मनोवैज्ञानिक परिशीलन मे करते हैं। तीसरा प्रकार अधिक वैज्ञानिक, उपयोगी और महत्व-पूर्ण है। वह है लोक-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन। इस प्रकार के अध्ययन का भाषावैज्ञानिक, नृ-विज्ञान-संबंधी, सामाजिक और ऐतिहासिक महत्व है। हम अपने इस अध्ययन में तीनों पद्ध-तियों का उपयोग करेंगे।

'लोक' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है, पर यहाँ इसका अर्थ सीमित कर दिया गया है। यहाँ लोक का अर्थ समाज के एक अङ्ग से है। इसमें ग्रामीण क्षेत्र का वह भाग आता है जो आधुनिक नाग-

रिक प्रभाव से दूर, आधुनिक शिक्षा से वंचित और अपढ़ है। केवल यही भाग हमारे अध्ययन का विषय है।

'साहित्य' शब्द के अन्तर्गत यहाँ वह समस्त सामग्री है जो भाषा द्वारा ग्रामीण जनता के किसी भी विश्वास, मान्यता, उल्लास कुठा, नीति और न्याय को व्यक्त करती है। इसमें उस ग्रामीण जनता में प्रचलित समस्त कहानियाँ, गीत, लोकोक्तियाँ, बुझौअल तथा खेतो सम्बन्धी साहित्य सम्मिलित है।

किन्तु आजकल नगरों के भी कुछ साहित्य का उल्लेख लोक-साहित्य के अन्तर्गत ही होता है। श्री टेम्पल महोदय ने 'लीजेंड्स ऑफ़ दि पंजाब' पुस्तक में वह साहित्य एकत्रित किया है जो वस्तुतः शहरों में रचा जाता है। नौटङ्की की शैली पर जो स्वाँग-भगत होते हैं, और जिनका मुख्य छन्द चौबोला है, उनका सङ्कलन उक्त महाशय ने किया है। उस सग्रह में जितने स्वाँग है वे लोक-गाथाओं पर बने हैं। जैसे—एक स्वाँग गुरु गुग्गा का है। यह एक लोक-कहानी ही है। यही कारण है कि इसका वाह्य चोला नागरिक होते हुए भी आत्मा लोक-साहित्य की ही है। अन्तर केवल शैली का है। यही ध्यान में रखकर हमने ब्रज के लोक-साहित्य का सङ्कलन कराते समय स्वाँग और नौटङ्की को भी एकत्रित कराया। इस प्रकार के सङ्कलन में नथाराम (हाथरस), नत्थन (मथुरा), रोशनलाल (लोहवन) और घासीराम (गोवर्द्धन) के द्वारा रचित स्वाँग विशेष उल्लेखनीय हैं।

एक और शैली है, जो नागरिक होते हुए भी लोक-साहित्य में गृहीत है। यह है 'ख्यालबाजी'। इसके प्रचलन के क्षेत्र वास्तव में शहर ही हैं। किन्तु शहरों की असंस्कृत रुचि वाली जनता ही इसमें भाग लेती है। इस शैली में सामयिक चर्चा भी रहती है। कभी-कभी लोक-कहानी को ही ख्यालों में बाँध दिया जाता है।

जहाँ लोक-कहानी को ख्यालों में बाँधा जाता है वहाँ तो वह शुद्ध लोक-साहित्य है ही। इस शैली के अन्तर्गत मथुरा के नत्थो के अखाड़े और हाथरस के ख्यालबाजों के अखाड़े प्रसिद्ध हैं।

रूस में इस क्षेत्र को और भी बढ़ा दिया गया है। वहाँ नौसिखिए कलाकारों का एक समुदाय है, जो कि जीवन के विभिन्न व्यवसायों से सम्बद्ध है। इसमे वे सभी व्यवसायी और श्रमिक सम्मिलित है जो अपने अतिरिक्त समय में इस प्रकार का साहित्य रचते हैं और नाटक करते हैं। किन्तु भारतवर्ष की ऐसी संस्थाएँ, हमारे विचार से, लोक-साहित्य के अन्तर्गत नहीं आतीं। ब्रज में इस प्रकार की कोई संस्था नहीं है। अतः क्षेत्र-विस्तार के इस रूप पर हम विशेष नहीं कहेंगे।

ब्रज के लोक-साहित्य के प्रकार

ठेठ लोक-साहित्य के दर्शन हमें निम्न वर्ग में ही होते हैं। उच्च वर्ग संस्कृत, शिक्षित तथा सभ्य हो गया है। किन्तु गाँवों में उच्च वर्ग की भी स्त्रियाँ अभी अधिक आगे नहीं बढ़ सकीं। उनमें रूढ़ि-प्रियता और प्राचीन मान्यताएँ प्रायः अविकल रूप में विद्यमान हैं। अतः उच्च वर्ग की इन स्त्रियों का साहित्य अध्ययन की वस्तु है। ब्रज में उच्च वर्ग ब्राह्मण, वैश्य, जाट, ठाकुर आदि जातियों का समुदाय कहा जा सकता है। निम्न वर्ग में गड़रिये, धोबी, कुम्हार, कोली, चमार, खटीक, भङ्गी आदि आते हैं। इस वर्ग का स्त्री एवं पुरुष-साहित्य दोनों ही महत्वपूर्ण है। इस प्रकार वर्गों के अनुसार ब्रज के लोक-साहित्य का हम इस प्रकार वर्गीकरण कर सकते हैं—
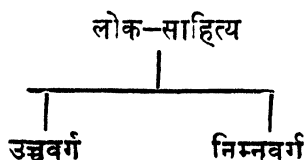
उच्च वर्ग के अन्तर्गत गीति-साहित्य, पुरुष-साहित्य का कुछ भाग, स्त्री-साहित्य, तथा बाल-साहित्य आता है।

निम्न वर्ग में पुरुष-साहित्य, स्त्री-साहित्य, बाल-साहित्य एवं पंचायनी कहानियाँ आती हैं।

गीत

उक्त वर्ग-गत साहित्य को हम शैली के आधार पर पुन: विभाजित कर सकते हैं। ब्रज के लोक-साहित्य की अनेक शैलियाँ पाई जाती हैं। पहले हम गीति-शैली को लेते हैं। यह पुरुष तथा स्त्री दोनों समाजों में प्रचलित है। स्त्री तथा पुरुषों के गीतों में जो मौलिक अन्तर है वह यह कि पुरुषों के गीत अधिक सुष्ठु, संतुलित और संस्कृत होते हैं। स्त्रियों के गीतों में तुक-लय का विशेष ध्यान नहीं रखा जाता। दूसरा अन्तर यह है कि ब्रज की स्त्रियों के प्राय: समस्त गीत सामूहिक रूप से गाए जाते हैं। पुरुषों के गीत दोनों ह। से गाए जाते हैं—सामूहिक रूप से तथा वैयक्तिक रूप से भी। इस गीति-साहित्य को इस प्रकार समझा जा सकता है—
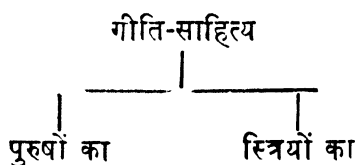
पुरुषों के गीतों में प्राय: उत्सवों (होली आदि) के गीत, कथात्मक गीत (धोबियों तथा कोलियों के ढोला-मारू आदि) तथा यौवन-उल्लास के गीत होते हैं

स्त्री-गीतों में वैवाहिक तथा अन्य संस्कारों के गीत, कथा-मूलक ढोला आदि नाच के गीत, व्रत-अनुष्ठान आदि के गीत प्रचुर मात्रा में होते हैं।

ऐसा देखा जाता है कि निम्न वर्ग के पुरुष-समाज में मृदङ्ग और मंजीरों पर कुछ गीत गाए जाते हैं, जिन्हें 'रागिनी' कहते हैं।

ये रागिनियाँ प्रायः धोबियों, कुम्हारों, कोलियों तथा कहारों में प्रचलित हैं। इन रागिनियों के साथ ये लोग नृत्य भी करते है। प्रत्येक रागिनी से पूर्व एक 'गाहा' रहता है। यह गाहा बहुत ही मन्द गति से पहले गाया जाता है। गाहे में या तो सरस्वती की मनौती होती है अथवा उस गीतिबद्ध कहानी की भूमिका होती है। देवी की मनौती से सम्बन्धित गाहे का एक उदाहरण लीजिए—

नगर कोट बैकुण्ठ खम्भ जामे लगे हैं धरम के।
छिक्यो ऐ चाँदनी चौक पेड़ हरियल निबुअन के।
जाकी कंचन बरनी ऐ पौरि।
अम्बखास के बीच में गौरा बैठी ऐ लगाएँ खौरि॥

कथामूलक गीति की भूमिका के रूप में गाया जाने वाला गाहा हमें ढोला-मारू के गीत में मिलता है। मारू का पति ढोला ऊँट पर चढ़कर उस द्वार से होकर निकलता है जिसमें उसका काल था। मारू भगवान् में ध्यान लगाए बैठी है। उस गीत का गाहा यह है—

मारू भजि रही रामुई रामु, ए, दरबज्जे की बैठी घोकि में।
मेरो अबके बकसि दै भरतार, ए, जस रहि जाइ तीनों लोक में॥

इस गाहे के पश्चात् गीत आरम्भ होता है और नाच के ठुमके के साथ वह समाप्त हो जाता है।

उच्च वर्ग में जो गीत प्रचलित हैं उन्हें बहुधा भजनों की संज्ञा दी गई है। किन्तु गीति-साहित्य जितना समृद्ध और व्यवस्थित निम्न वर्ग का है उतना उच्च वर्ग का नहीं है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उक्त वर्ग पर पुराणों का यथेष्ट प्रभाव है। पुराणों की गाथाएँ, भक्तों के उद्धार की कथाएँ और भगवान् का अवतार-सम्बन्धी साहित्य इस वर्ग तक आ गया है। अतः इस वर्ग में गीतों के तत्वों की अपेक्षा भजनों के तत्व अधिक हैं। निम्न वर्ग

इस प्रकार के प्रभावों से शून्य है। अतः गीति-तत्त्व उनमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। उच्च वर्ग की प्रवृत्ति प्रबन्धात्मक अधिक है।

स्त्रियों के गीत

स्त्रियों के गीतों को यदि ब्रज के लोक-साहित्य से निकाल दिया जाए तो सम्भवतः लोक-साहित्य की रीढ़ ही टूट जाएगी। स्त्रियों के गीतों का अधिकांश मानव-जीवन के संस्कारों से संबंधित है। सबसे अधिक गीत जन्ति के मिलते है। बच्चे का जन्म उनकी दृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण सस्कार है। इसके अतिरिक्त वैवाहिक गीत भी प्रचुर मात्रा में मिलते है। ये ही दो सस्कार है जिनपर स्त्रियो के गीतों का अधिकांश केन्द्रित है। अन्य प्रकार के गीतों में सावन के, होली के, व्रतों के, मेलो के, देवी-देवताओं के और खेल के गीत अधिक मिलते है। अब पहले जन्ति के गीतों पर विचार करेंगे।

जन्ति के गीत

जन्ति-सस्कार की समस्त क्रियाओं का विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता। जन्म के दिन से 'तगा' के दिन तक लगभग डेढ़ सो विश्वास और अन्धविश्वासों से पोषित क्रियाएँ बच्चे और बच्चे की माँ के लिए की जाती है। जादू टोना और टोटके ब्रज में अन्य किसी संस्कार से इतने सम्बद्ध नहीं जितने जन्ति के संस्कार से हैं। इस संस्कार से सम्बन्धित साहित्य गर्भ रहने के सातवें महीने से आरम्भ होता है। गर्भ के सातवें महीने में साथ पूजी जाती है। इसके पश्चात् जन्म के छठवें दिन छटी होती है। छटी के दिन 'कौमरी' (भीगे हुए चने) बाँटी जाती हैं। कौमरी बाँटने के समय का एक गीत ब्रज में प्रचलित है। इस गीत की पृष्ठभूमि में ननँद-भौजाई की परम्परागत लड़ाई है। कौमरी बटती हैं, जच्चा (बच्चे को जन्म देने वाली) नहीं चाहती कि उसकी ननंद के यहाँ

कौमरी दी जाय। नाइन भूल से ननँद के यहाँ कौमरी दे आती है। जच्चा अपने पति से कौमरी वापस लाने को कहती है। वे लेने जाते हैं, पर कौमरी तब तक खा ली जाती हैं। इस पर ननँद दूसरे दिन मोतियों की कौमरी देने आती है। पूरा गीत नीचे उद्धृत किया जाता है—

सो राजा मेरे सोइ गए नींद कुनींद,
सपने में देखीं कौमरी जी महाराज।
सो राजा मेरे पीतरि टोकना मँगाइ,
चना की डारूँ कौमरी जी महाराज।
सो राजा मेरे नाइनि देउ बुलाइ,
नगर में बाँटूँ कौमरी जी महाराज।
सो नाइनि बिटिया सुनि लेउ मेरी बात,
नगर में बाँटौ कौमरी जी महाराज।
नाइनि बिटिया बांटियौ उल्ली-पल्ली पार,
नन्दुलि कौ घरुआ छोरियौ जी महाराज।
सो राजा मेरे नाइनि असलि छिनारि,
सो नन्दुलि कें दै आइ कौमरी जी महाराज।
सो राजा मेरे जाऔ बेगि से जाउ,
सो उलटि कें लाऔ कौमरी जी महाराज।
सो राजा मेरे लिल घोड़ोनु असवार,
उलटिकें लाओ मेरो कौमरी जी महाराज।
सो राजा मेरे पहुँचे बहिन दरवार,
ठाड़े तो ठाड़े सोचिये जी महाराज।
सो भैना मेरी खोलि देउ चन्दन किवार,
उलटि कें लाऔ कौमरी जी महाराज।
भैना तिहारी भवज उच्च कुला की ऐं धीअ,
उलटि कें मागै कौमरी जी महाराज।
सो भैया मेरे भानज डारी ऐं चबाइ,
कहां ते लाऊँ कौमरी जी महाराज।

सो राजा मेरे सोइ गए नींद कुनींद,
सपने में देखीं कौमरी जी महाराज।
सो राजा मेरे सोने के टोकना बनाइ,
मोतिन की डारूँ कौमरी जी महाराज।
सो राजा मेरे नगर देउ बुलाइ,
और जिठानी देउ बुलाइ जी महाराज,
भाभी के दुंगी कौमरी जी महाराज।
सो राजा मेरे बाजे देउ मँगाइ,
ओच्छी के बाउँगी दैवे कौमरी जी महाराज।
भाभी मेरी, खोलि देउ झँझन किवार।
अपनी तौ लै लेउ कौमरी जी महाराज
भाभी मेरी, तिहारी चना की दारि,
मोतिन की लै लेउ कौमरी जी महाराज।
भैना मेरी जे तौ ओच्छे घरा की ऐं धीअ,
मोतिन की धरि लीनी कौमरी जी महाराज।

यह गीत काफी लम्बा है, इसके मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं—

१—ननँद-भावज की लड़ाई। (ब्रज के अन्य गीतों में भी यह तत्व मिलता है।)

२—लड़का हो जाने के कारण स्त्री का गर्व बढ़ जाना। यह उस समय उचित-अनुचित का विचार नहीं करती। इसलिए एक बार दी हुई कौमरी वापस लाने को कहती है।

३—पति की स्त्री-परायणता। (जिसका मूल कारण वह है कि स्त्री का मूल्य और मान लड़का होने के कारण बढ़ जाता है, वह उसके कहने को टाल नहीं सकता।)

४—अन्त में बहन का उत्कर्ष दिखलाना। वास्तव में विजय अन्त में बहन की है।

इसके बिलकुल विपरीत तत्व वाला एक गीत तगा के दिन

गाया जाता है। इसमें स्त्री अपने पति से 'दुलरी' नामक गहना बनवाने के लिए कहती है। साथ ही 'चुँदरी' रँगाने के लिए भी कहती है। उसका पति किसी कारण से आनाकानी करता है। इस पर वह रूठ जाती है और किवाड़ बन्द करके सो जाती है। उसका पति आकर किवाड़ खोलने को कहता है; साथ ही दुलरी बनवाने का भी वचन देता है। पर वह किवाड़ नही खोलती और उत्तर देती है—

दुलरि तौ पहिरै तिहारी माइ,
चुँदरि तौ ओढ़ै तिहारी भैनि।
राजा, हमरौ ऐ सामरौ सरीरु,
दुलरि नाइँ सोहै चुँदरि नाइँ सोहै॥

इस प्रकार के व्यंग्य बाणों से पति का हृदय विदीर्ण-सा हो गया। उसका मानो सोता हुआ पुरुषत्व जाग गया। वह उससे इस प्रकार कहता है—

गोरी, अब तुमें आयौ अभिमानु,
हुरिल तिहारे हुँगे, ललन तिहारे हुंगे।
गोरी, तुम डोम की, ओ डोम,
बिरन तिहारे डोम, भवज तिहारी डोमिनी।
बबुल तिहारे डोम, माइ तिहारी डोमिनी।

बहुत बड़ी गाली दी पति ने स्त्री को। यह डोम तो भंगियों से भी नीची एक जाति होती है। इस प्रकार गाली देकर पति अपने कमरे में जाकर सो जाता है। तब स्त्री की आंखें खुलती हैं, अपने नवजात शिशु को गोद में लेकर उनके पास जाती है और किवाड़ खोलने को कहती है। पति किवाड़ नही खोलता और उसे कड़ा उत्तर देता है। गीत की अन्तिम पंक्तियां इस प्रकार हैं—

गोरी, नांइ खोलूँ झंझन किवार,
बोल तुम बोलिए।

गोरी, बीड़ा तो चाबै तिहारे बीर,
ललनवा खिलावै तिहारे जीजा।
गोरी, हम राजन के ऐं पूत,
सहन तिहारी ना करें।
तुम-सी तौ ब्याहैं दस-बीस॥

इसमें 'राजन के ऐं पूत' से राजपूती ग्रान-बान का संकेत मिलता है। इसी प्रकार के एक नहीं, दस नहीं, अनेकों लम्बे गीत जन्ति के समय गाए जाते हैं। एक गीत की पृष्ठभूमि में बड़ी करुण कहानी है। एक स्त्री के पुत्र उत्पन्न होता है। उसकी सास उसकी आँखों पर पट्टी बँधवा देती है और नवजात शिशु को घूरे पर फिंकवा कर अपने बेटे से कह देती है कि उसके तो पत्थर पैदा हुए है। स्त्री का पति आज्ञा देता है कि जच्चा को रथ में जुतवा दिया जाए। उस घूरे पर पड़े बालक को एक मालिन उठाकर ले जाती है। वह बड़ा होकर अपनी माँ को रथ से मुक्त कराता है। यह कहानी इस गीत में है—

गरभ रही राजे नौ दस मास जाइ जो सासु जगाइऐ।
"उठियो री मेरी सासुलि, नन्द, पीर उठीऐ मेरी कामरि में।"
"कोठी में मूँड़ कुठीला में पाइ, आँखिन पट्टो बहू बांधियौ।"
जब ब्याके भए ऐ कुमर नँदलाल,
दादी ने घूरे डरवाइऐ।
बागनु ते एक मलियरि जाइ,
पोंछि धोइ गोदी लै लियौ।
बाहर ते आए पातरिया से नाह।
"महल उदासी अम्मा चौं भई?"
"तिहारी धन पथरा जने ऐं मेरे लाल,
महल उदासी न्यों भई।"
राजा नें हुकम दियौ ऐ चढ़ाइ—
"रानी जु रथ जुरवाइऐ।"

जब रे कुमर भयौ बर्स दिना कौ,
सरकि रसोई पहुँचियै।
जब रे कुमर भयौ द्वै बर्स कौ,
द्वारन खेलन जाइऐ।
जब रे कुमर भयौ पांच बर्स को,
रथ कौ तमासौ देखन जाइऐ।
"तुम कहा देखौ बेटा रथ कौ तमासौ
तिहारी मैया रथ जुरवाइऐ"
"अन्नु न खाउँ माता पानी न पीऊँ,
जाकै रे भेदु बताइऐ।"
जब रथु पहुँच्यौ बागन के बीच,
"रथमान रथ कूँ डाटियो।"
"नाइ कुखि पूतु नाइ पिंठ बीर,
न्या रथु कौनें रुकवाइऐ।"
ताते सीरे पानी दीने धरवाई,
माइलि उबटि न्हवाइऐ।
"आधौ राजु जा मालिन ऐ देउ,
जानें तौ हम पारिऐ।
दादी ऐ चौराहे पै देउ गड़वाइ,
जानें हम घूरे पै दीए डरवाइ॥"

इस गीत में साधारण तत्वों के अतिरिक्त कुछ विचित्र तत्वों का सम्मिश्रण है। पुत्र की जगह पत्थर उत्पन्न होने की बात कही जाती है और राजा उस पर विश्वास कर लेता है। यह मानव की उस आदिम अवस्था से सबंधित जान पड़ता है जब तक मनुष्य यह नही जान पाया था कि माँ के गर्भ से केवल बच्चे का ही जन्म हो सकता है, पत्थरों का नहीं। दूसरा विचित्र तत्व स्त्री को रथ में जुतवाने का है। यह भी बहुत ही आदिम तत्व है। सन्तानोत्पादन जाति को आगे बढ़ाने के लिए ही होता है। यदि स्त्री पत्थर उत्पन्न करने लगे तो जाति के मरण की सम्भावना हो सकती है। जो जाति का मारक तत्व है वह आदिम मनुष्य का शत्रु था। इसलिए

उस स्त्री को पशु की श्रेणी में रख दिया गया। लोकवार्ता पर नृ-तत्वों के प्रभाव का यह उदाहरण कहा जा सकता है। गोम्मे महोदय भी इस प्रभाव को स्वीकार करते हैं। श्री सत्येन्द्र ने ब्रज के एक और गीत की इसी प्रकार व्याख्या की है। उसमें एक ननँद बैल के मूत्र को हाथ से छू लेती है और गर्भवती हो जाती है। इस तत्व की व्याख्या करते हुए श्री सत्येन्द्र ने लिखा है कि जिस युग में मानव उत्पादन की कार्यकारण प्रणाली का यथार्थ ज्ञान नहीं रखता था उस समय इस भाव की कल्पना की गई होगी।

यहाँ जन्ति के जो तोन गीत उद्धृत किए गए हैं उन तीनों में विभिन्न तत्व मिलते हैं, जिनसे जन्ति के गीतों की नृ-विज्ञान सम्बन्धी महत्ता का परिचय मिलता है। इसी प्रकार और न जाने कितने गीत ब्रज में प्रचलित हैं।

ब्रज के विवाह संबंधी गीत

अब हम लोकसाहित्य की दृष्टि से द्वितीय महत्वपूर्ण संस्कार विवाह पर आते हैं। वैवाहिक गीतों का आरंभ सगाई से होता है और उनका अन्त गौना हो जाने के पश्चात् होता है। ब्रज के वैवाहिक संस्कार का रूप बड़ा जटिल है। हरदात, रतजगा, तेलचढ़ना, आदि ऐसे कृत्य हैं जिन पर बीसियों गीत गाए जाते हैं। हरदी चढ़ाने, भरुअटि लगाने, मेंहदी रचाने, बारौठी, भाँवरों आदि के अलग-अलग गीत हैं। इन गीतों में भाव–गाम्भीर्य आदि नहीं हैं, पर गाते समय ये अवश्य सुन्दर प्रतीत होते हैं। यहाँ इस प्रकार के कृत्यों से संबंधित छोटे गीत दिए जाते हैं—

काजर लगाने के समय का—

तूतौ काजरु पारि लैरी दसरथ की बड़ नारि,
काजरु करुए तेल कौ।
दीऔ ऐ परा भरि तेल,
तूतौ काजरु सालि लैरी रामचन्द की इकनारि।

तेल चढ़ाने के समय का [तीन भाभी, दो बहिन, अथवा बुआ तेल चढ़ाती हैं]—

तेलिन बिटिया तेलु, मेरौ राय चमेली कौ तेलु ऐ।
बहू सीता तेलु चढ़ाइऐ, बेटी रामेश्वरी तेल चढ़ाइऐ।
घरई लछिमन की बालइयां, बहू उर्मिला तेल चढ़ाइऐ।
तेलिन बिटिया तेलु, मेरौ राय चमेली कौ तेलु ऐ।

मरुअटि लगाने का गीत—

मैं तोइ पूँछूँ रे सुअना बात तौ, माथे मरुअटि किन दई।
किन तेरे नैन समारिए ?
हमरी बहिन सुहद्रा बसै साजँन घरा,
जिन मेरे माथे मरुअटि दई।
हमरी तौ भवज ऐँ रुकिमिनी बसैं बिरन घरा,
उन मेरे नैन समारिए।

इस प्रकार प्रत्येक छोटे-से-छोटे कृत्य पर चार-पाँच पंक्तियों का एक-आध गीत अवश्य गाया जाता है। उसकी पुनरावृत्ति होती है और नाम ले-ले कर गीत को बढ़ाया जाता है। यहाँ तक कि पूड़ी बेलते समय भी अनेक गीत गाए जाते हैं।

विवाह संस्कारों से संबधित कुछ देवता भी हैं, जिनके गीत गाए जाते हैं। उच्च वर्ग में तथा निम्न वर्ग में सबसे पहले इस विवाह-सस्कार के सिलसिले में ब्रह्माजी की पूजा होती है। ब्रह्माजी के नाम और स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। उनका नाम 'बूढ़ाबाबू' रखा गया है। उनकी पूजा कढ़ी, भात, बाजरे आदि से होती है, जिसे अति प्राचीन भोजन का प्रतीक माना जा सकता है। चमारों में यह गीत गाया जाता है—

काए की तेरी गाड़िया, ओ लाल।
काए के तेरे बैल, सामलिया।
तुम पै रे वारी साहिब चूँदरी ओ लाल।
अन्दन-चन्दन की गड़ियां, ओ लाल।

सुरई गऊन के बैल, सामलिया।
गाड़ी तौ हिटकी ऐ रेत में, ओ लाल।
बरद उतरि गए पल्लीपारि, सामलिया।

इसी प्रकार के एक और देवता हैं, जो मुसलमान हैं। पर हिंदू भी उन्हें पूज्य समझते है। ये देवता सैयद हैं। ब्रज के चमारों के ब्याह में रतजगे के समय सैयद का यह गीत गाया जाता है—

पीपरिया झक झालरी, म्वा सैयद को थानु।
सैयद के रन मति जूझै, लाड़िले।
अम्मा तेरी ढोरै रे ब्यारि,
सैयद सोए गोरि में दै दै गहरी नीम।
कै रे जग में बीबी फातिमा,
कै हरजनि कै लोगु।
भरौ रे कटोरा दूध को ब्वाकी माइ पिबावै जाइ,
सैयद रन लाड़िले, रन मति जूझै रे।
भरौ रे कटोरा खीचरी घिय बिन खाई न जाय,
सैयद के रन मति जूझै रे।
बिछुरि गई ऐं सबु गाइ,
औंधे रे भए ऐं चलामने,
औरु छछिहारी फिरि-फिरि जायँ,
सैयद के रन मति जूझै रे।
सूधे रे भए ऐं चलामने, छछिहारी लै-लै जायँ ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदुओं के विवाह संस्कारों तक में मुस्लिम सस्कृति के कुछ तत्व घुल मिल गए हैं। सैयद के गीत की तरह अन्य देवताओं के गीत भी प्रचलित हैं, जो अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार विवाहो में गाए जाते हैं।

विवाह के गीतों में करुण रस का पूर्ण परिपाक दो स्थलों के गीतों में हुआ है—एक तो भात न्योतने के गीतों में तथा दूसरे लड़की के बिदा के गीतों में। भात न्योतने के समय के गीत भैया-बहन के परिपूर्ण प्रेम से छलकते हैं। ये गीत दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिनमें किसी प्रसिद्ध 'भातई' की कथा रहती है,

जैसे नरसी के भात को कहानो। यह कहानी कल्पित लोक कहानी भी हो सकती है। दूसरे, जब भातई भात पहनाने आता है तब उसके स्वागत में गीत गाए जाते हैं। कहानीमूलक गीत के उदाहरण में एक यहाँ दिया जाता है। इस गीत की कहानी इस प्रकार है—एक बहन अपने नैहर में भात न्योंतने जाती है। उसके भाई और पिता पहले ही चल बसे हैं। वह अपने ताऊ के लड़के तथा बुआ के लड़के को भात पहनाने को कहती है। वे उससे मना कर देते हैं। तब उसे ज्ञात होता है कि उसका पिता मरकर महुए का तथा भाई पीपल का पेड़ हो गया है। वह उन्हीं को भात न्यौंत देती है। उन पेड़ों में से जो आवाज आती है, वह भात पहनाने का आश्वासन देती है। वही मृत भाई उसे भात पहनाता है। गीत की कुछ पंक्तियां यहां दी जाती हैं—

बीर–बाबुल (मरि महुआ भए,
और बीरन पीपर के पेड़।
भातुजौ नौतूँ अपने बीर कें।
"चलि पिया दोऊ मिलि जयँ,
ढूँढ़ें तौ अपनौ भातई।"
भैना, सबरौ तौ ढूँढ्यौ मालुऔ,
औरु तिल-तिल ढूँढ़ी गुजराति।
मेरी मैया के जाए ना मिले
बीर, सुरति लगाई मरघट घाट की।
और ढूँढ़ति डोलूँ अपनौ बीर।
भातु जो नौतूं अपने वीर कें।
'भैया जौ कहूँ तुम बैठिए,
तौ भैनाऐं बोल सुनाय।"
भैया उतरि बिरछ ते आइए।
"भैना, कब कौ री तेरौ माढ़वौ?
औरु कबकौ रच्यौ ऐ बियाहु?
हम लामें तेरौ भातुजी
भातु जौ नौतूँ अपने बीर कें।

इन पंक्तियों में लड़की के बाप और भाई के पेड़ बनने की कथा आई है। इसमें पेड़ में प्राण-प्रतिष्ठा करने की भावना अन्तर्हित है। फ्रेजर साहब का मत है कि अति आदिम अवस्था में संसार को सजीव समझा जाता था और वृक्ष और पोधे भी मानव के लिए सजीव थे।[1] अपनी पुस्तक में आगे चलकर उक्त महाशय यह भी मानते हैं कि वृक्ष में मृतों की आत्माएँ प्रविष्ट होजाती हैं और उसे सजीव बना देती हैं।[2] बात यह है कि "आदिम मानव के पास वस्तुओं के समझने का माध्यम उसका अपना ही रूप था......जैसा वह था वेसा ही दूसरों को जानता-समझता था......सूक्ष्म भेदबुद्धि उसके पास नहीं थी कि प्राणों के स्वरूप को समझ सके।...वह स्थूल दृष्टि से अपनी कसौटी के द्वारा मानवेतर सृष्टि के व्यापारों और वस्तुओं को ग्रहण करता था।"[3] मनुष्य जीवन से परिपूर्ण था, अतः उसे हर वस्तु सजीव ही ज्ञात होती होगी। उसकी भाषा की एक-एक पक्ति जीवन-सबंधी विशेषण से युक्त होगी। अन्त में इस गीत से स्पष्ट हो जाता है कि भूत ने भात पहनाया। उसको द्यौरानी-जिठानी उसे तानें मारती हैं—

> बीर भैनाऐँ चुँदरी उठाइए।
> औरु भैना ने बैयां पसारिए।
> फिरि बीरन गए ऐं समाइ।
> भैया, द्यो जिठानी बोलें बोलने।
> सौति, भूतनु पहरायौ तोय भातु॥

इस प्रकार गीत समाप्त होता है।

भात न्योंत कर बिदा के समय, भातई के स्वागत के समय और फिर भातई को विदा करते समय अनेक गीत गाए जाते हैं। इनमें किसी रूपक या उपमा के आधार पर हृदय का उल्लास,

---

१. फ्रेजर, गोल्डेन बाउ, पृ० १६६। २. वही, पृ० १७७।

३. सत्येंन्द्र, लोकवार्ता की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, 'प्रतीक', अङ्क २।

उमङ्ग और करुणा दिखाई जाती है। जब बहन भात न्योंत कर बिदा होती है तब जो गीत गाया जाता है उसकी उमङ्ग भरी पंक्तियां ये हैं—

बीर, लहर-लहर गांडर करैं।
और समुद हिलोरे लेइ, सबेरौ अइयौ भातई।
मेरे भतीजे की टोपो चमकनी।
चमकै-चमकै फूफाजी दरबार, सबेरौ०।
मेरी भावज के बिछुआ बाजने।
बाजै-बाजै रे नन्देऊ दरबार, सबेरौ०।

इसमें गाडरों की लहर तथा समुद्र का हिलोरें लेना कुछ आलंकारिक सौन्दर्य प्रकट करते हैं, किंतु व्यक्तित्व का आरोप इन वस्तुओं में नहीं कहा जा सकता। यह तो निश्चित रूप से उस भोली बहन के हृदय की सरलता है।

स्वागत करते समय के गीतों में मेह का बरसना सबसे प्रधान तत्व है। उस समय थोड़ी बूंदों का पड़ जाना शुभ और मङ्गलमय समझा जाता है। एक गीत देखिए—

ऊँनै रे ऊँनै आयौ मेहु।
इतमें रे आये मेरे भातई।
भीजै रे भीजै मेरौ बीरु पियारौ भातई।
भावज भीजै रे छुटमुटी।
भीजै रे भीजै छोटे भतीजे कौ टोपा पियारे।
इत मेरे भीजें भातई॥

अन्त में लड़की की बिदाई के समय के गीतों पर कुछ लिख कर वैवाहिक गीतों का प्रसंग समाप्त करेंगे। बिदा के समय का एक करुण गीत इस प्रकार है—

औरै रे कोरें गुड़िया औ छोड़ी, रोमति छोड़ी सहेलरी।
अपने बबुल कौ देसु छोड़्यौ, अपने सुसर के सँग चली।
सेउ बबुल घर आपनो।

छोटे बिरन पकर्यौ रथ कौ डंडा, 'हमरी बहिन कहां जाय।"
"छोड़ौ बिरन मेरे रथ कौ डंडा,
अपनी पराए, पराई अपनें. जे कलिजुग व्यौहारु।"
"फिरि न्यों न बोलै दारी सौन चिरैया, देखूं बबुल कौ देसु।
अपनौ कुटुमु लै उतरूँगी बाबुल, तिहारौ नगरु सूबसुबसौ।"[1]
धिअरि पनारि[2] बाबुल घर आए, माइल आई, मढ़हे पै त्रितु जाइ
"फटि-फटि रे मेरे हिया बज्जुर के, धीअरि जमैया लै गयौ।
घरु री रीत्यौ,[3] अँगना रीत्यौ, मेरौ सब दुख रिति गयौ पेट्ठु।
मैं हौ फिरि नई जनमुंगी धीअ[4], मेरी धीअरि जमैया लैगयौ।"

गीत साधारण है। बाप, माँ, भैया की करुणा से ओतप्रोत है। एक 'सौन चिरैया' वाला तत्व गाँव का अपना है। सौन चिरैया का विदा होते समय बोलना शुभ और मङ्गलमय समझा जाता है।

विवाह के अन्य गीत

विवाहों से सबधित बहुत-सा अश्लील साहित्य भी है। इस प्रकार के गीतों में 'रजना', 'ललमनियाँ' और 'बिर्जनारि' विशेष उल्लेखनीय हैं। अधिक भद्दे और अश्लील गीत 'खोइया' के अवसर पर गाए जाते हैं।

वैवाहिक गीतों में कुछ खेल के गीत भी होते हैं, जिनका संबंध किसी विशेष संस्कार अथवा अवसर से नही होता। वे हर समय गाए जा सकते हैं। इनमें यौवन का उद्दाम उभार, और कभी-कभी उत्तान शृङ्गारिकता का पुट रहता है। कहारों का एक गीत इस प्रकार है—

दल बादर उमहे स्याम घटा।
चमकै बिजली धधकैं छतियां।
गोरी कौ काजरु ऐसें बन्यौ जैसें कारी घटा।
गोरी की पटिया[5] ऐसी बनी जैसें स्याम घटा, दल०।

---

१. सुन्दर बसा २ विदा करके ३. रिक्त होगया ४. बेटी
५. बालों की पटिया।

गोरी की बेंदो ऐसी बनी जैसें चन्दा छिटके बादर में।
गोरी के बिछुआ ऐसे बनें जैसें दादुलि बोलै पहाड़न में। दल०।

गीत समाप्त करके जब स्त्रियां चलती हैं तब 'ढोला' गाया जाता है।

सावन के गीत

पावस ब्रज की सर्वश्रेष्ठ ऋतु है। सावन के आधुनिक गीत, मल्हार तथा चँदना, राधा-कृष्ण के झूले आदि से सम्बंधित हैं। पर यदि अधिक गहराई में उतरें तो कुछ गीतों में राधा-कृष्ण का नाम भी नहीं मिलेगा। जिस 'चन्द्रावलि' के झूले को कृष्ण की सखी चन्द्रावलि से जोड़ा जाता है वह वास्तव में कृष्ण की सखी नहीं, यह सावन के प्राचीन गीतों के अध्ययन से ज्ञात हो जाता है। सावन का महीना वस्तुतः विरह का महीना है। इसमें स्त्री अपने नैहर रहती है और पति अपने घर रहता है। ब्रज में एक प्रथा है कि रक्षा-बन्धन (सावन की पूर्णिमा) को पति अपनी स्त्री को उसके नैहर से लाने जाता है।

सावन के गीतों के अनेक प्रकार ब्रज में मिलते हैं। अधिकांश गीत ऐसे होते हैं जिनमे कोई न कोई कहानी रहती है। इन कहानियों की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—एक तो व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से ऐतिहासिक तत्व इनमें विद्यमान रहता है, दूसरे अपहरण किए जाने की कथा रहती है। अपहरण दो प्रकार का मिलता है—एक तो स्वेच्छा से, दूसरा बलात्। किसी मुगल द्वारा अपहृत चन्द्रावलि नामक एक हिंदू महिला—सम्बंधी एक गीत यहां दिया जाता है—

ऊँची ऊँची मथुरा, जाके हरे हरे बाँस, आगें तौ डेरा पठान के।
सौने की गगरी, रेसम लेजु, चन्द्रावलि पानी नीकरी।
दूध में दूध, दूध में पानी,
धूँआ के-से पैर उठति आवै ज्वानी।

आगें आगें डेरा पठान के, पेरी चन्द्रावली डेरन बीच।
'सरग उड़ती चोलिया, जा मेरे सासुरे जा,
कहिजों सुसर समुझाइ चन्द्रावलि लाऔ छुड़ाइ।"
थैली तौ बांधी सुसर नें डेड़ सै, अरु रुपियनु ओरु न छोरु,
लैरे पठान के छोहरा, चन्द्रावलि देउ छुड़ाइ।"
'थैली तौ म्हारें भौतुएँ, रुपियनु ओरु न छोरु।
ऐसी चन्द्रावलि ना मिले जैसें राजकुमारि॥"

इसी प्रकार चन्द्रावलि ने चील्ह द्वारा अपने जेठ, देवर आदि के पास अपनी पुकार भेजी। सबने रुपये-पैसे, घोड़े-ऊँट देकर छुड़ाने का प्रयत्न किया, पर पठान ने चन्द्रावलि को वापस नहीं किया। चन्द्रावलि के बाप, चाचा और भाई भी आए, पर पठान न माना। अंत में अपने भाई को वहां से बिदा करते समय चन्द्रावलि कहती है—

"जाऊ बिरन घर आपने, राखुंगी दोउ कुल लाज।
खानो न खाऊँ मुगल कौ, औरु सेजन धरूँगी न पाइँ।"

चन्द्रावलि को अपने बाप तथा पति दोनों के कुल की मर्यादा का ध्यान है। उसकी प्रतिज्ञा अटल है, अंत में वह क्या करती है—

चन्द्रावलि तमुअन दै लई आगि।
हाड़ जरें जैसें लाकड़ी केस जरें जैसें घासु।
हाइ-हाइ मुगला करें, औरु तोबा करै पठानु।
ऐसी चन्द्रावलि जरि बुझि गई जैसें राजकुमारि॥

यह गीत निश्चय ही मुस्लिम काल का है। स्त्री के शील, त्याग और मान-मर्यादा के दर्शन इस गीत में होते हैं, साथ ही पुरुषत्व की हीनता के भी।

सावन में एक और गीत गाया जाता है, जिसकी भूमिका इससे उल्टी है। इस गीत में स्त्री का नहीं, पुरुष का अपहरण होता है। स्त्री अपने पति की मुक्ति के लिए ससुर, देवर, जेठ,

पड़ौसी सबसे याचना करती है, पर सब बहाना बना देते हैं। तब स्त्री स्वयं अपने पति को वीरता से मुक्त कराती है। गीत इस प्रकार है—

दिल्ली सहर बजार में हमारे राजा जी नें कीयौ व्यौहारु।
पांचो पहिरे कापड़े और पांचौ बांधे हथियार।
हमारे मारू कैसें रहिगे जी राज।
दिल्ली सहर बजार में मुगलनु घेरी ऐ गैल।
छीनि लिए सारे कापड़ा और लै लीने हथियार।
हमारे मारू कैसे रहिगे।
कचहरी बैठते ससुर हमारे,
अपने बेटा ऐ लाउ छुड़ाइ।
मेरौ तौ बहू री जाइबौ नाएँ,
मेरी सूनी परी ऐ दहलीज।
धार कढ़ंते जेठजी, अपने भैया ऐ लाओ छुड़ाइ।
मेरौ तौ, बहू, जाइबौ नाएँ,
मेरी व्याह कूं आई ऐं धीअ।
गेंद खिलाते दिवरा, अपने भैया ऐ लाओ छुड़ाइ।
मेरौ तौ भाभी, जाइबौ नाएँ,
मेरी गौने कूँ आई बड़नारि।
सबरे कुटम पै है फिरी,
काऊ ने करी न पुकार।
पांचो तौ पहरे गोरी कापड़े,
पांचो बांधे हथियार।
करि मरदाने भेस कूं,
लीले पै भई ऐ सवार।
छोड़ि मुगल के साहिबा,
नहीं खांड़े ते दुंगी उड़ाइ।
म्यान ते खैंन्चि लई तलवार,
और घुसि गई डेरा बीच।
एक मुगल के द्वै करूं,

नईं साहिबा देउ बताइ ।
साहिबा,
औरु घुड़िला पै कसि लई जीन ।
मारूऐ लाइ छुड़ाइ,
हमारे मारू कैसे रहिगेरी राज ।
पगड़ीन बारे घर रहे,
और लहगन बारी लाई ऐं छुड़ाइ ।
टोपीन बारे घरे रहे,
और हमई लाए छुड़ाइ ।
हमारे मारू कैसे रहिंगे ।

इस गीत में स्त्री का उत्कर्ष केवल कुल की मान-मर्याद की रक्षा करने में ही प्रकट नहीं हुआ, वरन् मर्दानगी में भी 'पगड़ वालों' और 'टोपी वालो' पर एक तीक्ष्ण व्यंग्य भी इस गीत में है चील्ह के द्वारा सदेश भेजना लोक साहित्य का एक प्रमुख अङ्ग है जहाँ उच्च साहित्य में हंस, तोता आदि को संदेश-वाहक बनाय गया है वहां इस गीत में चील्ह को ।

इसी प्रकार 'निहालदे' नामक गीत में निहालदे एक पठा द्वारा अपहृत की जाती है । किन्तु इस गीत में केवल उसके भा को उसकी मुक्ति के लिए भेजा जाता है । 'निहालदे' की अन्ति पंक्तियां इस प्रकार हैं—

पहलौ खांड़ौ ल लाजी ने म िए जी, लै लियौ छतिया बीच ।
दूजौ खाँड़ौ लालाजी ने मारिए जी, गिर्यौ ऐ मूर्च्छा खाइ ।
तीजौ खांड़ौ लालाजी ने छोड़िए जी, तीजे पै छूटे पिरान ।
एजी कोई भैनिऐ लाए छुड़ाइ, जसु दुनिया में रहि गयौ ॥

सावन के अन्य प्रकार के गीत वे हैं जिनमें अपहरण स्वेच्छ से हुआ है । इस प्रकार का एक गीत है जिसमें एक सुन्दर राज कुमारी छत पर खड़ी अपने केश सुखा रही है । नीचे होकर ए 'बनजारा' निकलता है । वह उसके रूप-सौन्दर्य को देखकर मुस्कर

देता है। राजकुमारी पूछती है और वह जवाब देता है—

"कहा रे देखि ठाड़ौ भयो, लाइक बनजारे, कारे देखि मुसिक्याइ ?"
"केस देखि ठाड़ौ भयौ री, राजा की बेटी, नैन देखि मुसक्याइ।
सँग चलै तौ लै चलूँ, राजा की बेटी, लै चलूँ देस-विदेस जी।"

और राजकुमारी उसके साथ चली जाती है।

इसी सिलसिले में एक और गीत का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इसमें ननँद और भावज पानी भरने जाती है। ननँद वहाँ से लौटकर आती है और अपनी माँ से चुगली करती है कि उसकी बहू की आँखें एक नट के लडके से लग गई है। यह बात उसके पति तक पहुंचती है। पति उस नट का खेल अपने घर पर कराता है। खेल की समाप्ति पर पति अपनी स्त्री को उसे पुरस्कार स्वरूप दे देता है। वह नट के साथ चली जाती है। फिर—

लैगौ नटु भैंसा चढ़ाइ, जाइ उतारी अपने डेरनु बीच।
बैठ्यौ नटु गुदरी बिछाइ, जब सुधि आई राजाजी के पलंग की।
जब नटु लायौ टुकड़ा माँगि, जब सुधि आई राजाजी के थार की।
"अब चो रोबैरी गमारि, जब तौ रीझिए नटवा के छोहरा ॥"

इस गीत में स्त्री को पुरस्कार में देने की बात विशेष महत्व रखती है। यह सामाजिक विकास की उस आरंभिक स्थिति की घटना जान पड़ती है जब स्त्री को सम्पत्ति समझा जाता था। वह बेची भी जा सकती थी और उपहार में भी दी जा सकती थी।

सावन के तीसरे प्रकार के वे गीत हैं जिनमें पति चाकरी करने परदेश जाता है और स्त्री या तो रोकने का प्रयत्न करती है अथवा साथ चलने का आग्रह करती है। इन गीतों में प्रायः इस भाव की पंक्तियां मिलती हैं—

तिहारौ ढोला बुरौ रे सुभाउ, उठत जुबनु चाले चाकरी जी, महराज।
पकरी ऐ घोड़ा की लगाम, पकरि डुपट्टा ठाड़ी है गई जी, महराज।

किन्तु किसी-किसी गीत में सावन में अपने बाप के यहां जाती हुई स्त्री को भी इसी प्रकार रोकने का प्रयत्न दिखाया गया है—

तिहारौ गोरी बुरौ रे सुभाउ, लगत सामन चालीं बाप कें।
पकर्यौ ऐ डुलिया कौ बांसु, पकरि चीर ठाड़े है गए जी, महराज॥

किसी गीत में इस प्रकार विदा होते समय दोनों ओर से मजाक भी किया गया है।

इस प्रकार संक्षेप में ब्रज के सावन के लोकगीतों के प्राचीन रूपों का विवेचन किया गया। ऊपर दिए हुए सावन के समस्त गीत लेखक ने अस्सी-नब्बे वर्ष की वृद्धाओं से संकलित किए हैं। आज ब्रज में जो गीत गाए जाते है वे इनसे भिन्न हैं। इन गीतों में मल्हार चँदना आदि प्रसिद्ध है। इनका विषय प्रातः कृष्ण-चरित होता है। मल्हार का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

लै रह्यौ जमुना के तीर देखौ री मुकुट झोंका लै रह्यौ।
इक लंग झूलैं रानी राधिका,
औरु इक लग झूलैं घनस्याम। देखौरी० ॥

यह मल्हार की पहली कड़ी है। इस प्रकार की अनेक कड़ियाँ इसमें जोड दी जाती हैं। अधिकतर ऐसा होता है कि एक कड़ी में प्रश्न उपस्थित किया जाता है और दूसरी में उसका उत्तर रहता है, जैसे—

१—कौन बरन रानी राधिका, औरु कौन बरन घनस्याम?
२—गोरे बरन रानी राधिका, औरु स्याम बरन घनस्याम॥

इसी प्रकार के अन्य मल्हार और चँदने प्रचलित हैं। इनका रस तान, लय और संगीत में है। पुराने गीतों की अपेक्षा नये गीत अधिक परिष्कृत, सुष्ठु और व्यवस्थित हैं।

स्त्रियों के कुछ अन्य गीत

अब स्त्रियों के कुछ अन्य गीतों की चर्चा की जाएगी।

सदाचार-सम्बन्धी अनेक लोकगीत ब्रज में प्रचलित हैं। एक गीत में एक ननँद अपनी माँ से आकर चुगली खाती है कि उसकी भाभी की आँखे एक सक्का से लगी हुई हैं। यह बात वह अपने भाई से भी कह देती है। आगे की घटना गीत की अन्तिम पंक्तियों में देखिए—

भोरु भयौ, पौ फाटन लागी, औरु कुमर नें हरु जोतिए।
हरु लैकें जब चलि दियौ, औरु कमरि ते बांधी ऐ कटार।
"अम्मां रावेरौ कलेऊ भेजियौ, औरु भेजौ हमारी छाक।"
धन लै रे कलेऊ चलि दई, औरु पहुँची ऐं हर के पास।
"धनि रोटी धरि देउ लाइ, औरु सक्का के ऐ लेउ बुलाइ।"
पहली कटारी जब मारिऐ, धनि लै लई घुँघटा के बीच।
दूजी कटारी जब मारिऐ, धन लै लई छतियन बीच।
तीजी कटारी जब मारिऐ, औरु तीजी कूँ तजे ऐं पिरान॥

इस कृत्य के पश्चात् पति पश्चात्ताप करता है। उसके ओठ सूखने लगते हैं। वह एक तेली की लड़की के पास पानी पीने जाता है। तेली की लड़की पूछती है—

"लाला कै तैंने हिरना मारिऐ, औरु कै कोई पंछी बिनासिए।"
उत्तर— 'भैना ना मैंने हिरना मारिए, ना कोई पछी बिनासिए।'
साजन बेटी बिना सए, औरु द्वै ते है गए एक।
मात-पिता कौ कहनों मानिए, औरु पूछी न धन की बात।'

इस बात पर वह पछताता है कि अपनी स्त्री से कुछ बात उसने नहीं पूछी और आवेश में उसे मार डाला।

खेल के गीत

खेल के गीतों में ननँद-भावज के सम्बन्ध की बहुत बातें आती हैं। ननँद अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की मिलती हैं।

एक सुन्दर स्वाभाव वाली ननँद के दर्शन 'बिजैरानो' की कथा में मिलते हैं। बिजैरानी रात को हाथ में दीपक लेकर अपने पति के पास 'अटरिया' में जाती है। पति से द्वार खोलने को कहती है। पति कहता है—"तुम पर-पुरुष के साथ हँसी थीं, अतः किवाड नहीं खोल सकता।" इस पर वह लौट आती है और आगे—

आईं धनि तन-मन मारि, टूटे झटोला परि रहीं जी।
त्वाकी ननँदिया पूछै बात, "आजु अनमनी बिजैरानी च्यों रहीं।"
"बीबी, तिहारे भैया असलि गमार, सार न जानी मेरे जीअ की जी।
"उठौ भाबी करहु सिङ्गारु, हाथ दिबलुऊ सँजोइये जी।"
आगें आगे ननँदरानो चलें, और पीछें पीछें बिजैरानी जायँ जी।
' खोलो भैया झँझन किंवार, बाहर भीजै है, भवज मेरी गोरी जी।"
"नाँइ खोलूँ झँझन किंवार, पराए पुरुष ते समल धन चौं हँसी जी।"
"जाकौ भैया जिही सुभाव, हँसिबौ तौ जाइगौ माल्यौनी[1] के जीअते जो।"
झटपट खोली ऐं किंबार, आंसू तौ पौंछे सूर[2] पेच[3] ते जी।
"लट छोंड़ि लागूँ तेरे पाइँ[4], गिरी रे छुहारे तिहारे मुख भरूँ जी।
नित उठि भेजुंगी बोर छटएँ महीना डलिया कोथरी जी।
साहिब मिलायौ ननँद मेरी तुम कर्यौ जी।"

इस प्रकार ननँद ने भाभी को उसके पति से मिला दिया।

खेल के इस प्रकार के गीतों का अपार भण्डार है। खेल के गोतों से तात्पर्य उन गीतों मे है जो कभी भी खेल या मौज में गाए जा सकते हैं। कुछ गीत ऐसे हैं जिनमें एक लडका किसी विजातीय कन्या से विवाह कर उसे ले आता है और उसका कारण देता है कि उसके माँ-बाप ने इतनी अवस्था तक उसे अविवाहित रखा।

---

१. मालवा की २. लाल ३. पगड़ी।

४ लट (बालों की लट) छोड़कर पैर लगना एक कहावत है। इसमें अधिक कृतज्ञता और दैन्य का भाव माना जाता है।

'धोबिन' नामक गीत में इसी प्रकार एक धोबिन से विवाह रचा गया है। अम्मां के पूछने पर लड़का उत्तर देता है—

जैयौ अम्मां तेरौ री राजु।
इतने बड़े तौ क्वाँरे च्यौं रहे जी महाराज ।।

खेल के अन्य गीतों में देवर-भाभी के प्रेम-परिहास का वर्णन भी मिलता है। इनमें अश्लीलता के मधुर पुट के साथ देवर-भाभी की प्रेम-प्यास, आँखों के फाँसे आदि का वर्णन मिलता है। यहाँ भाभी को माँ समझने वाला आदर्श नहीं है। एक गीत की तीन पंक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं—

छोटौ सौ दिवरा प्यारौ, चिरई उड़ावै रे।
चिरई उड़ामत प्यारे, परि गए फाँसे रे।
चिरई उड़ावै, मेरौ जिउ तरसावै रे।।

देवर के अतिरिक्त रसिक नायकों (यारों) से भी सम्बन्ध की बात अनेक गीतों में है। कुछ में सहेट-स्थल का भी वर्णन है। एक गीत में नायिका और उसके प्रेमी का वार्तालाप इस प्रकार मिलता है—

अइयौ ढोला लम्बे से बजार, नीबू नरङ्गी मेरे द्वार पै।
आयौ गोरी लम्बे रे बजार, कब कौ तौ ठाढ़ौ तेरे द्वार पै ।।

इनके अतिरिक्त अनेक गीत विरह के भी हैं। इन गीतों की भूमिका यह है कि पति चाकरी करने परदेस जाता है। स्त्री उसे जाने से रोकती है अथवा स्वयं भी उसके साथ चलने को कहती है। लेकिन पति अकेले ही चला जाता है। पीछे स्त्री अपने यौवन को सम्हाल नहीं पाती और उसका सम्बन्ध किसी दूसरे से हो जाता है। उसके गर्भ रह जाता है और यथासमय बालक का जन्म होता है। वर्षों बाद पति लौटने पर पत्नी को त्याग देता है। एक गीत की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार की हैं—

अवसर पर जब अन्य गीत गाए जा चुकते हैं तब चलते समय घर से बाहर जो गीत गाए जाते हैं उन्हें 'ढोला' कहा जाता है। इस शब्द की उत्पत्ति डा० सत्येन्द्र ने 'दोल' शब्द से माना है, जिससे ब्रज की 'डोलना' क्रिया बनी है। यही 'डोला' (अर्थात् चलते-चलते गाए जाने वाला) 'ढोला' हो गया[1]—

इस प्रकार के ढोलों का मुख्य विषय गहनों का विवरण होता है। कुछ वस्त्रों का भी वर्णन होता है। साथ ही उनमें जवानी का उमड़ता हुआ मस्त प्रेम भी रहता है। अंग-प्रत्यंग के उभार के साथ गहने कितना जुलम ढाते हैं, यह ढोले की इस पंक्ति से स्पष्ट है।

'गोरी तेरौ जोबनु उठ्यौ ऐ घनघोरि,
बिंदिया जुलमु करै मांथे की।

ढोले के निम्नलिखित गीत में वस्त्रालंकारों का वर्णन नख-शिख के विधान के साथ है—

तेरी माथे की बिंदिया सम्हारी न जाय।
तेरी बेंदी पलकना[2] पिरांन लिए जाय।
गोरी राति च्यों न आई, मेरौ दिल घबराय ।। (टेक)
तेरी माथे की पटिया[3] सम्हारी न जाय।
तेरी मांग की ईंगुर पिरान लिए जाय ।। (छल्लो राति च्यों न आई०)
तेरे नैनन कौ सुरमा सम्हार्यौ न जाय।
तेरी भौंह कटीली पिरांन लिए जाय ।। (गोरी राति च्यों न आई०)
तेरे दांतन का मिस्सी सम्हारी न जाय।
तेरी होटन की बीरी[4] पिरांन लिए जाय ।। (गोरी राति च्यों न आई०)
तेरी नारि कौ हरवा सम्हारौ न जाय।
तेरे बाजूबन्द मेरे पिरान लिए जाय ।। (गोरी राति च्यों न आई०)

---

१. सत्येन्द्र, 'ढोला: एक लोक महा काव्य', 'हंस', नवम्बर, १६४६।
२. माथे पर लगाई जाने वाली चमकनी बेंदी अथवा आड़।
३. बालों की पटिया।
४. पान की बीड़ी।

तेरे अङ्ग की चोली सम्हारी न जाय ।
तेरौ घुँघरू कौ नारौ पिरांन लिएजाय ।। (गोरी राति च्यों न आई०)
तेरे पाइन की पाइल सम्हारी न जाय ।
तेरे बिछुआ न्हइया[1] पिराँन लिए जाय ।। (गोरी राति च्यों न आई०)

इस प्रकार स्त्रियों के गीत-साहित्य पर एक दृष्टि डाली गई। जिन-जिन संस्कारों और उत्सवों से स्त्री-साहित्य का घनिष्ट संबंध है उनका दिग्दर्शन मात्र ऊपर कराया गया है। फुटकर गीतों में अनेक प्रकार के गीत हैं। इनमें होली के गीत अधिक प्रसिद्ध हैं। यहाँ उन प्रसिद्ध होली के गीतों को हम छोड़े देते हैं जिनका परिचय प्रायः मिलता रहता है। स्त्री-पुरुष होली खेलते समय कुछ 'साखियाँ' गाते है, जिनमे यौवन की उद्दाम तरङ्ग विद्यमान रहती है। साखियाँ दोनों ओर से गाई जाती हैं। स्त्रियों की दो साखियाँ इस प्रकार हैं—

१—अटा पै तेरे अटा पै ते, खिसली तोइ देखि अटा पै ते ।
मैनें तो जानी रसिया गोदी में लेगौ, टूट्यौ ऐ हाड़ु बरा पै ते ।।

२—अकेलौ बलमा रे, अकेलौ बलमा ।
घर में द्वै नारि, अकेलौ बलमा ।।
एक कहै मोकूँ गहनौ गढ़वाइ दै ।
दूजी कहै मेरौ डाटि जुबना ।।

अन्य गीतों में नाच के गीत, देवी देवताओं के गीत, न्यौरते के गीत, खेती-संबंधी गीत आदि अनेक गीत हैं। कुछ व्रतों पर कही जाने वाली कहानियाँ भी है, जिन पर पीछे विचार करेंगे।

पुरुष लोक-साहित्य

अब हम पुरुषों के गीत-साहित्य पर आते हैं। पुरुष-साहित्य

---

१. पैर की अँगुलियों में पहने जाने वाला एक आभूषण।

में एक प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें महाकाव्य की प्रवृत्ति मिलती है। स्त्रियों में महाकाव्य की प्रवृत्ति नहीं मिलती।

महाकाव्य

ब्रज में प्रचलित पुरुषों के चार महाकाव्य प्रसिद्ध हैं—१–ढोला, २–राँझा, ३–जाहरपीर (गुरु गुग्गा) और ४–मीरासाहब की लड़ाई। इनमें प्रथम दो महाकाव्य मनोरंजनार्थ गाए जाते हैं तथा शेष दो का सम्बन्ध धार्मिक अनुष्ठानों से है। पहले महाकाव्य की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। दूसरे में ब्रजभाषा तथा हरियाना की भाषा का मिश्रण है। तीसरे महाकाव्य की भाषा सधुक्कड़ी है, क्योंकि ब्रज की जोगी जाति के द्वारा यह गाया जाता है। चौथे की भाषा ब्रजभाषा तथा उर्दू, अरबी और फारसी के शब्दों का मिश्रण है, पर मिश्रण सधुक्कड़ी ढङ्ग पर किया गया है। इनमें से केवल पहले महाकाव्य के रचयिता के विषय में पता चलता है; अन्य तीन के मूल रचयिताओं का पता नहीं। ये चारों महाकाव्य गायकों के मुख में ही विराजते रहे हैं। अब इनके प्रकाशन की ओर ध्यान गया है।

ढोला

ढोला के आदि रचयिता का पता चल गया है। डा० सत्येन्द्र ने 'गढ़पति के गुरू' के द्वारा ढोले की रचना का अनुमान लगाकर कहा है कि "अधिक से अधिक इसका निर्माण ४०–५० वर्ष से अधिक पहले का नहीं है"।[१] पर इसके विस्तार और प्रचार को देखने से इसकी परम्परा और लम्बी जान पड़ती है। ब्रज का प्रत्येक ढोले वाला मङ्गलाचरण में नीचे की पंक्तियाँ कहता है—

> भगत मदारी बाबा देवी के प्यारे, तेरी कीरति कही न जाय।
> इन्द्रलोक ते उतरी अपछरा,

---

१. डा० सत्येन्द्र का 'हंस' मे उक्त लेख।

धरि डोला में तोइ परम धाम कूँ लै गई ॥

इसमें 'मदारी' का नाम आया है। इस मदारी के विषय में खोज करने पर पता चला कि यह लोहवन गाँव का रहने वाला था। यह आज से १३० वर्ष पहले हुआ, ऐसा मदारी की वंशावली से ज्ञात होता है। इस मदारी ने ३६० 'पहरी' बनाई थीं, जिनमें से ८० प्राप्त हो चुकी है। तब तक चिकाड़े का विकास नहीं हुआ था। तुरैये के साथ कान पर हाथ रख कर ढोला गाया जाता था। इस ढोले में ढोला-मारू की कथा ही थी। मदारी के शिष्य भवानी, गिरबर आदि हुए। इनके पश्चात दो प्रसिद्ध ढोलाकार हुए—राय-सीग के नगले का गढ़पतो तथा बरामनी खेरा (जि० मथुरा) का ननुआ। गढ़पती ने इसका समुचित विस्तार किया, उसने ढोलामारू की कहानी में प्रसिद्ध नलचरित्र को जोड़ दिया। वह चिकाड़े पर गाया करता था। ननुआ बड़ा तर्राट गवैया था। सुनते हैं मरने के समय भी उसने ढोला गाया था। मरने के पश्चात् श्मशान में भी उसका ढोला गाया गया। आज ब्रज के गाँव-गाँव में ढोला प्रचलित है।

राँझा

राँझे मे हीर-राँझा की लोकप्रसिद्ध प्रेमकहानी है। इस कहानी का रूप प्रेमगाथाकार कवियों की रचनाओं में मिलता है। इसको आज भी ब्रज के मुसलमान फकीर ही गाते हैं। यह भी चिकाड़े पर गाया जाता है। विस्तार भी इसका लगभग ढोले के बराबर है, पर प्रचार कम है। यह महाकाव्य नगरों में भी प्रचलित है।

जाहरपीर

इस महाकाव्य का आनुष्ठानिक महत्व है। इसका सम्बन्ध नाथ संप्रदाय से जोड़ा जाता है। गांवों की शैव जनता के

पुरोहित जोगी होते हैं, जिन्हें नाथ' भी कहते हैं। इन जोगियों के पास जो साहित्य है उसमें गोरखनाथ और जाहरपीर से सबधित साहित्य अधिक है। जाहरपीर की रचना भी संभवतः गोरखनाथ की महत्ता दिखाने के लिए ही की गई है। इनके पिता जेवर, जिनकी रानी बच्छल थीं, निपुत्री थे। दोनों गोरख के भक्त थे, जिनके आशीर्वाद से जाहरपीर का जन्म हुआ। जाहरपीर को गूगा भी कहा जाता है। जाहरपीर ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इनका उल्लेख टाड, माल्कम और ईलियट ने भी किया है। जाहरपीर के मंगलाचरण की दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> गुरु गेला गुरु बावरा, तौऊ करै गुरू की सेवा हो।
> चेला गुरु ते अति बड़ौ, तौऊ करै गुरू की सेवा हो॥

इसमें गुरु की महत्ता है। नीचे इसी महाकाव्य की कुछ और पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं, जिनसे इनके दोनों धर्मों द्वारा पूजित होने और 'बादशाह' को अपने चमत्कार से चमत्कृत करने की बात स्पष्ट हो जाती है—

> बाछलि कौ पूत, बाजन कूँ भूत, परचे की खातिर धायाई ऐ।
> अजी हिन्दू-मुसल्मान दोनों दान धामें, बास्याह चों नहि आयाई ऐ।
> गुसा भया बागर कोई नारा, जब घोड़ा सजवायाई ऐ।
> घोड़ा मागि गयौ दिल्ली कूँ, बस्याह जगायाई ऐ।
> अजी लाल पलक पै सौवे बादस्याय, पलके ते औंधा मार्याई ऐ।
> अजी दौरी आई बास्याह की अम्मा, 'कौनें मरद सतायाई ऐ'।
> पांच मौर और एक नारियलु, पीर जी कौ पजौ उठायाई ऐ।
> जब मेरौ मलिकु महार करै, सबु कुनबा जारति आयाई ऐ।

इन पंक्तियों से गांव के जोगियों की सधुक्कड़ी भाषा का भी पता चल जाता है। जाहरपीर की ब्रज में 'ज्योति' होती है, जिससे मनोकामना की पूर्ति होती है।

मीरासाहब—

इस नाम के शैव जोगियों का अध्ययन बड़ा मनोरंजक है। इनमें अनेक तत्वों का सम्मिश्रण मिलता है। 'मीरासाहब'

नामक महाकाव्य में शैव तत्व की प्रधानता रहती है। देवी की भेंट में उसे गाते हैं। गायक शैव या शाक्त होते हैं। 'मोरा साहब की लड़ाई' भी वे ही गाया करते हैं। इसमें मुसलमान फकीरों का प्रभाव भी मिलता है। इन 'मोरासाहब' का ऐतिहासिक परिचय पूर्णरूपेण प्राप्त नहीं हो सका। पर इस काव्य में इनका किसी चौहान राजा से युद्ध होना वर्णित है। नीचे इस महाकाव्य की कुछ पक्तियां उद्धृत करते है, जिससे इसकी भाषा और शैली का परिचय मिल जाएगा—

मक्के मदीने में चढ़ा तवा।
फाटि जाय कूंडी टूटि जाय तवा ॥
पाक कदरि बेली पाक ऐ, पाक साईं तेरा नाम।
पाक साईं के ये कलमा, कलमों से उतरौगे पार ॥
कुंजी कलम कुरान की, कलमा मुल्क का नीर।
पात-पात पै लिख गए बाबा नबी रसूल ॥
पच्छिम सुमिरूँ ईसुरी, धुर पूरब साह मदार।
गढ़ मैटनी का समरूँ औलिया. अगड़े का कमाल खाँ पीर ॥
पार बिहगना बरियौ, जाको हाथी रह्यौ बल खाय।
लीले वारा छावड़ा झुकि बैठ्यो जाहरपीर ॥

आल्हा

इसी प्रकार का एक लोक-महाकाव्य आल्हा भी है। आल्हा ब्रज में खूब प्रचलित है। इसमे पूर्वी प्रभाव स्पष्ट है। आल्हा का सम्बन्ध एक साहित्यिक कवि जगनिक से है। साहित्य-मर्मज्ञ इस महाकाव्य से अच्छी तरह परिचित हैं। इसमें मानवेतर शक्तियों का भी परिचय मिलता है। युद्ध के साथ चुड़ैल, कलुआ आदि के नाम जुड़े हुए हैं। नीचे की पंक्तियां देखिए—

बावन बीर और छप्पन कलुवा, चौंसठ जोगन और मसान।
भैरौ छूटे सोटा लैकैं, लकड़ पीकें मद की धार ॥
वीर महमदा की चौकी हैं, सैयद बरैना और सुलतान।
चोकी छोड़ि दई वीरन की,नारसिंह को दिया डटाय ॥

अली गली की छुटी चुड़ैलें, डाकन साकन और मसान।
चली मसान चौराहे की, जिंद परी वो बड़ी बलाय ॥

खंडकाव्य

पुरुषो के लोक-साहित्य में दूसरा स्थान खंडकाव्यों का है। खंडकाव्य दो प्रकार के हैं—एक साधारण मनोरंजन और उत्साह के लिए तथा दूसरे आनुष्ठानिक। साधारण मनोरंजन के खंडकाव्यों में 'अमरसिंह कौ पमारौ', 'जयमल फत्ते सिंह कौ पमारौ' तथा 'जवाहरसिंह कौ पमारौ' है। यहाँ 'पमारौ' शब्द महत्वपूर्ण है। इसका अभिप्राय वीरता तथा जोखमपूर्ण कार्य से है। इसमें नायक के जीवन की किसी घटना-विशेष का ही वर्णन मिलता है, जैसे अमरसिंह का आगरे का युद्ध या जवाहरसिंह (भरतपुर) की दिल्ली की लूट। इस प्रकार के खंडकाव्य विशेषतः ब्रज के कुम्हारों और धोबियों में प्रचलित हैं।

आनुष्ठानिक खंडकाव्यों में 'ज्वाला जी की जुज्भु,' 'गङ्गा ब्याहुलौ,' 'सीताजी कौ ब्याहुलौ' आदि प्रसिद्ध है। ज्वालाजी के युद्ध में दुर्गा द्वारा राक्षसों के बध की कथा मिलती है। अन्य दो का सम्बन्ध विवाह-संस्कार से है। विवाह के समय दोनों काव्यों को चमारों के 'भगत' गाया करते है। ये खंडकाव्य भी पहरियों में विभाजित होते हैं। मृदंग और मंजीर के साथ ये गाए जाते हैं।

तीसरे प्रकार के खंडकाव्य माँगने वालों (मँगतों) द्वारा गाए जाने वाले होते हैं। भैरव को पूजने वाले 'भोपा' बैन के साथ 'नरसी के भगत' को गाते हैं। कभी-कभी 'गोपीचन्द' गाते हैं, जिसमे गोपीचन्द के योगमार्ग में दीक्षित होने की बात है। 'बिसुन-देवा' (जाड़ों में मांगने वाले) श्रवणकुमार के चरित्र का गायन करते हैं। इस प्रकार के खंडकाव्यों का ब्रज में प्रचुर साहित्य प्राप्त है।

स्फुट काव्य

अब हम पुरुषों के स्फुट साहित्य को लेते हैं। इसमें अधिकांश भजन है। ब्रज में भजन दो प्रकार के अधिक गाए जाते हैं—१. समाजी भजन तथा २. रस्याई के भजन। इन दोनों की संख्या बड़ी है।

रस्याई के भजन केवल होली पर गाए जाते हैं, पर समाजी भजन किसी भी अवसर पर गाए जा सकते है। तीसरे प्रकार के भजन भक्तिमूलक हैं, जिनमें सनेहीराम, शिवराम आदि ब्रज के लोक-कवियों के भजन आते हैं। भजन-साहित्य के अतिरिक्त होलियाँ भी ब्रज में प्रचलित हैं। होलियाँ बनाने वाला आगरा जिले का पतोला बहुत प्रसिद्ध है। इस स्फुट लोक-साहित्य के अतिरिक्त विस्तृत लोकोक्ति साहित्य भी हैं, जिसमे मानव के स्वाभाविक पारस्परिक ज्ञान की अमूल्य निध निहित है। कुछ मंत्र-साहित्य भी है, जिसका संबंध अभिचार और तंत्र से जोड़ा जा सकता है। साँप बिच्छू आदि से काटे जाने की चिकित्सा से संबंधित अपार साहित्य ब्रज के 'बाइगी' (विशेषज्ञ) लोगों के पास है।

रस्याई के भजन

रस्याई के भजन होली के त्यौहार से सम्बद्ध हैं। इन भजनों को गाँव-गाँव में प्रतियोगिताएँ होतो हैं। इन प्रतियोगिताओं को 'डोल' कहते हैं। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि लोक-मस्तिष्क की पुराणों की ओर जो रुझान हुई उसका ही प्रतिफल ये भजन हैं।

इन भजनों के आरम्भ-कर्त्ता चार लोककवि माने जाते हैं—हन्ना (हरनाम), हरिफूला, सोभाराम और गनेसा प्रायः चारों ने ही भागवत और महाभारत की कथाओं को अनूदित किया है। उक्त चारों भजनकारों के नाम पीछे के एक लोककवि की रचना में

आए हैं। यह गाहे का भी उदाहरण है, जो भजन का पूर्व भाग है। रचना इस प्रकार है—

> हरिफूला की कथनि करी ओझा नें माटी।
> बलुकरि बांधै फैंट चढ़ाइ लई ऊँची आंटी॥
> हरनाम बखानै देसु।
> इनके आगें सबु पसुमुल्ली सोभाराम-गनेस॥

इनके पश्चात् लोहवन के स्यामसुन्दर, प० रोशनलाल और नाथूराम के नाम उल्लेखनीय है। धीरे-धीरे गाँव-गाँव इन भजनों के रचयिता उत्पन्न होते गए।

यहाँ भजन की एक कड़ी दी जाती है, जो लोहवन—निवासी स्यामसुन्दरजी के रास-संबंधी भजन से ली गई है—

> सुनौ सरङ्गी की गति न्यारी।
> डिडिडांग डिडिडांग बजै सितार जहँ, सारङ्गी बजै सन सननन।
> छुपक-छुपक छैना मँजीरा बाजैं, पग पाइल की घोर झन झननन।
> धरिकें ध्यान बिसंबर देखें, सङ्कर सोचत मन में।
> चलि रास रच्यौ वा बन में॥

सनेहीराम के भजन

सनेहीराम मथुरा जिले के माँट गाँव के रहने वाले थे। कहते हैं कि ये पहुँचे हुए भक्त थे और वृन्दावन में नित्यप्रति बाँकेबिहारी के दर्शन करने जाया करते थे। वह उच्च कोटि के कवि और गायक थे। जीवन के व्यस्त क्षणों में कुछ समय वे ऐसा निकाल लेते थे जिसमें अपनी काव्य-प्रतिभा का द्योतन गीतों में कर सकें। ब्रज के वृक्षों का यथार्थ एवं सरस वर्णन उनकी निम्न पंक्तियों में मिलेगा। यह उनके भजन की एक कड़ी है—

> कोई कोई बेरिया अमर बेलि छाइ रही।
> कारे मुख वारी सो बिरमि सुखु पाइ रही।

पकन लिसारे जब खूब छवि छाइ रही ।।
प्रात के समैया जामें कोकिल करत सोर ।
भांति-भांति पछी बोलें चित्त हू मे लागें चोर ।।

मन्त्र साहित्य

ब्रज में मन्त्र अनेक प्रकार के पाए जाते है। साँप-संबंधी मन्त्रों का तो अपार भण्डार है। मत्रों के अतिरिक्त राजा परीक्षित् की कथा भी लोक-निर्मित रूप में साँप की चिकित्सा के लिए पद्य-बद्ध करा ली गई है। इसमें नागराज बासुकि की एक पुत्री नवलदे को कल्पना की गई है। वही परीक्षित् और नागों की लड़ाई का कारण होती है। इस सबध मे जो राग गाए जाते हैं, विषय के अनुसार उनके नाम बिमहर, भन्नो, खून, सारके, सुमिरिनो, धूपैरा आदि हैं। इनमें से केवल एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

सुरसुती माता तू जग दैनी, हंस चढ़े लटकावै बैनो।
तेरे चेला लाख सै साठि, विद्या माँगें हात पसार।
खेती करैं न बंज कूँ जाइँ, विद्या के बल बैठे खाइँ।
अहो कि विद्या महा कमाई, कृष्न मेरे भाई, जैसे बन के राई।
झरना झरै बिसु मक्के जाई।
दुहाई महमदा दीन की ।।

इन मत्रों पर मुस्लिम, नाथपथ तथा तंत्रों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

लोकोक्ति साहित्य

लोकोक्तियों के विभिन्न रूप ब्रज में जनपद मिलते हैं। इनमें मनुष्य-समाज के सहज स्वाभाविक अनुभवों का अपार भंडार मिलता है। लोकोक्तियों को ज्ञान के उपयोगी सिक्के कहा जा सकता है, जिनसे लोक-जीवन-व्यापार सुचारु रूप से चलता है। अनुभवों से ये सिक्के पुष्ट रहते हैं। नीतिमूलक सूत्र-शैली लोकोक्तियों की विशेषता है। यह शैली उपनिषद्-युग से मिलने लगती

है। सारे बौद्ध तथा जैन साहित्य में इसकी झलक है। 'चाणक्य-सूत्र' नामक ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है, जिसमें कौटिल्य की व्यवहार-नीति घनीभूत रूप में प्राप्त है। इसी प्रकार की नीतिमूलक परम्परा बोलियों मे मिलती हैं। इन अमूल्य रत्नों की आभा से ब्रज का लोक-साहित्य भी जगमगाता है। सार्वभौमिकता इन कहावतों की मुख्य विशेषता है। इनके अध्ययन से एक व्यापक सांस्कृतिक एकता का पता चलता है। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

नीतिमूलक

१—खेती. पाती मीनती, और घोड़ी कौ तंगु।
अपनेई हात सम्हारिए, चाएँ लाख लोग होइँ सङ्ग॥
२—परहत बज सँदेसें खेती, बिन देखें जे ब्याहें बेटी।
पर घर गाड़े रकमी, चार्यौ नर पीटे छत्ती॥

घोड़े की पहिचान

तीनि पांइ होइँ एकु से. एक पाउँ होइ सेत।
कैतौ वाकौ धनु हरै, कै गुरु भरै निकेत॥

वर्षा सम्बन्धी

१—पून्यौ परिवा गाजै, दिना बहत्तर बाजै।
२—सबेरे कौ मेहु. और साझ कौ महमान, टारे नाएँ टरत।

जाति सम्बन्धी

ठाकुर मरै ठसक के ऊपर, लोधौ करकट कूरे पै।
ऊजरु देखिकें गूजर नाचै, जाटु मरैगो बूरे पै॥

इस प्रकार की अन्य अनेक कहावतें ब्रज में प्रचलित है। लोकोक्ति-साहित्य की कुछ और शैलियां भी मिलती हैं। इनमें खुंसि, ओटपाइ, ओलना और भेरि प्रसिद्ध हैं। उदाहरण—

(१) खुंसि

एक तौ जि लँगड़ी घोड़ी, दूजे जामें चाल थोरी ।
तीजे जाकौ फट्यौ जीन, एक खुंसि में खुसि तीनि ।।

(२) औटपाइ

कुआ पै न्हाइबे गई, लटकाइ लीए पांइ ।
पीठि मिड़ावं सौति ते, जे मरिबे के औटपाइ ।।

(३) ओलना

दै मिठ बोला नारि निबाहै सङ्ग कूँ ।
प्यारु निभावै अति घनौ मीड़ै अङ्ग कूँ ।।
मारें ते हँसि जाय करै नहि ओलना ।
इतनौ दै करतार फेरि नहिं बोलना ।।

(४) भेरि

लौहरी बहन बड़ी कें गई, बानें ब्याते जीजा कही ।
बानें ठेलि बगल में दई, गडुआ गढ़त भेरि है गई ।।

लोरीगीत

लोरी-गीत संसार मे सर्वत्र पाए जाते हैं। लोरियों के दो प्रकार है—एक तो छोटे बच्चों को सुलाने के समय के गीत, दूसरे बच्चों के खेल के गीत। इनमें विधि-विधान बहुत कम रहता है। ब्रज का एक शिशु-गीत इस प्रकार है—

लाला लाला ललना ।
तखरी कौ पलना ।।
तखरी गई टूटि ।
लाला गयौ रूठि ।।
तखरी गई बनि ।
लाला गयौ मनि ।।

कबड्डी खेल के गीत की कुछ पंक्तियाँ—

कबड्डी तीन तारे, हनूमान ललकारे।
बच्चा तोई से पछारे॥

बाल-साहित्य की प्रचुर सामग्री ब्रज में उपलब्ध है। इसी के अन्तर्गत 'टेसू' और 'झांझी' के गीत हैं। बाल-साहित्य में पहेलियां का भी महत्वपूर्ण स्थान है। पहेलियों में कुछ तो कथामूलक हैं, जिनके विषय पौराणिक कथाएँ होती हैं।

व्यंग्य गीत

ब्रज के बाल-साहित्य में एक और प्रकार की शैली मिलती है। इसमें किसी व्यक्ति-विशेष को चिढ़ाया जाता है। यह विचित्र साहित्य है। किसी घुडसवार को चिढ़ाने के लिए बालक ये पंक्तियाँ कहते हैं—

घोड़ा वारे ज्वान, तेरे मूँसे के से कान।
आप खाय खीचरी, बहू के खैंचै कान॥

प्रौढ़ पुरुषों में भी 'अनमिल्ला' नाम से एक विचित्र साहित्य पाया जाता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका कोई अर्थ नहीं होता। किन्तु अनमिल्लापन इस कोटि तक पहुँच जाता है कि हास्य बन कर हृदय को प्रभावित करता है। उदाहरण—

१—पह इ पते कोल्हू सरकौ, मैंने जान्यौ बेरिया कौ बेर।
पूँछ उठाइकें देखै तौ, दिवारी के तीनई दिना॥
२—गोरी के नैंना ऐसे बने, जैसें बर्ध कौ सींगु।
घरस घूरे में गाड़ि दीए, ऐसो-तैसो रे तेरी कुम्हरा॥

ब्रज की लोक-कहानियां

ब्रज का लोककहानी साहित्य बहुत समृद्ध है। ये कहानियां लोक-जीवन की प्रत्येक अवस्था से चिपकी हुई हैं। बच्चों की छोटी कहानियों से लेकर वृहत् कथाओं वाली असंख्य कहानियां ब्रज में प्रचलित हैं। एक नन्ही कहानी का नमूना यह है—

एकु राजा ओ। वाकौ बेटा ताजा ओ। वाकी भैनि टिपनी ई। वाकी नाक इतनी ई।

बस हो गई कहानी। बड़ी से बड़ी कहानी भी हैं, जो ३०-३२ घंटों में समाप्त होती है!

ब्रज की लोककहानियां के कई वर्ग हैं। पहले देवी-देवताओं की कहानियां आती है, जो काफी प्रचलित हैं। इनके उदाहरण है—'नारद और भगवान कौ खेल'[1] तथा 'गौरा-पारबती'-संबंधी कहानियां। इनमें 'कर्म-लच्छिमी को बादु'[2] भी उल्लेखनीय है। दूसरे वर्ग की कहानियां वे है जिनमे लोकोत्तर नायकों के चरित्रों का अलौकिक चित्रण मिलता है, जैसे—राजा बीर विक्रमाजीत तथा राजा भोज की कहानियाँ। तीसरे प्रकार की कहानियां चमत्कारपूर्ण होती हैं। इनमें योग, जादू अथवा करामात का कथन रहता है। चौथे वर्ग में वे कहानियां आती हैं जिनका नायक अनाम रहता है। उसका स्थान भी अनजान रहता है। किन्तु उनमें प्रेम का तत्व अक्षुण्ण होता है। किसी स्वप्न-सुन्दरी अथवा विश्रुत-सुन्दरी से नायक का प्रेम होना, उसकी प्राप्ति में कठिनाइयां, उनको पार करके सुन्दरी की प्राप्ति, यही इस कहानी के विधान होते हैं। पांचवे प्रकार की कहानियों को 'बुझौअल' कह सकते हैं। इनके आरम्भ में किसी समस्या का उल्लेख होता है, फिर उसका समाधान ढूँढा जाता है। अथवा किसी लोक-नीति का समर्थक दृष्टान्त उपस्थित किया जाता है।

छठें वर्ग के अन्तर्गत वे कहानियां आती हैं जो स्त्रियों के व्रतों-अनुष्ठानों और 'नहानों' से सबंधित है। व्रत की कहानियों में भैयादूज, नागपंचमी, करवाचौथ, ओघद्वादशी आदि की कहानियां

---

१. द्रष्टव्य 'ब्रज की लोककहानियां,' सम्पादक सत्येन्द्र, प्रकाशक ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा, सं० २००४, पृ० ३-४।

२. वही, पृ० ५-८।

आती हैं। आनुष्ठानिक कहानियों में ऋषिपंचमोकी कहानी सम्मिलित है। नहान सबमें मुख्य कार्तिक का होता है। इस नहान का संबंध मुख्यतया अविवाहित कन्याओं से है। कार्तिक की इन कहानियों में एक कहानी 'बरन बिन्दाक' है, जिसका मूल वेदों में वरुण देवता की कल्पना में मिलता है। कहानी के मुख्य तत्व इस प्रकार हैं—

"राजा की बेटी। फलों से तुलती। कार्तिक स्नान करती, पर बरन बिदाक की कथा नही सुनती। बरन बिंदाक का क्रोध। एक दिन पानी में राजा की बेटी का पैर छूकर उसे लांछित कर दिया। प्रार्थना करने पर देवता ने कहा—"काले कपड़े रँगा कर तू और तेरा भैया धारा नगरी को सबका उपहास सहते हुए जाओ। वहाँ पत्थर के किवाड़ों को खोल जल-घड़े और ध्वजा प्राप्त करो। वापस आकर मुझ पर ध्वजा चढ़ाओ। कपड़े श्वेत हो जाएँगे। कलंक छुटजाएगा।"

ऋग्वेद में वरुण देवता का सम्बन्ध चरित्र और नैतिकता से है। अविवाहित कन्याओं की चारित्रिक शुद्धता का प्रतीक वरुण है। वह रात्रि का देवता है। कहानी में वरुण द्वारा काले वस्त्र पहनाया जाना तथा उनका धीरे-धीरे श्वेत हो जाना संभवतः इस कहानी के वैदिक सूत्र की ओर इंगित करता है।

उक्त धार्मिक कहानियों के अतिरिक्त जातियों की कहानियां (कोली, जाटों आदि की), हास्य की कहानियां (लाल बुझक्कड़ों आदि की), चुटकुले और परसोकले भी प्रचुर संख्या मे प्राप्त हैं। एक और प्रसिद्ध कहानी है, जिसे 'सोरङ्गा' या 'सोलङ्गा' कहते हैं। कई कहानियां तो सार्वभौमिक जान पड़ती हैं। श्री कृष्णानंद गुप्त[१] तथा डा० सत्येन्द्र[२] ने कुछ कहानियों के सार्वभौमिक रूप पर विचार किया है।

---

१. बुन्देलखण्ड की ग्राम कहानियाँ, भूमिका।

२. ब्रज की लोक कहानियाँ, भूमिका।

डा० सत्येन्द्र ने लेखक द्वारा संकलित 'यारु होइ तो ऐसो होइ' शीर्षक कहानी का अध्ययन विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है[1]। इस कहानी को उन्होंने वैदिक इन्द्र, सरमा, वृत्र, पणि और अग्नि की कहानी का लोक-रूप बताया है।[2] 'सोरङ्गा' तथा 'परसोकला' भी ब्रज की अपनी कहानियाँ प्रतीत होती हैं। किन्तु इस प्रकार की कहानियाँ अभी तक किसी संग्रह में नहीं प्रकाशित हुईं।

सोरङ्गा

सोरङ्गा में एक विशेषता यह है कि उसमें आने वाले कथनोपकथन पद्य में होते हैं, शेष कहानी गद्य में होती है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें एक जन्म की नहीं, जन्म-जन्मांतरों की कहानियाँ होती हैं। वैसे यह प्रेम-कहानी ही है। इसके कथनोपकथन का एक दोहा इस प्रकार है—

> नँदिया होइ जाइ पाटिए, कोई समदु न पास्यौ जाइ।
> कागदु होइ जाइ बांचिए, कोई करमु न बाँच्यौ जाइ॥[3]

परसोकला

परसोकला की पृष्ठभूमि बहुधा भावात्मक होती है। अथवा उसमें किसी एक उक्ति का चमत्कार रहता है। ये छोटे होते हैं। इनका उपयोग निम्न वर्ग की पंचायतों में भी होता है। एक परसोकला है, जिसमें एक भौंरा भस्म में लिपट रहा है। चार सखियाँ इसका कारण अलग-अलग बताती हैं। अन्तिम सखी इस भस्म-रंजित होने का कारण यह बताती है—

---

१. 'ब्रजभारती', वर्ष २ सं० ५-६-७।
२. 'प्रतीक', अङ्क २, 'लोकवार्ता की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि'।
३. इतवारी सक्का से सुना हुआ सोरङ्गा।

जब पजरी ई केतकी, भौंरा नाग्रौ सङ्ग।
भौंरा जाई विरोग[1] मे, भसम रमावै अङ्ग ।।

इसको भावात्मकता द्रष्टव्य है। परसोकलों का सबध आज कल विशेषतः धोबी-कुम्हारों से है। इन दोनों की शैली में जानपदीय तत्वों की प्रचुरता मिलती है।

बुझौअल

कुछ कहानियाँ बुझौअल की है। आरम्भ में कोई समस्या उठा दी जती है। उस समस्या का समाधान एक कहानी द्वारा किया जाता है। इस प्रकार की कहानियों का सग्रह बुलाकी नाऊ और गङ्गाराम पटेल की कहानियों की पुस्तक में है। गाँवों मे इस प्रकार की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं, जैसे–गिलहरी के ऊपर धारियाँ क्यों हैं? इसका समाधान एक कहानी द्वारा किया जाता है जिसमें बताया गया है कि रामचन्द्रजी ने सीता की खोज के समय गिलहरी पर अपना हाथ रख दिया था, जिससे धारियाँ बन गईं। 'कौए की एक आँख क्यों है?' 'निन्यानवे का फेर क्या है?' आदि अनेक ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें किसी न किसी समस्या को विशेष ढङ्ग से सुलझाया गया है।

गीति कहानियाँ

ब्रज के बालकों को कहानियों में ये सबसे अधिक लोकप्रिय है। इनमें विचित्रता यह है कि कहानी गद्य में चलने के पश्चात् वह एक लयात्मक शृंखला में पुनरावृत्ति करती चलती है। जैसे—एक कौवा कही से एक चना ले आया। वह उसे एक ठूँठ पर रखकर खाने बैठा। ठूँठ उस चने को निगल गया, इस पर कौआ बढ़ई के पास जाकर रोया—

---

१. वियोग।

बढ़ई बढ़ई ठूँठ उखारि ।
ठूँठ चन्ना देइ ना, मैं चब्बूँ का ?

बढ़ई ने मना कर दिया। फिर वह राजा के पास जाकर रोया—

राजा, राजा, बढ़ई मारि।
बढ़ई ठूँठ उखारै ना।
ठूँठ चन्ना देइ ना। मै चब्बूँ का ?

जब राजा ने भी उसकी नहीं सुनी, तो वह रानी के पास जाकर रोया—

रानी, रानी, राजा तें रूठि।
राजा बढ़ई मारै ना।
बढ़ई ठूँठ उखारै ना।
ठूँठ चन्ना देइ ना। मै चब्बूँ का ?

इस प्रकार कहानी चलती है। इस शैली की अनेक कहानियाँ ब्रज में प्रचलित हैं। अन्य जनपदो में भी इस शैली की कहानियाँ प्रचलित हैं और बालकों में अत्यन्त लोकप्रिय है।

ब्रज के कुछ प्रमुख लोकनाट्यकारों तथा लोक-गायकों का नामोल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ब्रज के विभिन्न भागों में फैले हुए इन महानुभावो की संख्या बहुत बडी है। हाथरस इस दिशा मे अग्रगण्य है। वहाँ के जिन लोगों ने लोकसाहित्य के निर्माण एव प्रसार मे योग दिया है उनमें मुरलीधर पहलवान, हरनामसिह, बासमजी, मुरलीधरजी, इन्दरमन, चिरञ्जीलाल, नथाराम, लल्लू भजना, बलराम, शेरसिकन्दर, होतीशर्मा, अतराम, जिदगुरु, नत्थासिह, बुद्धी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से कई अच्छे गायक हैं और उनकी मंडलियाँ इस काम को आगे बढ़ा रही हैं। हाथरस के स्वाँग-सङ्गीत तथा रसियों के प्रमुख अखाड़े ये हैं—अखाड़ा निष्कलक, बासम, इन्दरमन, लल्लू भजना का अखाड़ा, अखाड़ा तकिया, हलवाईखाना, टीका घासीराम, विप्र अखाड़ा, आँधा-धाँधी, कारी

पलटन वाला तथा खेरे वाला। ये अखाड़े लोक-साहित्य के महत्व-पूर्ण गढ़ हैं।

मथुरा, वृन्दावन, बरसाना, गोवर्धन, आगरा, भरतपुर आदि में लोकगीत-गायकों की अनेक मंडलियाँ हैं। मथुरा के श्री आनंद-बिहारी तैलंग न केवल स्वयं एक अच्छे लोकगीत-गायक हैं बल्कि उन्होंने अपने छात्रों में भी इस ओर रुचि पैदा की है। बरसाना गोवर्धन तथा ब्रज के अन्य स्थानों की लोकगीत-मंडलियाँ बाहर काफी प्रसिद्धि पा चुकी हैं।

सौभाग्य से ब्रज के लोक-साहित्य की ओर विद्वानों और शोध-कर्त्ताओं का ध्यान गया है। सर्वश्री रामनरेश त्रिपाठी, सत्येंद्र, देवेन्द्र सत्यार्थी, चन्द्रभान रावत, चुन्नीलाल 'शेष', भगवान-सिंह 'विमल', बालमुकुन्द भारद्वाज, मोहनस्वरूप भाटिया आदि ने साहित्य-सङ्कलन के अतिरिक्त उस पर वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किए हैं। ब्रज साहित्य मण्डल ने डा० सत्येंद्र द्वारा संपादित 'ब्रज की लोक-कहानियाँ', 'ब्रज लोक-संस्कृति', 'ब्रज का लोक साहित्य' आदि कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं। सत्येंद्रजी की पुस्तक 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन' इस विषय पर महत्वपूर्ण प्रकाशन है। 'मण्डल' की मुख पत्रिका 'ब्रजभारती' में लोकसाहित्य-विषयक खोज-पूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। 'सम्मेलन पत्रिका', 'आजकल', 'सा० हिंदुस्तान', 'हलचल' (सं० शांतिचरण पिंडारा) आदि पत्रों ने भी समय-समय पर उपयोगी सामग्री प्रकाशित की है। आकाश-वाणी के दिल्ली तथा लखनऊ केंद्रों से ब्रज के लोक-साहित्य-विषयक विविध कार्यक्रमों का प्रसारण बराबर होता रहता है। आकाश-वाणी का योग वस्तुतः सराहनीय है। उत्तर प्रदेश शासन ने हाल में एक लोकसाहित्य-समिति की स्थापना की है, जो अन्य जनपदों के साथ ब्रज के लोक-साहित्य पर भी अनुसंधान एवं प्रकाशन का कार्य कर रही है।

परिशिष्ट १

मथुरा के चौबे

ब्रज में चौबे (चतुर्वेदी) ब्राह्मणों का उल्लेखनीय स्थान है। इनकी उत्पत्ति तथा प्राचीन इतिहास विवादग्रस्त है। ब्रज की ग्रामीण जनता तथा मथुरा नगर की अनेक जातियों के रीति-रिवाजों में मुख्य-मुख्य बातों में समानता पाई जाती है। परन्तु मथुरा के चौबों के कुछ आचारों में वैचित्र्य के दर्शन होते हैं। इनमें कड़ुए और मीठे दो भेद हैं। कड़ुए चौबों की वर्तमान संख्या कुल १०-११ हजार होगी। इनमें से लगभग ६ सहस्र तो देश के अनेक स्थानो पर प्रवास कर रहे हैं और शेष मथुरा नगर में विराजते है। मीठे चौबो की कुल सख्या कड़ुओं से कई गुनी है। मथुरास्थ चतुर्वेदी गणों का अधिकांश ब्राह्मण वृत्ति मे अपना निर्वाह करता है। ये लोग ब्रज की अन्य जनता की भाँति प्रायः साधे-सादे और रूढ़िवादी हैं। इनमें एक साथ रहने की प्रथा है, अतएव नगर मे इनकी आबादी के मुहल्ले एक-दूसरे से मिले-जुले है। ब्रज के देहाती क्षेत्रों में इनका एक भी घर नहीं है। चौबों का प्रातः-साय बगीचियों में जाकर कसरत करना और कुश्ती लडना तथा भोजन में दुग्ध-घृत और मिष्ठान्न सेवन करना प्रसिद्ध है। इनमें पहले कई अच्छे पहलवान हो चुके है। शास्त्रीय और लोक-सङ्गीत में भी इनकी रुचि है। चौबों के कुछ विशेष सस्कार ये है—

उपनयन

लड़कों का उपनयन-संस्कार यहाँ प्रायः आठ वर्ष के भीतर ही हो जाता है। संस्कार के एक दिन पहले लड़का सुन्दर जलूस के साथ घोड़ी पर बैठ कर क्षेत्रपाल-पूजन को जाता है। उपनयन के अवसर पर लड़के को संबंधियों द्वारा भिक्षा में अन्न वस्त्र, आभूषण

आदि मिलते हैं। इसमें से बहुत सा सामान पुरोहितजी ले जाते हैं। समावर्तन कर्म भी इसी दिन हो जाता है। काशी पढ़ने जाने की महज रस्म अदा कर लीजाती है।

विवाह

यहाँ के चौबों का वैवाहिक संबंध मथुरा ही में होता है। 'मथुरा की बेटी गोकुल की गाय, करम फूटे तो बाहर जाय', वाली लोकोक्ति इसी समाज पर फिट बैठती है। एक ही स्थान तथा संकुचित दायरे में विवाह-संबंध होने के कारण इनमें बालविवाह तथा बदले के विवाह की कुप्रथाएँ प्रचलित हैं। अब समाज का शिक्षित वर्ग इन कुप्रथाओं को समाप्त करना चाहता है और इसमें काफी सफलता प्राप्त कर चुका है। विवाहिता स्त्रियां मध्याह्नोत्तर अपने मायके (मातृगृह) जाती है और वहीं पर सांध्य-भोजन करने के बाद फिर रात्रि को पतिगृह में वापस आ जाती है। प्रायः यह दैनिक कार्यक्रम है। विवाह में प्रायः दहेज ठहराने की प्रथा नहीं है। वैवाहिक विधि सम्पन्न होने में पाँच दिन लग जाते हैं। प्रथम दिन कन्या के घर पर द्वार-पूजा (आरयौनी) कराकर वर अपने घर लौट आता है। द्वारपूजा में यहाँ तोरण पर निशाना मारने की प्रथा नहीं है। दूसरे दिन विवाह होता है। सात भाँवरें दो दिनों में पड़ती है—तीन भाँवरें विवाह के दिन तथा शेष चार चतुर्थी कर्म के दिन। इसका कारण यह बताया जाता है कि मुगलों के शासन-काल में एक माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण की कन्या के विवाह अवसर पर कुछ 'मुगलों' ने विघ्न डाला। केवल तीन भावरें पड़ने पाईं थी कि युद्ध ठन गया और तीन दिनों तक जारी रहा। चौथे दिन मुगलों को परास्त कर शेष चार भाँवरें डाली गईं। क्रोधावेश में बारातियों ने मुगलों की लाशों पर बैठकर उनकी छातियों पर पत्तल बिछाकर भोजन किया। शेष चार भाँवरें चौथे दिन पड़ी। इसी घटना की स्मृति में अब भी भाँवरें दो दिनों में पूरी की जाती है और प्रवासी चतुर्वेदियों में बारातों में आटे के मुगल पसारे जाते हैं।

विवाह-लग्न के समय वर के पिता आदि उपस्थित नहीं रहते, अतएव दूसरे दिन सम्बन्धी के घर शर्बत की बारात के रूप में जाते हैं और पुरोहितों को दान-दक्षिणा देते हैं। पुरोहित इस समय विवाहकालीन शाखोच्चार को सबके समक्ष दुहराते हैं। कुछ दिनों से बारातियों की संख्या सीमित कर दी गई है। जीमने के बाद बारातीगण अपने-अपने घर वापस आ जाते हैं। स्त्रियाँ ऊँची छतों पर बैठकर वैवाहिक गीत गाती हैं। अनेक गीत उत्तान शृङ्गारिकता से परिपूर्ण होते हैं।

विवाह के दिन वर के घर पर स्त्रियों द्वारा 'बूवना' का स्वाँग किया जाता है, जिसमें कि स्त्रियाँ विविध वेशभूषा से सज्जित होकर नृत्य-गान करती हैं। इस अभिनय की दर्शिकाएँ केवल स्त्रियाँ ही होती हैं। 'बूवना' शब्द राजस्थानी भाषा का है। राजपूताने में बधू को 'बू' तथा वर को 'बना' कहते हैं।

चौबों में विविध संस्कारों के अवसर पर पेड़ा, गिदौड़ा आदि मिठाई बायने में बाँटी जाती है। ब्रह्मभोजों में पर्याप्त धन व्यय होता है। मृतक-भोज में भी सैकड़ों लोगों को दावत दी जाती है। मृतक के शोक में इनके यहाँ प्रायः एक साल तक स्त्रियाँ 'स्यापा' करती हैं। माथुर ब्राह्मणों में भङ्ग के अतिरिक्त अन्य नशीली वस्तुएँ, जैसे धूम्रपान, हुक्का, बीड़ी, सिगरेट, प्याज-लहसन आदि वर्जित हैं। इनकी वेशभूषा में प्राचीनता की छाप मिलती है।

मथुरा में आने वाले यात्रियों के पंडे चौबे लोग हैं। दर्शन-पूजन-यात्रा आदि का प्रबन्ध ये लोग करते हैं। मुगल काल से ही चौबे लोग ब्रज के बाहर अपने-अपने क्षेत्रों की लम्बी यात्राएँ करते थे। ऐसा करने से उन्हें विविध स्थानों के लोकाचारों एवं भाषाओं का अच्छा ज्ञान हो जाता था। चौबों की वाक्पटुता तथा बहुज्ञता में विदेश-यात्रा का बड़ा योग रहा है। जनता में धार्मिक प्रवृत्ति को जागृत करने और ब्रज के कुछ सांस्कृतिक स्थलों की सुरक्षा का श्रेय भी चौबों को दिया जा सकता है।

——

परिशिष्ट २

ब्रजभाषा का गद्य एवं नाट्य साहित्य

ब्रजभाषा गद्य के प्रमुख रूपों की चर्चा पीछे[1] की जा चुकी है। वार्ता, अनुवाद तथा टीका-साहित्य के रूप में ब्रजभाषा गद्य की जो रचनाएँ उपलब्ध हैं उनसे पता चलता है कि यह साहित्य कितना विशाल और समृद्ध है। वल्लभ-संप्रदाय के अब तक उपलब्ध अनेक वार्ता-ग्रंथों के अतिरिक्त हाल में इस संप्रदाय की आठवीं पीठ के साहित्यकारों का लिखा हुआ कुछ गद्य साहित्य प्राप्त हुआ है। इस पीठ के प्रथम आचार्य गो० लालजी के सेवक प्रेमदास जी द्वारा १७ वीं शताब्दी में लिखित 'लाल भक्तवर द्वादश कथा' नामक गद्य ग्रन्थ मिला है। इसकी रचना सीमाप्रांत के डेरा-गाजीखाँ जिले में हुई थी। इसकी भाषा का नमूना इस प्रकार है—

> अथ सप्तमी कथा परमानन्द सचदेव की—
> परमानन्द सचदेव उत्तर दिसा निवास करते हे।
> उनकौ एक ब्रह्मचारी के साथ मिलाप भयौ।
> उष्णकाल हुतौ। एक समै ब्रह्मचारी नै जल माँग्यौ।
> परमानन्द लै आयौ। ब्रह्मचारी नै जलपान कीयौ।

निम्बार्क सम्प्रदाय के श्री रूपरसिक जी की अप्रकाशित रचना 'लीलाविंशति' से एक उद्धरण यहाँ दिया जाता है, जो सरस-सप्राण भाषा का उदाहरण है। 'लीलाविंशति' का रचना-काल इसी ग्रन्थ में सं० १५८७ (१५३० ई०) दिया हुआ है।

और श्री यमुना जू कंकनाकार अतिसिंगार रसमय पय करि पूरि बहति हैं। नाना रंग तरंगनि करि अनेक छबिपुञ्ज छलकति हैं। अरुन, नील, श्वेत, पीत नाना रंग कमल-कुल जहां-तहां प्रफुलित हैं। तिन पर मधुप मधु-लुब्ध गुंजारतु हैं। अनेक स्वरनि सौं सारस, हंस, चक्रवाक, कारण्ड, कोकिला

---

१. देखिए पीछे, पृ० ३४६-३५६।

कोक, कीर, चकोर, चात्रक, मोर इत्यादिक नाना पच्छी युगल जू के नाम रटतु हैं स्वतन्त्र। अरु उभयतट हैं। सुरत्नबद्ध हैं। तिन पर वृच्छनि की डारें, फल फूलनि कै भारे झुकि-झुकि जलकौं परसि रही हैं, अति शोभायमान हैं। तहां की शोभा देखि दम्पति जू आप लोभायमान ह्वै रहे हैं।

साधारण लौकिक कथाओं में कुछ की भाषा सरल और चलती हुई मिलती है। सं० १७०० के लगभग श्री अक्षर अनन्य द्वारा रचित 'कोक कथा' ग्रन्थ से एक उदाहरण यहां दिया जाता है—

जोगिनी की बिदा देस कों करि कोकदेव अपने सरीर की साधना करन लगे। कंचन की कोठरी बनाई तहां सेज सम्हारी। सब साफर्न सेज की धरीं। पान, फूल, अगर, कुमकुम, केसर, कस्तूरी अरु जे सुगन्ध के सामान हते सब धराये अरु अपनी पोसाख हती सो सब पहिरी। माथे में सोने की सिंगी राखी।

ब्रजभाषा गद्य में अनुवादों और टीकाओं की एक दीर्घ परम्परा मिलती है। अधिकांश रचनाओं का मुख्य उद्देश्य संस्कृत में लिखे हुए धार्मिक ग्रन्थों को जनसाधारण के समझने योग्य बनाना था। वैदिक ग्रन्थों, ब्रह्मसूत्र आदि दार्शनिक ग्रन्थों तथा भागवतादि पुराणों के अनुवाद और उन पर लिखी टीकाएं उपलब्ध हैं। विभिन्न आचार्यों तथा अन्य महानुभावों द्वारा संस्कृत साहित्य में जो रचनाएं की गईं उनके भाषानुवाद और टीकाएं व्यापक प्रचार की दृष्टि से निर्मित की गईं। यहाँ गोसाईं विट्ठलनाथ जी द्वारा अनूदित 'नवरत्न' ग्रन्थ से कुछ अंश दिया जाता है—

तहाँ प्रथम श्रीकृष्ण भगवान कलजुग में अधर्म विशेष प्रवर्त भयौ देखिकें धर्म के स्थापिबे कों आप श्रीकृष्ण रूप पूरण प्रगट होत भये। सो धर्म की स्थापना करि पीछे कलि के जीवन कों मोक्ष के अधिकार तें हीन देखिकें भक्ति मार्ग प्रकट करि जो वा समै भक्त हुते तिनकों उद्धार करि पृथ्वी कों भार उतारि आप बैकुण्ठ कों पधारत भये।

धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य संस्कृत साहित्य पर भी गद्य में टीकाएँ लिखी गईं। भर्तृहरि के प्रसिद्ध 'शृंगार-शतक' की टीका सं० १६८३ (१६२७ ई०) में किशोरदास द्वारा की गई। उसका कुछ अंश यहां उद्धृत किया जा रहा है, जो टीका की 'कथंभूतं' शैली का उदाहरण है—

अब भर्तृहरि स्त्रीहि नदी करि वर्णत हैं। अरे लोग हौ। ससारार्णव-मज्जनं यदि नापेक्ष्यते। संसार समुद्र विषे जौ तुम बूड्यौ नाहीं चाहत तौ। इयं कांताकारधरा नदी। कांता जु है स्त्री सोई जु भई नदीसु। दूरेण संत्यज्यतां। दूरहीतें छांड़िजौ। यह स्त्री रूप नदी कैसी है। वक्र जु मुषु सोई है अंबुज तिहिं करि उदभासिनी। अति ही विराजति है। बहुरि कैसी है यह स्त्री रूप नदी। अभितः क्रूरा च। सब ही प्रकार अति क्रूर है। क्रूर कहावै भयानक। तातें जो संसार समुद्र मध्य बूड्यो न चाहिजै तौ ऐसी स्त्री रूप नदीहि लगते न जजै।

ब्रजभाषा गद्य में कुछ ऐसी भी रचनाएँ उपलब्ध हैं जिन्हें स्वतन्त्र निबंध शैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए राधावल्लभीय सम्प्रदाय के अनन्य अलीजी का 'पन्द्रह स्वप्न' और चाचा वृन्दावनदास जी का 'चालीस स्वप्न' नामक ग्रंथ लिए जा सकते हैं। इनका रचनाकाल अठाहरवीं शती माना जाता है। अनन्य अलीजी के ग्रंथ की सरल-सजीव भाषा का उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

सपने भले बुरे भांति भांति अनेक भये, तिनकें जो जो कछु सुध रहे सो लिखत हौं।

(स्वप्न)

एक दिन श्री कुंज सेवा मैं सखीन के जूथ देखे। तीन भांति के। केतिक सखी गोरी गोरी, केतिक पक्के रंग की, केतिक सांवरी.... तिनके रूप कहा कहौं। अति विशाल मंजुल नैनी, मुखनि की झलकनि कोटि-कोटि चन्द मन्द होत हैं। और नासिका में बड़े-बड़े मोतीन की नथ तरलित है। पक्के रंग की सखीन कौ जूथ मेरें पास आयौ।

एक अन्य उदाहरण है श्री राधावल्लभीय सम्प्रदाय के श्री चतुर्भुजदास जी कृत 'द्वादश यश' ग्रंथ का। इसका रचनाकाल सं० १६४० से १६८० के मध्य है। यह ग्रंथ पद्य-गद्य शैली में लिखा गया है। दोहा-चौपाई आदि छंदों के बीच गद्य का सफल प्रयोग किया गया है। गद्य सरल और स्पष्ट है। यथा—

जौ लगि ससार सों, माया सों तथा देह सों विरक्ति न उपजै तौ लगि गोविंद हृदै में न आवै। जब झूठे करि जानै तब प्रीति करै, ता अर्थ हितोपदेश यश. कोउ हीन जाति अथवा पातकी डराइ कि हम गोविंद कैसे भजहिं। ताके केवल प्रेम प्रधान, कोउ भजौ।

श्री अक्षर अनन्य का 'अष्टांग योग' ग्रंथ भी एक स्वतत्र विचार-ग्रंथ है। इसका कुछ अंश ही टीका के अंतर्गत आता है, जिसमें रामायण, महाभारत, रामचंद्रिका आदि के विषय में लिखा गया है। शेषांश में योग और दर्शन की विवेचना है। दर्शन-जैसे गम्भीर विषय का विवेचन ब्रजभाषा के माध्यम से सरलतम रीति से किया गया है।

नाट्य साहित्य

ब्रज के नाट्य साहित्य में रासलीला का महत्वपूर्ण स्थान हैं। रास की लीलाएं भागवत आदि पुराणों के आधार पर मध्यकालीन संतों द्वारा ब्रजभाषा में लिपिबद्ध की गईं। इनमें संगीत तथा पद्य की प्रमुखता है, पर इनके कथनोपथन गद्य में मिलते हैं। रास में लीला का आरम्भ करने के पहले सखियाँ प्रिया-प्रियतम (राधाकृष्ण) से इस प्रकार प्रार्थना करती हैं--

"हे श्री प्रिया प्रीतमजी, आपके नित्यरास कौ समय है गयौ है, सा आप कृपा करकें रासमण्डल में पधारौ।"

श्रीकृष्ण—"हे श्री किशोरीजी आप कृपा करकें रासमण्डल में पधारौ।"
किशोरीजी—"अच्छौ प्यारे।"

चाचा वृंदावनदास द्वारा लिपिबद्ध 'दुलरो लीला' में कथनोपकथन का एक अंश इस प्रकार है—

सखी वचन श्री लाड़िली जू सों—"हे प्यारी जू खेलबे कों पधारौ"।
श्री लाड़ली जू—"अरी सखी कहां खेलबे चलौगी?"
सखी—"हे प्यारी जू, आजु तौ संकेतबट खेलिबे चलौ।"

रास का कितना ही ऐसा साहित्य मंडलियों में मिलता है जो अभी तक लिपिबद्ध नहीं हुआ। रासलीलाओं के अतिरिक्त ब्रजभाषा में अनेक नाटक-ग्रंथों का प्रणयन हुआ। सबसे पहला नाटक 'समय सार' कहा जाता है, जिसकी रचना जैन विद्वान् बनारसीदास के द्वारा सम्वत् १६६० (१६०३ ई०) में की गई। परंतु इसे नाटक के स्थान पर संसारी जीव की लोकलीला का दिग्दर्शक काव्य मानना अधिक उपयुक्त होगा।

इसके बाद हृदयराम, मनजू कवि तथा राम कवि ने अपने-अपने ढंग से 'हनुमान नाटक' लिखे। हृदयराम के इस ग्रंथ का रचना-काल सं० १६८० (१६२३ ई०) और राम कवि का सं० १७०३ (१६४६ ई०) है। जोधपुर महाराज जसवतसिंह ने सं० १६९५ (१६३८ ई०) में संस्कृत के नाटक 'प्रबोध चंद्रोदय' का ब्रजभाषा में अनुवाद किया। इस संस्कृत नाटक का अनुवाद ब्रजवासीदास द्वितीय ने भी सं० १८२७ (१७७० ई०) में तथा आनंद कवि (समय अज्ञात) ने भी किया। सं० १७३७ (१६८०ई०) में निवाज कवि ने महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का ब्रजभाषा में अनुवाद किया। गणेश कवि ने सं०१७५७ (१७००ई०) में 'प्रद्युम्न नाटक', महाराज विश्वनाथसिंह ने सं०१७७८(१७२१ई०) में 'आनंद रघुनंदन' नाटक, कवि इच्छाराम ने संवत् १७८० (१७२३ ई०) में 'गंगा नाटक' और देव कवि ने सं० १७३० (१६७३ ई०) में 'देव माया प्रपंच' नामक नाटक का प्रणयन किया इन नाटकों में ब्रजभाषा गद्य के विवध रूप मिलते हैं। कुछ अन्य

नाट्यकारों के भी नाम मिलते हैं, परन्तु उनके समय का निश्चय नहीं है। इनमें 'सभासार' के लेखक राम नागर, 'सखीसमाज' नाटक के लेखक कीर्ति केशव आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।[1]

आधुनिक काल में भारतेन्दु जी के पिता श्री गिरिधरदास जी ने 'नहुष-नाटक' ब्रजभाषा में लिखा। इस नाटक का एक अङ्क 'कवि-वचन सुधा' (वर्ष १, अङ्क १) में छपा था। इसका रचना-काल संवत् १८९८ (१८४१ ई०) माना जाता है। संस्कृत भाषा की नाट्य-रचना शैली से यह नाटक प्रभावित है और इसमें संस्कृत-शब्दों का बहुल प्रयोग मिलता है।

इसके गद्य में कोमलकांत पदावली तथा अनुप्रास की छटा दर्शनीय है। उदाहरण—

(नाद्यन्ते सूत्रधारः)

सूत्र०—सब कोउ मौन ह्वै हमारी बात सुनों। विविध बिबुध बृंदारक वृंद-बंदित, वृन्दाबन-बल्लभ, ब्रज-बनिता-बिभाकर, बंसीधर-बिधु-वदन-चकोर, चारु चतुर-चूरामनि-चरचित चरन, परमहंस प्रसंसित, मायाबाद-विध्वंसकर, श्रीमद् बल्लभाचार्यबस-अवतंस श्री गिरिधर जी महाराजाधिराज ने मोकों आज्ञा दीनी है, सो मैं गिरिधरदास कृत 'नहुष-नाटक' प्रारंभ करों हों।

(तब आगे बढ़ि हाथ जोरि कें)

इहां सब सुभ सभ्य सभाध्यच्छ अपने अपने पच्छन के रच्छन में परम विलच्छन दच्छ हैं, इनके समच्छ इह ढिठाई है। तथापि कृपा करि सब सुनों।

स्वयं भारतेंदु जी ने 'श्रीचंद्रावलि' नाटिका लिखी। पद्य-गद्य शैली होने पर भी इसमें गद्य की अधिकता है। इसका ब्रजभाषा गद्य 'नहुष-नाटक' में प्रयुक्त गद्य की अपेक्षा अधिक सरल और स्वाभाविक है। ब्रज के ठेठ शब्दों का प्रयोग अत्यंत सुंदर है। एक अंश देखिए-

---

१. द्रष्टव्य—श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी का निबन्ध 'ब्रजभाषा और उसका साहित्य', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सं० २०१४, पृ० १४-१५।

संध्या०—राम राम ! मैं तौ दौरत-दौरत हार गई। या ब्रज की गऊ का हैं, साँड़ हैं। कैसी एक साथ पूँछ उठाय कै मेरे संग दौरी है, तापै वा निपूते सुबल को बुरो होय, और हू तूमड़ी बजाय कै मेरी ओर उन सबन को लहकाय दीनो। अरे जो मैं एक संग प्रान छोड़िकै न भाजती तौ रपट्टा में कबकी आय जाती। देखि आज वा सुबल की कौन गति कराऊं। बड़ो ढीठ भयो है। प्रानन की हाँसी कौन काम की। देखौ तौ आज सोमवार है। नन्दगांव में हाट लगी होयगी, मैं वहीं जाती। इन सबन के बीच ही आय धरी।

ब्रजभाषामें अनेक कोशग्रन्थ भी प्राप्त हैं। अधिकांश तो संस्कृत के 'अमर कोश' तथा अन्य प्राचीन कोशों के अनुवाद मात्र हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी मिले हैं जिनकी रचना बहुत-कुछ स्वतन्त्र रूप में हुई। ब्रज भाषा के मुख्य कोश-ग्रन्थ ये हैं—नंददास (अष्टछाप) के 'अनेकार्थ' और 'नाम मंजरी', फीखनजन (फतेपुर, मारवाड़) (सं० १६८५) का 'भारती–नाम–माला', शिरोमणि मिश्र (सं० १७००) का 'भाषा शब्द सिंधु', हरजू मिश्र (सं० १७९२) का अमरकोश (अनुवाद), भिखारीदास (सं० १७९५) का 'नाम-प्रकाश' (अमरकोशका अनुवाद) तथा खंडन कवि (सं०१८१५) का 'नाम प्रकाश'। इन ग्रन्थों से भी ब्रज भाषा गद्य के प्राचीन स्वरूप पर थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ता है।

आधुनिक समय में ब्रज भाषा-गद्य में लिखने वालों की संख्या बहुत कम है। वर्तमान परिस्थितियों में भी सर्वश्री बाबा कन्हैयादास, आदर्शकुमारी यशपाल, शिवचरणलाल पालीवाल, रामनारायण अग्रवाल, शत्रुघ्नदत्त दुबे, बलदेवलाल गोस्वामी, कल्याणप्रसाद शर्मा, रामजीलाल बंसल आदि अनेक लेखक ब्रज भाषा गद्य में नाट्य-रूपक, कथा-साहित्य आदि का निर्माण कर रहे हैं। कुछ रचनाएं सर्वथा मौलिक ढङ्ग की होती हैं। आकाश-वाणी के दिल्ली केंद्र से यदा-कदा ब्रज भाषा के सुन्दर रूपक प्रसारित होते रहते हैं।

——

सहायक ग्रंथ-सूची

(१) संस्कृत-प्राकृत के मूल ग्रंथ

ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद; शतपथ, ऐतरेय, गोपथ, ताण्ड्य तथा जैमिनीय ब्राह्मण; शांखायन एवं तैत्तिरीय आरण्यक; छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद।

हरिवंश, विष्णु, ब्रह्म, वायु, भागवत, मत्स्य, वराह, पद्म, अग्नि, देवीभागवत, लिंग तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण।

वाल्मीकीय रामायण (बम्बई संस्करण), महाभारत (भंडारकर-संस्थान, पूना संस्करण), कौटिलीय अर्थशास्त्र, मनुस्मृति (मेधातिथि की टीका सहित), पाणिनीय अष्टाध्यायी, महाभाष्य तथा काशिका।

बौद्ध जातक ग्रन्थ (कावेल तथा फौसबाल कृत), अंगुत्तर निकाय, दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, दिव्यावदान, महावस्तु, पेतवत्थु, महावंश, दीपवंश, ललितविस्तर तथा धम्मपद।

जैन भगवती सूत्र, प्रबंधचिन्तामणि, कंसवहो काव्य, संदेशरासक, परमात्म-प्रकाश, योगसार, विविध तीर्थकल्प, पउमचरिउ, पाहुड दोहा, सावयधम्म दोहा, प्रबन्ध कोश तथा देशीनाममाला।

कालिदास ग्रन्थावली (अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, सं० २००१)।

राजशेखर कृत काव्यमीमांसा, (बड़ौदा संस्करण, १९३४ ई०) तथा कर्पूरमंजरी।

राजतरंगिणी (स्टाइन का संस्करण)।

बृहद् ब्रह्मसंहिता, नारद पंचरात्र, राधातन्त्र, ब्रह्मसूत्र, उज्ज्वलनीलमणि तथा आनन्दवृन्दावन चम्पू।

नाट्यशास्त्र, दशरूपक, काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन, साहित्य दर्पण, काव्यादर्श, काव्यालंकार, वाग्भटालंकार, सिद्ध हेमचंद्र, प्राकृतानुशासन, प्राकृत व्याकरण।

(२) हिन्दीके ग्रंथ

शिवसिंह सेंगर—शिवसिंह सरोज, लखनऊ, १८८३ ई०।
मिश्रबन्धु—मिश्रबंधु विनोद, प्रथम भाग, (पंचम संस्करण, लखनऊ २०१३ वि०) तृतीय भाग, स० १९८५।
रामचन्द्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, काशी, संवत् २००५।
हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य की भूमिका।
" " हिंदी साहित्य का आदिकाल, पटना, सं० २००६
" " हिंदी साहित्य।
रामकुमार वर्मा—हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।
सत्येंद्र— ब्रज लोक संस्कृति, मथुरा, संवत् २००५।
" ब्रज की लोक कहानियां, मथुरा, संवत् २००४।
" ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, आगरा, १९४९।
कृष्णदत्त वाजपेयी—मथुरा परिचय, मथुरा, सवत् २००७।
" " ब्रज का इतिहास, प्रथम खंड, संवत् २०१०।
डा० मुंशीराम शर्मा—भारतीय साधना और सूर साहित्य।
रामचन्द्र शुक्ल—सूरदास।
डा० हरवंशलाल शर्मा—सूर और उनका साहित्य।
डा० दीनदयालु गुप्त—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय।
नन्ददुलारे वाजपेयी—सूर सागर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
प्रभुदयाल मीतल—अष्टछाप परिचय, मथुरा, सम्वत् २००६।
" " ब्रजभाषा साहित्य का नायिकाभेद, संवत् २००५।
" " ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु सौंदर्य, सं० २००७।
वासुदेवशरण अग्रवाल (संपा०)—पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ, मथुरा, २०१०

प्रभुदयाल मीतल तथा द्वारकादास परीख—सूर निर्णय, सम्वत् २००६ ।
किशोरीशरण अलि—साहित्य रत्नावली, वृन्दावन, सं० २००७ ।
बिहारी शरण—निम्बार्क माधुरी, वृन्दावन, स० १९९७ ।
श्री वियोगीहरि—ब्रज माधुरीसार ।
वासुदेव गोस्वामी—भक्त कवि व्यासजी, मथुरा, सं० २००९ ।
ध्रुवदास—भक्त नामावली ।
नाभादास—भक्तमाल ।
बलदेव उपाध्याय—भागवत सम्प्रदाय, काशी, सं० २०१० ।
बाबा कृष्णदास—रासलीलानुकरण और श्रीनारायण भट्ट ।
शशिभूषण दासगुप्त—राधा का क्रम विकास, बनारस, १९५६ ।
कविराज कृष्णदास—चैतन्य चरितामृत ।
रत्नकुमारी—सोलहवीं शती के हिंदी और बंगाली वैष्णव कवि १९५६
गौरीशंकर हीराचन्द ओझा—उदयपुर राज्य का इतिहास ।
रामनरेश त्रिपाठी—कविता कौमुदी, भाग १, प्रयाग, १९४६ ।
नगेन्द्र—रीति काव्य की भूमिका, दिल्ली, १९५३ ई० ।
भगीरथ मिश्र—हिंदी रीति साहित्य ।
विजयेंद्र स्नातक—राधावल्लभ सम्प्रदाय, दिल्ली, सं० २०१४ ।
सुनीतिकुमार चटर्जी—राजस्थानी भाषा ।
बाबूराम सक्सेना—सामान्य भाषा विज्ञान ।
राहुल सांस्कृत्यायन—हिंदी काव्य धारा, प्रयाग, १९४५ ई० ।
चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—निबंध रत्नावली ।
मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य उदयपुर १९५३ ।
धीरेंद्र वर्मा—ब्रजभाषा, प्रयाग, सम्वत् २०११ ।
किशोरीदास वाजपेयी—ब्रजभाषा का व्याकरण, कनखल, सं० २०००
बाकर आगाह—मद्रास में उर्दू, हैदराबाद, १९३८ ।
भरतसिंह उपाध्याय—पालि साहित्य का इतिहास ।

हरिहर निवास द्विवेदी—मानसिंह और मानकुतूहल ।
सरजूप्रसाद अग्रवाल—प्राकृत विमर्श ।
हरिवंश कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, दिल्ली, सं० १०१३ ।
मुंशी देवीप्रसाद—कवि रत्नमाला ।
परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त-परंपरा, प्रयाग, सं० २००८
कृष्णानन्द गुप्त—बुंदेलखंड की ग्राम कहानियां ।

३) अंग्रेजी के ग्रंथ

ए० कनिंघम—आर्केओलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, भाग १, ३, १७ तथा २० ।
एफ० एस० ग्राउस—मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर, द्वि० सं०,इलाहाबाद १८८० ई०, ।
ए० फ्यूहरर—दि मानुमेंटल ऐंटिक्विटीज़ इन दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐंड अवध, इलाहाबाद, १८९१ ई० ।
वी० ए० स्मिथ—दि जैन स्तूप ऐंड अदर ऐंटिक्विटीज़ आफ मथुरा, इलाहाबाद, १९०१ ई० ।
रामप्रसाद चन्दा—आर्केओलाजी ऐंड वैष्णव ट्रेडीशन, मेम्आयर सं० ५, आर्केओलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, १९०२ ।
जे० पी० एच० फोगल—कैटलाग आफ आर्केओलाजिकल म्यूजियम, ऐट मथुरा, इलाहाबाद, १९१० ।
वासुदेव शरण अग्रवाल—हैंडबुक आफ दि स्कल्प्चर्स इन दि कर्जन म्यूजियम, मथुरा, इलाहाबाद, १९३९ ।
आनन्द के० कुमारस्वामी—हिस्ट्री आफ इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, लंदन, १९२७ ।
„ „ „ यक्षज (दो भागों में), वाशिंग्टन, १९२८ तथा १९३१ ।

जितेन्द्रनाथ बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिंदू आइकोनोग्राफी, द्वितीय सं०, कलकत्ता, १९५६ ।

कनिंघम—क्वायंस आफ ऐंश्यंट इण्डिया, लंदन. १८९१ ।

जे० ऐलन—क्वायंस आफ ऐंश्यट इण्डिया, लंदन, १९३६ ।

आर० बी० ह्वाइटहेड—कैटलॉग आफ क्वायंस इन द पंजाब म्यूजियम लाहौर, आक्सफोर्ड, १९१४ ई० ।

जे० एलन—कैटलॉग ऑफ क्वायस आफ गुप्त डाइनेस्टी, लंदन, १९१४ ।

स्टेन कोनो—खरोष्ठी इंसक्रिप्शन्स, कलकत्ता, १९२९ ई० ।

दिनेशचन्द्र सरकार–सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, कलकत्ता ।

बी० बाल—ट्रैवेल्स इन इण्डिया बाइ जीन बैप्टिस्ट्स टैवर्नियर इन १६७६, लंदन, १८८५ ।

आर० एस० व्हाइटवे—रिपोर्ट आन दि सेटेलमेंट आफ मथुरा डिस्ट्रिक्ट, इलाहाबाद, १८७९ ।

डी०एल० ड्रेक ब्लाकमैन—डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ मथुरा, इलाहाबाद, कलकत्ता १९११ ।

बा० ज्वालाप्रसाद—हिस्ट्री आफ भरतपुर, लाहौर, १८९६ ।

" " —डीग, हिस्ट्री एंड पैलेसेज़, लाहौर, १९०२ ।

एस० एन० मजूमदार—मैक् क्रिंडल्स ऐंश्यंट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई टालेमी, कलकत्ता, १९०६ ।

मैक् क्रिंडल—ऐंश्यट इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड इन क्लासीकल लिटरेचर, कलकत्ता १९०१ ।

" " ऐंश्यट इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाई मेगास्थनीज़ एण्ड एरियन, कलकत्ता, १९०६ ।

नन्दलाल डे—जिओग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐंश्यंट ऐण्ड मेडीवल इण्डिया, लंदन, १९२७ ।

ईलियट और डाउसन—हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स हिस्टोरियंस, भाग १-३, पेरिस, १८६१ ।

जे० लेग—फ़ाह्यांस ट्रैवेल्स, आक्सफोर्ड, १८८६ ।

एस० बील—ट्रैवेल्स आफ फाह्यान ।

" "—बुधिस्ट रिकर्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, लंदन ।

वाटर्स—आन ह्वेन्त्सांग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, २ भाग, लंदन, १९०४ ।

ई० सी० साचौ—अलबेरुनीज़ इण्डिया, लंदन, १९१४ ।

एफ़० डब्ल्यु० पार्जिटर—ऐंश्यट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन लंदन, १९२२ ।

" " " —दि पुराण टेक्स्ट्स आफ दि डाइनेस्टीज़ आफ कलि एज, आक्सफोर्ड, १९१३ ।

एच० सी० राय० चौधरी—पालिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंश्यंट इंडिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता १९३८ ।

" " —अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट, १९३६ ।

विमलचरन लाहा—सम क्षत्रिय ट्राइब्स आफ ऐंश्यंट इंडिया, कलकत्ता, १९२४ ।

रमाशंकर त्रिपाठी—हिस्ट्री आफ ऐंश्यंट इंडिया, बनारस, १९४२ ।

मजूमदार और अल्तेकर—ए न्यू हिस्ट्री आफ इंडियन पीपुल, (भाग ६), लाहौर, १९४६ ।

जदुनाथ सरकार—फाल आफ दि मुगल इम्पायर, कलकत्ता, १९४६, ।

जार्ज ग्रियर्सन—दि मार्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान, कलकत्ता, १८७९ ।

" " —लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया ।

काशीप्रसाद जायसवाल—हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०–३५० ई०) लाहौर, १९३३ ई० ।

के० एम० मुन्शी—दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या-भवन, बम्बई, १९५१ ई०।
रामकृष्ण भंडारकर—वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड अदर माइनर सिस्टम्स, पूना, १९०८।
पीतांबरदत्त बड़थ्वाल—दि निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोएट्री।
ए० ए० मैक्डानल तथा ए० बी० कीथ—वेदिक इण्डेक्स आफ नेम्स ऐंड सब्जेक्ट्स (दो भागों में), लंदन १९१२।
डब्ल्यु० क्रुक—ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आफ नार्थ वेस्ट प्राविंसेज ऐण्ड अवध, कलकत्ता, १८९६।
ईलियट—रेसेज आफ नार्थ वेस्ट प्राविंसेज ऐण्ड अवध।
लैसन—रिसर्चेज इंटू दि फिजिकल हिस्ट्री आफ मैनकाइंड।
वासुदेवशरण अग्रवाल—इन्डिया ऐज नोन टु पाणिनि (लखनऊ, १९५३ ई०)।
के० एम० मुन्शी—ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देश।
जी० रैंकिंग—मुंतखबुत्तवारीख ऑफ अल-बदाऊँनी (कलकत्ता, १८४५)
जान ब्रिग्स—हिस्ट्री आफ दि राइज आफ मोहैमडेन पावर इन इंडिया, कलकत्ता, १९०८।
एस० के० डे०—अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव फेथ ऐण्ड मूवमैंट इन बङ्गाल।
क्षितिमोहन सेन—मेडीवल मिस्टीसिज्म आफ इंडिया।
सुनीतिकुमार चटर्जी—इंडोएरियन ऐंड हिन्दी, अहमदाबाद १९४२।
जियाउद्दीन—ग्रामर आफ दि ब्रजभाखा, कलकत्ता, १९३५ ई०।
दिनेशचंद्र सेन—बङ्गाली लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर।
तदपत्रिकर—कृष्ण प्राबलम।
भगवतकुमार गोस्वामी—भक्ति कल्ट इन ऐंश्यंट इंडिया, कलकत्ता १९२०
डी० सी० सेन—वैष्णव लिटरेचर आफ मेडीवेल बङ्गाल, १९१७।
जदुनाथ सरकार—चैतन्य, कलकत्ता, १९११।

पत्र-पत्रिकाएँ

एपिग्राफिया इंडिका, इंडियन ऐंटिक्वेरी, एशियाटिक रिसर्चेज, इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, इंडियन कल्चर, एपिग्राफिया इंडो-मोस्लेमिका ।

जर्नल ग्राफ दि रायल एशियटिक सोसाइटी, लंदन, बङ्गाल तथा बम्बई ।

,, ,, यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, लखनऊ ।

,, ,, बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना ।

ग्रार्केग्रोलाजिकल सर्वे ग्राफ इडिया रिपोर्ट ।

ऐनुग्रल बिब्लिग्रोग्राफी ग्राफ इडियन ग्रार्केग्रोलाजी, लाइडन, हालैंड ।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सम्मेलन पत्रिका, ब्रज भारती, वल्लभीय सुधा, भारतीय साहित्य, विश्व भारती, ग्रजंता, प्रतीक, हंस, भारती, कल्पना, कल्याण, तथा नई धारा ।

गजेटियर—इम्पीरियल गजेटियर ग्रंथमाला, प्रांतीय गजेटियर (मथुरा ग्रागरा, ग्रलीगढ़, एटा, ग्रादि जिले) तथा सैंसस रिपोर्टें ।
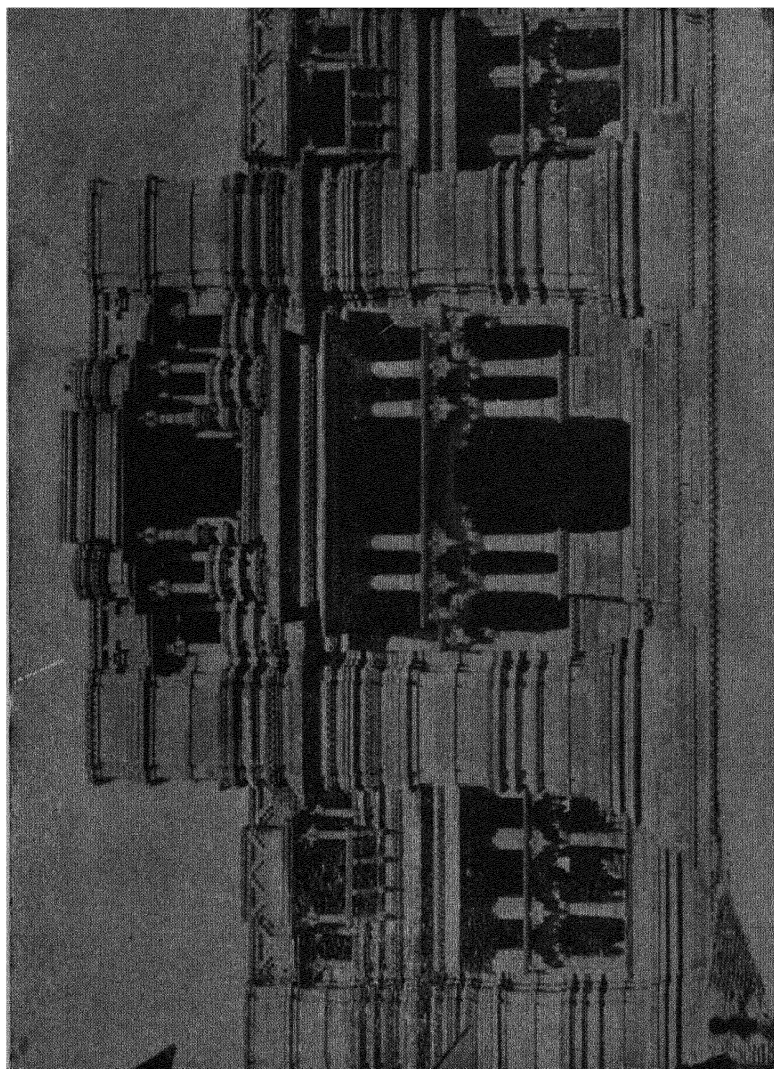
(क) रामक जातक की कथा सहित आश्रम का दृश्य; शुंग काल
(आइ० ४; पृ० ९०)
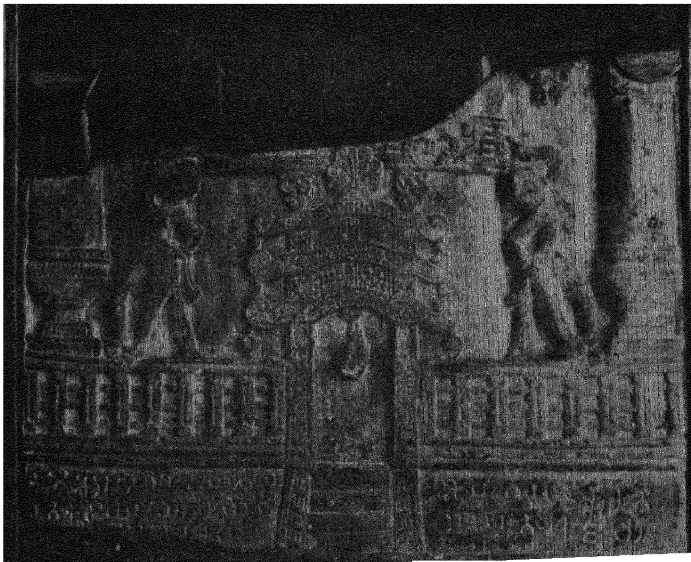
(ख) जैन आयागपट्ट, जिस पर अलंकृत तोरणद्वार बना है।
ई० पूर्व प्रथम शती; लखनऊ संग्रहालय (जे० २५५, पृ० ८८)

बोधिवृक्ष के नीचे अभयमुद्रा में स्थित बुद्ध की सर्वाङ्गपूर्ण अभिलिखित मूर्ति; कुषाणकाल (ए० १; पृ० ८६)
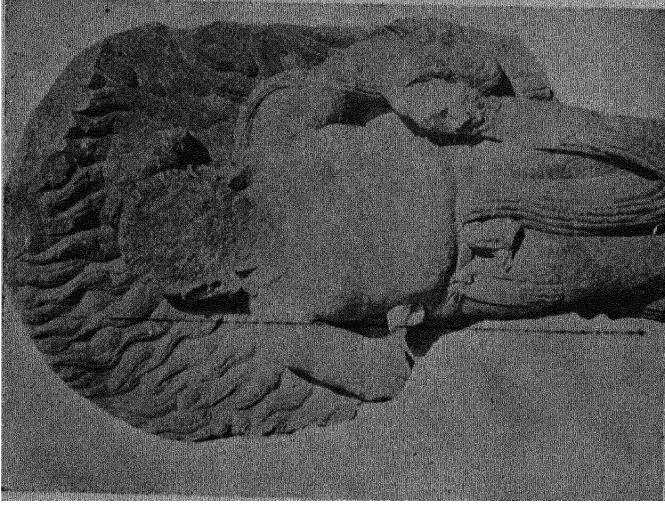
(क) अग्नि की मूर्ति; गुप्तकाल; लखनऊ संग्रहालय
(जे० १२३; पृ० ८५)

(ख) अर्द्धनारीश्वर; कुषाणकाल
(सं० ७७२ ; पृ० ८३)

(क) धन की थैली तथा सुरापात्र लिए हुए कुबेर; कुषाण काल (पृ० ६२)

(ख) चँवर लिए हुए अनुचर; कुषाण काल (पृ० ६५)

(क) सिरदल पर उत्कीर्ण मिथुन-प्रतिमाएँ (सं० ४४४८: पृ० ६०)
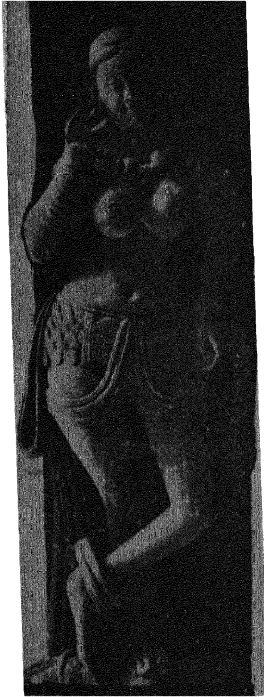
(ख) वादकास्तम्भ पर आकर्षक मुद्रा में खड़ी स्त्री (पृ० ६१)

(ग) कुषाणकालीन स्तम्भ, जिस पर मंगलघट से निकलती हुई कमल की बेल दिखाई गई है (सं० ४४४७; पृ० ६७)

(क) मातृदेवी की मिट्टी की मूर्तियाँ; मौर्य काल
(पृ० ९५)

(ख) ईरानी वेशभूषा वाला पुरुष; शुंगकाल की मृण्मूर्ति
(सं० ४२७१; पृ० ९५)

फलक ८
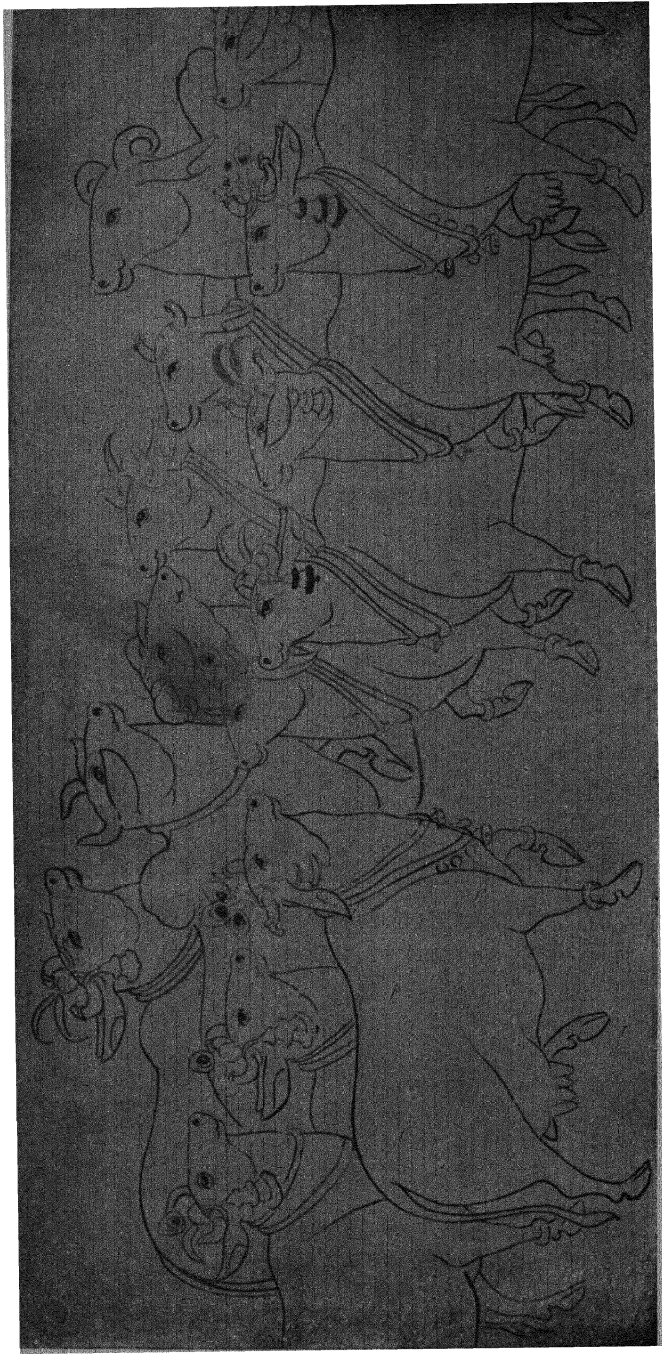
ब्रज का गोधन (ब्रज के प्रसिद्ध चित्रकार श्री जगन्नाथ अहिवासी की कलाकृति)

नामानुक्रमणिका

झ

ट

ध

फ

भ

म

श

ह

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	अंतिम	नलिनाथ	नलिनाक्ष
१०	१०	प्रचार किया	प्रचार किया ।३
”	२२	उपगुक्त	उपगुप्त
१३	६	त्रिपि-टक	त्रिपिटक
१६	२	जंवू	जंबू
१६	६	विशे	विशेष
१९	७	जन	जैन
२०	”	शंग	शुंग
२६	१	चंद्रगुत	चंद्रगुप्त
२७	८	गोवधन	गोवर्द्धन
८३	३	७२२	७७२
८३	१७	राजलक्ष्मो	गजलक्ष्मी
१००	अंतिम	मारफतुन्नजमात	मारिफुन्नगमात
१०३	१	ब्रज की तान...लावनी	ब्रज की तान
११३	२६	५	६
११९	११	हृरिवंश	हरिवंश
१२५	अंतिम	पुखरई	मुखराई
१२७	”	ढँड़िन	ढाँड़िन
१३१	१९	निकली हैं ।	निकली हैं ।३
१३१	२४	Btahman	Brahman
१३२	२७	शूसेनका:	शूरसेनका:
१३६	१३	स्नोत	स्रोत
१४१	२३	परमार्थं	परमार्थ
१६६	अंतिम	पृ०	पृ०
१७३	२७	मरानि	मशीन
१९९	१५	लक्ष्मोगणि	लक्ष्मणगणि
१९९	१५	सुपासणा	सुपासणाह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२०	२५	वारकरजी	वारकरीज
२३९	५	भगवानदाससहित	भगवानदास
,,	५	हरिराम	हरिराय
२४०	१५	१६०७	१७०७
२४४	२२	बह्म	ब्रह्म
२४६	१५-२२	माधवेन्द्रपुरी केशवभट्ट कृष्णदासब्रह्मचारी	सुबलश्याम, मनोहरदास, माधुरीजी, रसिकमोहन तथा प्रियतमलाल
२६०	२३	अलग भी चली	विस्तार से चली
२६१	२०-२१	इनका सं०...मिला है	कुछ विद्वान् इसे ग्रंथ का प्रतिलिपि-काल मानते हैं।
२६३	२०		चौथा ग्रंथ 'लीलाविंशति' हाल में मिला है
२६४	८	सोदयं	सौन्दर्य
२६६	२२	परशुदामदेवजी	परशुरामदेवजी
२६७	७	विद्यादान	रहस्य–विद्यादान
२६७	१७	युगल	सुगल
२७०	२३	हरिदासी शाखा	हरिदासी संप्रदाय
२७०	२५	शाखा हरिदासी है।	शाखा हरिदासी कही जाती है, जो विवादास्पद है।
२७५	२०	निम्बार्क संप्रदाय	निम्बार्क तथा हरिदासी संप्रदाय
२७६	१३	वृन्दावन अली	वृन्दाअली
२७८	१२	१५३०	१५५९
२७८	१७	पाठ	प्रणयन
२८२	२०	दा	दो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८५	१६	१६४०	१७४०
२८६	२२	बछवन	बच्छवन
२६५	२७		नरोत्तमदास के बाद आलम
२६६	२	मुबारिक	मुबारक
३२१	१	छत्रसाल-दर्शक	छत्रसाल-दशक
३२१	२	तीन ग्रन्थ	तीन संग्रह-ग्रन्थ
३२३	४	ये इटावा के…… ब्राह्मण थे।	अब इनका जन्म-स्थान मैनपुरी जिले का कुसुमरा माना जाने लगा है। और कुछ लोग इन्हें घोस-रिया कान्य कुब्ज ब्राह्मण मानते हैं।
३३०	२३	'नागर-सर्वस्व'	'नागर समुच्चय'
३३५	१	प्रीमत	प्रीतम
"	४	गुहृथ	सुहृथ
"	१६	f निंबार्क)	(निंबार्क)
"	२२	रूप में हैं। प्रेम मथा	रूप में हैं, प्रेम तथा
"	२६	प्रौद	और
३५१	१२-१३	मनोथ	मनोरथ
४३५	अंतिम	होता। है	होता है।
४४३	२१	ग्रीतों	गीतों
४८६	२१	दर्शन	दर्शन
४६२	२४	कुंज	कुंज
४६३	२०	गद्य में मिलते हैं।	गद्य में भी मिलते हैं
५००	३	१०१३	२०१३
"	१०	ग्राडस	ग्राउज
"	१६	भेम्बायर	मेम्वायर